CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेघदूतम्

महाकविकालिदासविरचितम्

उत्तर-मेघः

3657

लाल रमायदुपाल सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेघदूतम्

(उत्तर मेघः)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाकविकालिदासविरचितम्

मेघदूतम्

[उत्तरमेघः]

श्रीवल्लभदेवप्रणीतपञ्चिकाश्रीभरतमल्लिककृतसुबोधासमन्वितम्

विस्तृतहिन्दीव्याख्या एवं रचनाकालविवेचन
साहित्याचार्य डा० लाल रमायदुपाल सिंह
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० फ़िल०
साहित्यरत्न

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
3657
पुस्तक क्रम संख्या
25/6/60
State Museum Library, Lucknow

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

891.202
ह म

3651

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद–१

प्रथम संस्करण
अप्रैल १९६५

कापीराइट
लोकभारती प्रकाशन

सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

सामान्य संस्करण : नौ रुपये
विद्यार्थी संस्करण : साढ़े सात रुपये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूज्य गुरुवर प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर

के

करकमलों में

जिनके

चरणों में बैठ कर

विश्ववाङ्मय की अमर रचनाओं का

सर्वप्रथम सुधास्वाद पाया

और

साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का सही मर्म हृदयस्थ करके शास्त्रीय

विवेचनपद्धति की सही विधि के सम्बन्ध में एक

सनातन प्रेरणास्रोत प्राप्त किया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी बात

आज से सत्रह वर्ष पूर्व जब मैंने विश्व साहित्य की इस अप्रतिम रचना का पहली बार पारायण किया तभी मेरे हृदय में एक बलवती प्रेरणा उद्भूत हुई कि इस रचना का सही समास्वादन सहृदय-समाज के द्वारा करा सकने के लिए इस बात की परम अपेक्षा है कि महाकवि की इस अमर-वाणी के पद-पद की यथाशक्य सारी व्यञ्जनाएँ विस्फोरित करके एक सुविस्तृत व्याख्या लिखी जाय। नाना प्रकार के अन्तरायों के कारण आज तक इस उद्देश्य में सिद्धि प्राप्त कर सकने में असमर्थ रहा। इस वर्ष काफी चिन्तन-मनन करके इस महान् सङ्कल्प को पूरा करने का अवसर तो आया, परन्तु प्रकाशन के समय कतिपय कारणवश इसका प्रथम खण्ड (पूर्वमेघ) अभी तक मुद्रणार्थ नहीं दिया जा सका। आरम्भ द्वितीय खण्ड (उत्तर मेघ) से करना पड़ रहा है। प्रास्ताविक में मैंने कालिदास-सम्बन्धी अपने अनुशीलन को उपनिबद्ध करने का प्रयास किया है। कालिदास के समाजवादी मानवतावाद, उनके निवासस्थान और उनके दूत-काव्य-परम्परा में योगदान आदि पर विस्तृत विवेचन मैंने प्रथम खण्ड के साथ अनुबद्ध कर रखा है। इस प्रथम प्रकाशित होने वाले द्वितीय खण्ड में कालिदास के रचनाकाल पर, जो कि लगभग एक सौ वर्षों से बड़ी ही विप्रतिपत्ति का विषय रहा है, मैं अपनी चिन्तामणियों को गुम्फित करके सुधी-समाज की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरी धारणा है कि कालिदास का रचनाकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का शुङ्ग काल है—कालिदास अग्निमित्र के समसामयिक थे। हर नया चिन्तन पुराने चिन्तकों का ऋणी होता है और इस दृष्टि से मैं उन सभी अधीतियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके मत का जाने-अनजाने मैंने उपयोग किया है। मैं अपने उन विद्यार्थियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इसके प्रूफ़संशोधन आदि में मेरी अमूल्य सहायता की है। मैं अपने मित्रवर सर्वश्री दिनेशचन्द्र तथा राधेनाथ जी चोपड़ा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने कृपा करके इस पुस्तक को लोकभारती, प्रयाग से प्रकाशन करने का भार ग्रहण करके इस उत्तम रीति से इसे जनता के हाथों में समर्पित किया है। साथ ही मैं सम्मेलन-मुद्रणालय के अधिकारियों का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इसे इस रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने में योगदान दिया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसी कुछ भी बन पड़ी यह विद्वज्जन के हाथों में जा रही है। अन्त में मुझे इतना ही निवेदन करना है :—

प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ।।

विदुषां वशंवदः

रमायदुपालः शास्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

महतां संस्तव एव गौरवाय

[कालिदास का रचनाकाल]

'मेघदूत'-जैसी विश्व-साहित्य की अमूल्य कौस्तुभ-मणि का महान् रत्नतक्षा समस्त वसुन्धरा एवं निखिल कल्पवेलाओं का सनातन शृङ्गार है। विश्वचेतना का महान् परिस्पन्द देश-काल की इयत्ताओं में नहीं बँधा करता; जीवनदायी आलोक का धनाधिप यह दिनमणि किस शाणयन्त्र पर कब और कहाँ तराशा गया, उद्वा अनन्त कलशोपवाह्य सुधास्रुति का हिमगिरि यह निशामणि किस रत्नगर्भा खनि की कब की देन है, अथवा निशीथिनी का शाश्वत आभूषण यह तारक-रत्नजाल किस सागर की सीपी से कब उपजा है यह कौन कह सकता है? मानव-मन के अँधेरे से अँधरे कोने को कनककिरणों से सजा देनेवाला महान् मानवतावादी गायक, और स्वार्थ की ऊष्मा से झुलसते जनजीवन की मरुभूमि को शत-शत रस-धाराओं से शस्यश्यामला बना देनेवाला महान् कामनीयक मधु-कन्द, तथा साथ ही अनेकानेक समीक्षा-दृष्टियों की घनी झुरमुटों के कुहासे में जगमग ज्योति का हीरकहार आलोकित करनेवाला एक महान् कलाशिल्पी कालिदास सम्पूर्ण देवयजना और शाश्वत कालप्रिया का एकमात्र आर्यपुत्र है। अमर-भारती का वह महान् गायक कुछ ऐसी विनयशीलता से अनुस्यूत था कि 'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' और 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' लिखते-लिखते अपनी 'अहन्ता' को हमेशा-हमेशा के लिए मिटा चला था; 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यन्नवमित्यवद्यम्' का शैशव जाने कब और कहाँ विलीन हो गया था। उसने मन्त्रकाल के 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' की परम्परा को समझा तथा उपनिषत्कारों, सूत्रकारों, स्मृतिकारों, भाष्यकारों की रचनापरिपाटी पर ध्यान दिया और साथ ही दूसरी ओर मामूली-से शिलालेख लिखने-लिखानेवालों का आत्मख्यापन देखा और उनका मूल्याङ्कन करके सहज ही 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का अनुयायी हो उठा।

फलतः हमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता जब हम गौतम-गृत्समद, वसिष्ठ-विश्वामित्र, नारायण-मधुच्छन्दा तथा कणाद-बादरायण आदि की महनीय परम्परा का अनुसरण करनेवाले विश्व के महान् वाक्तक्षा कालिदास को भी अपने जीवन का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई भी परिचय न देते हुए पाते हैं। अतः हमें अपने महाकवि की जीवनी, निवास-स्थान एवं रचनाकाल आदि के लिए कोई भी तथ्य उनकी रचनाओं में प्रायः नहीं प्राप्त होते और एतदर्थ परमुखापेक्षी ही रहना पड़ता है। कालिदास स्वयं भी तो मेघ की प्रकृति की हृदय से प्रशंसा करते हुए यक्ष के रूप में मानों स्वयं कह उठते हैं—"निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलम्।" हमारे कवि भी निश्चय ही जलदवृत्तिक थे तभी तो अपने विषय में पूर्णतः 'निःशब्द' रह गये।

इसके पूर्व कि हम बाह्य-साक्ष्य एवं तर्कों के आधार पर कालिदास के जीवन, आदि के सम्बन्ध में कुछ कहें, अच्छा होगा कि जो-कुछ कविप्रत्त सामग्री उपलब्ध है उसे वितंत करके फिर शुद्ध आगमनात्मक निष्कर्ष निकालें, क्योंकि निगमनात्मक विवेचनपद्धति से निकाले गये निष्कर्ष पूर्वग्रह-मूलक होने के कारण ग़लत जगह ले जा सकते हैं। परिणामतः सर्वप्रथम ग्रन्थानुसार उपलब्ध सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है—

(१) "मालविकाग्निमित्र" में कवि ने अपने सम्बन्ध में इतना ही कहा है—

(क) "सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तद् आरभ्यतां सङ्गीतम्।

पारिपार्श्वकः—मा तावत्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथम् बहुमानः?

सूत्रधारः—अयि, विवेकग्रस्तमभिहितम्। पश्य—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥" [प्रस्तावना]

(ख) "तथापीदमस्तु भरतवाक्यम्—
आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥" [पञ्चमाङ्क]

(२) "विक्रमोर्वशीय" में आत्मकथात्मक सामग्री कुल इतनी है:—

(क) "सूत्रधारः—मारिष! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहम् अस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेन उपस्थास्ये। तद् उच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेषु अवहितं भवितव्यमिति।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावः। [इति निष्क्रान्तः]

सूत्रधारः—(प्रणिपत्य) यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान् विज्ञापयामि—

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य॥" [प्रस्तावना]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ख) "चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्। [प्रथमाङ्क]

(ग) "चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः। [प्रथमाङ्क]

(घ) "ततः भरतवाक्यम्—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूयादुद्भूतये सताम्॥

अपि च—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥" [पञ्चमाङ्क]

(३) "अभिज्ञानशाकुन्तल" में कालिदाससम्बद्ध कुल सामग्री इतनी है :—

(क) "सूत्रधारः—आर्ये! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। [प्रस्तावना]

(ख) प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः, सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥ [सप्तमाङ्क]

(४) "मेघदूत" में "प्रथितविदिशालक्षणाम्" के अतिरिक्त और कोई आत्मपरिचयात्मक तत्त्व नहीं है। "कुमारसम्भव" में आत्मपरिचयात्मक सामग्री का नितान्त अभाव है। "ऋतुसंहार" के सम्बन्ध में विविध विप्रतिपत्तियाँ हैं :— "रघुवंश" में कवि ने ये आत्मपरिचयात्मक तत्त्व प्रस्तुत किये हैं :—

(क) "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

(ख) रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा॥

इस समस्त आत्मपरिचयात्मक सामग्री में इतिहास की शृङ्खलाओं से जोड़ने-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाले उपादान "न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे", "भाससौमिल्लककविपुत्रादीनाम् प्रबन्धेषु स्थितेषु", "विक्रममहिम्ना", "विक्रमालङ्कारः" इतने ही मिलते हैं। विद्वानों ने कुछ और ऐतिहासिक तत्त्वों की ओर हमारी दृष्टि आकर्षित करायी है। वे तत्त्व ये हैं—

(१) "पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।"

(२) "यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।"

(३) "ततः प्रतस्थे कौबेरीम् ××× तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्त-विक्रमम्।"

(४) "काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।" [रघुवंश सर्ग ५]

रघुवंश के षष्ठसर्ग में सर्वप्रथम **मगधेश्वर** का वर्णन है। उसके विषय में अगाध-सत्त्व, प्रजारञ्जनलब्धवर्ण, परन्तप आदि कहने के बाद—"कामं नृपाः सन्तु सहस्र-शोऽन्ये, राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्। नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः।" लिखा गया है। यही नहीं उसे अजस्र अध्वरों का अनुष्ठान करने वाला और पुष्पपुराङ्गनाओं का नेत्रोत्सव भी कहा गया है। इसके बाद **अङ्गनाथ** का वर्णन है। फिर **अवन्तिनाथ** का जिनको महाकालनिकेतन के निकट निवास करनेवाला और शिप्रातरङ्गानिलकम्पित उद्यानपरम्पराओं में विहार करनेवाला बताया गया है। अनन्तर **अनूपराज** का वर्णन है जिन्हें आगमवृद्धसेवी कहा गया है। उनके बाद **शूरसेनाधिपति** नीपान्वय सुषेण का नाम लिया गया है तथा मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन आदि का वर्णन किया गया है। फिर **कलिङ्गनाथ** का वर्णन है जिनको महेन्द्र और महोदधि का स्वामी कहा गया है। बाद में उरगपुर के स्वामी का वर्णन है जिन्हें **पाण्ड्य** बताया गया है तथा दक्षिण दिशा का स्वामी बताया गया है। और इनके अनन्तर **कोशलेश्वर** अज का वर्णन किया गया है। इसमें संशय नहीं कि अन्तःसाक्ष्य का प्रामाण्य बहिःसाक्ष्य से कहीं अधिक प्रबल होता है। अतः हमें सबसे पहले इस पर विचार करना है कि जो तथ्य ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं वे प्राचीन भारत के इतिहास में किस युग की ओर हमें ले जाते हैं? क्या इतिहास के पृष्ठों में कोई ऐसा काल मिलता है जब कि कोई अग्निमित्र नामक राजा रहा हो जिसके सम्बन्ध में शुभकामना के भविष्य में फलवती होने के उद्देश्य से कालिदास वह भरतवाक्य प्रस्तुत कर सकते रहे हों? और साथ ही "विदिशा-लक्षणा राजधानी" की "प्रथितता" और "विक्रम-महिमा" या "विक्रमालङ्कार" का सम्बन्ध ठीक-ठीक जोड़ा जा सके। उस समय यवन लोग कोशल से पश्चिम की ओर स्थित रहे हों; मगध, कलिङ्ग, अङ्ग, शूरसेन, कोशल, पाण्ड्य, अवन्ति और अनूप ये सब स्वतन्त्र सत्ता के राज्य रहे हों और सिन्धु के पार काम्बोज तथा सिन्धु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उत्तर की ओर हूण रहे हों। यदि ऐसे किसी युग का हम इतिहास के पृष्ठों में पता निकाल सकें तो हम आसानी से कह सकते हैं कि कालिदास ने उसी युग को समलङ्कृत किया था।

मौर्यकाल के पतन के बाद उत्तर भारत में शुङ्गनृपतियों का सबसे अधिक प्रबल साम्राज्य दृष्टिपथ में आता है। इनका राज्यकाल इतिहासकारों के अनुसार संवत् २६५ शकपूर्व से लेकर १५३ शकपूर्व (१८७–७५ ई० पू०) तक है। इनमें सर्वप्रथम महाराज पुष्यमित्र थे जिन्होंने ३६ वर्ष तक राज्य किया। उनके पश्चात् अग्निमित्र ने ८ वर्ष राज्य किया। इनके बाद स्वल्प समय तक राज्य करनेवाले आठ नृपति और होते हैं, जिनका कुल राज्यकाल ६८ वर्ष का है। इस अग्निमित्र के सम्बन्ध में डा० राधामुकुद मुखर्जी का कथन है—

"Puṣyamitra ruled for about 36 years (C. 187-151 B. C.) and was succeeded by his son Agnimitra. Agnimitra is the hero of the Mālavikāgnimitra which gives us some account of his viceroyalty at Vidiśā mentioned above." [The Age of Imperial Unity. p. 97]

अतः हम इस बात की सम्भावना कर सकते हैं कि अग्निमित्र के समय में ही कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' की रचना की होगी और उस ऐतिहासिक नाटक के अन्त में भरतवाक्य के द्वारा उसके शुभ आयति की कामना की हो बशर्ते कि अन्य सारी राजनीतिक परिस्थितियाँ अग्निमित्र या उसके तुरन्त बाद के वास्तविक ऐतिह्य से मेल खा सकें। जहाँ तक 'विक्रमालङ्कार' का प्रश्न है भारतवर्ष में प्रसिद्ध विक्रमसंवत् की प्रवर्तना १२५ शक पूर्व में गणना के अनुसार होनी चाहिये। इधर डॉ० राजबली पाण्डेय ने एक बहुत ही खोजपूर्ण प्रबन्ध "विक्रमादित्य ऑफ़ उज्जयिनी" प्रकाशित किया है जिसमें उन्होंने मालव गणराज्य के शकारि विक्रमादित्य को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध किया है और उन्हें ही विक्रम-संवत् का प्रवर्तक माना है; भले ही उस संवत् को पहले 'कृत' और 'मालव' कहते रहे हों। उनके इस शोधग्रन्थ के विषय में प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् डा० आर० सी० मजुमदार का कथन है—

"To me personally, it is a matter of great gratification to find at the fag end of my life that there is a growing appreciation of the point of view which I maintained all alone at the beginning of my career as a research student. What was then almost a cry in the wilderness, has now assumed its legitimate place as a

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

not unreasonable hypothesis in course of half a century. Dr. Pandey's work is a solid and definite contribution towards the rehabilitation of the historicity of Vikramāditya."

['Foreword' to "Vikramāditya of Ujjayinī."]

यदि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य की शकों पर विजय संवत् १३५ शकपूर्व की घटना मानी जाय तो हम आसानी से उनके विक्रमसंवत्-प्रवर्तन को उसके बाद मान सकते हैं। यदि शकों पर विजय प्राप्त करने के समय विक्रम की अवस्था हम ४० मान लें तो मालव गणराज्य का नेतृत्व उन्होंने लगभग १५५ शकपूर्व में अपने हाथ में लिया होगा जब कि उनकी अवस्था कम से कम बीस वर्ष रही होगी। अग्निमित्र के राज्याधिरोहण (२२९ शकपूर्व) और मालव गणराज्य के इस नेतृत्व (१५५ शकपूर्व) के बीच लगभग ७० या ७५ वर्ष का अन्तर माना जा सकता है। यदि हम कालिदास का "नवकाव्य" 'मालविकाग्निमित्र' उनके छब्बीसवें वर्ष की रचना मानें और उसका अभिनय अग्निमित्र के समक्ष २२२ शकपूर्व के आसपास रखें तो कालिदास की अवस्था विक्रमादित्य के गणराज्य के पुनः सङ्घटन के समय लगभग ९३ वर्ष ही होनी चाहिए। और यदि हम यह मान लें कि 'विक्रमोर्वशीय' उनकी अन्तिम रचनाओं में से एक है (जिसे मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए) तो हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कालिदास को 'विक्रमालङ्कार' या 'विक्रममहिमा' लिखने की प्रेरणा शकारि विक्रमादित्य से मिली होगी। वैसे इतना दीर्घजीवी मानने में कोई कठिनाई तो न होनी चाहिए फिर भी किसी को आपत्ति हो सकती है। इस दृष्टि से उनका विक्रमादित्य से परिचय मानने की कोई अपेक्षा भी नहीं है; क्योंकि 'विक्रमालङ्कारः' और 'विक्रममहिम्ना' के प्रयोग किसी 'विक्रमादित्य' से सम्बन्ध रखें यह कोई ज़रूरी नहीं है। वस्तुतः ये शब्द किसी व्यक्ति विक्रमादित्य का बोध कराने के लिये आया भी तो नहीं हैं। 'विक्रमालङ्कारः' शब्द 'पराक्रममात्र के अलङ्कार वाले' के अर्थ में आया है (विक्रम एवालङ्कारो यस्य सः); और 'पराक्रम के माहात्म्य' के अर्थ में 'विक्रममहिम्ना' शब्द (विक्रमस्य महिमा विक्रममहिमा, तेन)। भारतवर्ष की एक ज़बर्दस्त प्राचीन परम्परा का अनुरोध है कि कालिदास को विक्रमादित्य के एक वरिष्ठ रत्न के रूप में प्रतिष्ठा दी जाय। इस दृष्टि से उन्हें दीर्घजीवी मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए और हम कालिदास को शतायु हो कर गोलोकवासी होनेवाला मान सकते हैं। 'विदिशा-लक्षणा राजधानी' की प्रथितता भी पुष्यमित्र के समय से ही सुस्पष्ट हो जाती है क्योंकि उनके समय में विदिशा शुङ्गसाम्राज्य के दक्षिण-पश्चिमीय भाग की राजधानी थी;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैसे सम्पूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। पुष्यमित्र के बाद के शुङ्ग-नृपतियों का राज्य १५० शक पूर्व तक बहुत ही सीमित हो गया था और उसकी इयत्ता आज के इलाहाबाद ज़िला और प्राचीन वत्सों के राज्यक्षेत्र से अधिक नहीं थी; और उसकी राजधानी विदिशा ही रह गई थी। प्रो० ई० जे० रैप्सन ने "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया" के प्रथम खण्ड में लिखा है—

"In the present state of Indian archaeology it seems impossible to trace the extension of the rule of those Kings of Vidiśā who reigned after Puṣyamitra beyond the region in which the Jamunā and Ganges meet, i.e., the ancient kingdom of the Vatsas (Kauśāmbi) and the present district of Allahabad."

[Cambridge History of India. Vol. I, p. 475]

यही नहीं इन शुङ्गनृपतियों की अधिकारसीमा मौर्यकाल में भी विदिशा के क्षेत्र के बाहर न थी और उस समय भी इनकी राजधानी विदिशा ही थी। प्रो० रैप्सन का कथन है—

"We may conclude then that the Śuṅgas were a military power and that they became puppets in the hands of their Brahman counsellors. They ruled originally as feudatories of the Mauryas at Vidiśā, the modern Besnagar on the Vetravatī (Betwa), near Bhilsa and about 120 miles east of Ujjain."

[Cambridge Histroy of India. Vol. I, p. 471]

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की है कि विदिशा इन शुङ्गनृपतियों के राज्यकाल के अनन्तर महाराज हर्ष के राज्यकाल (५२८ शकसंवत्) तक किसी भी अन्य नृपतिवंश की राजधानी नहीं रही। यदि कालिदास इस काल के नहीं माने जाते तो उनके 'मेघदूत' का यह कथन—'प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्' बिल्कुल अपार्थ हो जाता है। यदि 'मेघदूत' में वे किसी प्राचीन राजा का वर्णन करते होते और उस प्रसङ्ग से यह पदोच्चय प्रयोग में लाते तो कोई बात नहीं थी। यहाँ तो मेघ को केवल रास्ता बताया जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि वह राजधानी उनके समय में थी और उसका विदिशा नाम दिग्दिगन्तविख्यात था। अस्तु, कालिदास को किसी और राजवंश के समकालीन मानने के पूर्व न केवल 'मेघदूत' की इस उक्ति का विरोध पड़ेगा बल्कि 'मालविकाग्निमित्र' के निम्नलिखित भरतवाक्य में 'आशास्यम्' और 'सम्पत्स्यते' की भविष्यद्वृत्तिकता को पूर्णतः अर्थहीन मानना पड़ेगा—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।"

इसके अनन्तर हम 'रघुवंश' में वर्णित राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से विचार प्रस्तुत करेंगे। वैसे 'रघुवंश' कोई इतिहासग्रन्थ नहीं है और न उसमें वर्णित 'इन्दुमतीस्वयंवर' (सर्ग ६) के राज्यों अथवा राजाओं को अपने समकालीन राजा या राज्य के रूप में कालिदास ने प्रस्तुत ही किया है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तर्क में बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित माननी पड़ेगी कि कोई भी कवि राज्यों की तात्कालिक सत्ता के अभाव में उनकी कल्पना नहीं कर सकता। भले ही राजाओं के नाम कल्पित रख दिये जायँ परन्तु राज्यों के नाम और वहाँ शासन करनेवाली जातियों के नाम तथा उनके क्षेत्र के नगरों के नाम निराधार हों यह सम्भव नहीं क्योंकि कल्पना पूर्णतः निराधार नहीं हुआ करती। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कालिदास ने मगधेश्वर, अङ्गनरेश, अवन्तिनाथ, अनूपनरेश, शूरसेनाधिपति, उरगपुरनाथ पाण्ड्य, कलिङ्गनरेश और कोसलेश को भाग लेते हुए दिखाया है। कोसलेश के अतिरिक्त किसी के भाग लेने का कोई सङ्केत वाल्मीकिरामायण में राज्यनामादि के साथ नहीं प्राप्त होता। अतः कालिदास ने किसी प्राचीन ऐतिह्यानुरोध से ऐसा किया हो ऐसा नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि उन्होंने इन राज्यों के राजाओं के भाग लेने की कल्पना अपने युग में प्रथित होने के कारण अवचेतन में समा गयी हुई वासनाविशेष के कारण ही की है। जो लोग उन्हें गुप्तकाल में रखने का प्रयास करते हैं उन्हें सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की होगी कि गुप्तकाल में एक सुविस्तृत राज्यक्षेत्र के साम्राज्य के होने के नाते ऊपर बताये गये बहुत से राजा मगधेश्वर के साथ स्वयंवर में जाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। प्रायः उनका अस्तित्व ही न था अथवा क्योंकि वे उनके अधीनस्थ सामन्तमात्र थे। फिर विदर्भाधिपति का सम्बन्ध गुप्तों की कन्या लेनेवाले नृपति के रूप में था न कि गुप्तों को कन्या देनेवाले। अतः उनके दरबार में जो लोग कवि कालिदास का यह विदर्भनरेश की कन्या लेने के उद्देश्य से जाने का भाव श्रवणगोचर करते, उन्हें तो यह एकदम विपरीत सी ही बात लगती। साथ ही मगधराज की प्राथमिकता उतनी ही सङ्गत गुप्तकाल के प्रसङ्ग में मानी जा सकती है जितनी कि शुङ्गकाल के प्रसङ्ग में। पुष्यमित्र स्वयं मगधेश्वर थे और उनके पूर्व के मौर्य-सम्राट् तथा नन्दसम्राट् मगध को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राज्य के रूप में मान्यता दिला चुके थे। भगवान् बुद्ध के समय से ही मगध एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में अभ्युदय पा रहा था। नन्दवंशीय नृपतियों ने इसे उत्तरभारत का सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य बना दिया था और मौर्यमहाराजाओं ने तो इसे भारत के सबसे बड़े साम्राज्य की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्ता प्रदान कर दी थी। गुप्तनृपति कभी भी उतना बड़ा राज्यविस्तार नहीं पा सके। कालिदास को यह प्रेरणा अशोक से ही मिली होगी। गुप्तवंश के प्रवर्त्तक घटोत्कच न भी माने जायँ तो भी गुप्त महाराजाओं का लिच्छवियों से सम्बन्ध और वाकाटक नृपतियों को कन्यादान उनको किसी उच्चान्वय का क्षत्रिय नहीं सिद्ध करता। ऐसी स्थिति में उन्हें क्षत्रिय राजाओं के बीच सर्वप्रथम स्थान देने की कल्पना केवल बड़े साम्राज्य के आधार पर ही मानी जा सकती है। इन सारी बातों पर दृष्टि जाने से लगता यही है कि कालिदास के अवचेतन में जो देश का चित्र था और राज्यों की जो तत्कालीन स्थिति मन में घर कर गयी थी वह गुप्तकाल से भिन्न थी। यशोधर्मा के समकालीन माननेवालों के लिए मगधेश्वर की प्राथमिकता का कोई कारण हो ही नहीं सकता। अग्निमित्र आदि के बाद कोशल, मगध, अङ्ग और कलिङ्ग ये स्वतन्त्र राज्यों के रूप में उद्भूत हो उठे थे। प्रो० रैप्सन का कथन है—

"The investigation of ancient sites may no doubt some day throw light on the contemporary history of the countries which lay to the north and east of Kauśāmbī—Kosala (Oudh), Videha (North Behar), Kāshi (Benaras), Magadha (South Behar), and Aṅga (Monghyr and Bhagalpur).....Kosala is represented by coins of this period which are found on the site of Ayodhyā....A king of Magadha and a king of Rājagṛha are also mentioned in the inscription of Khāravela.

[Cambridge History of India Vol. I p. 475]

इस कथन से कालिदास द्वारा वर्णित कोशल, मगध और अङ्ग की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है। जहाँ तक शूरसेन के राजाओं का प्रश्न है उनमें से बलभूति का सम्बन्ध ओद्रक शुङ्ग के कौशाम्बी के सामन्त बहसतिमित्र के सिक्कों के साथ सुनिश्चित है जिसकी कन्या का विवाह एक शूरसेननरेश के साथ हुआ था। प्रो० रैप्सन का कथन है—

"It (Mathurā) was the capital of the Śūrsenas one of the leading peoples of the Midland country. Its earlier rulers find a place in the Purāṇas, but only in the general summary of those dynasties which were contemporary with the Purus; and coins have preserved the names of at least twelve later kings who reigned during the Śuṅga period. One of these, Balabhūti is

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

associated by the style and type of his coinage with Bahasatimitra of Kauśāmbī whose daughter was married to a king of Mathurā.....Another king of Mathurā, Brahmamitra was probably contemporary with king Indramitra of Ahicchatra; for both names are found in the dedicatory inscriptions of queens on pillars of the railing at Buddhagayā which is assigned by archaeologists to the earlier part of the first century B. C."

[Cambridge History of India. Vol. I p. 474]

कालिदास न केवल शूरसेनों के नृपति का सङ्केत प्रस्तुत करते हैं वल्कि वे उनकी राजधानी मथुरा की ओर भी इङ्गित करते हैं। उन्होंने लिखा है—

"यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद् वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गताऽपि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥"

जहाँ तक कलिङ्गनरेश का प्रश्न है हमें एक वहुत वड़े नृपति खारवेल का पता है जिनका समय दूसरी शकपूर्व शताब्दी में रखा जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वे तृतीय शकपूर्व शताब्दी के थे। कुछ भी हो, इसमें संशय नहीं है कि वे शुङ्गों के समकालीन थे। डा० डी० सी० सरकार का कथन है—

"Mahārāja Khāravela is one of the most remarkable figures of ancient Indian history....Khāravela.. assumed the title of Kaliṅgādhipati or Kaliṅgacakravartin and no doubt claimed the status of a Cakravartin or universal ruler....There is a controversy as regards the date of Khāravela. Some scholars are inclined to assign him to the first half of the second century B. C.; but there is reason to believe that he flourished at a later date.....The script of the Hāthīgumphā inscription is later than that of the Besnagar Inscription (end of the second century B.C.) and points to a date in the first century B. C."

[The Age of Imperial Unity. pp. 213-215]

कालिदास का निम्नलिखित वर्णन मानों खारवेल को ही हमारी आँखों के सामने मूर्तिमान् कर देता है—

"असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः। ।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यंही नहीं कवि कलिङ्गनाथ के गले में वरमाला न डालने पर इन्दुमती के प्रति इसे उसके दुर्भाग्य की बात तक कहने में नहीं हिचकिचाता।

"प्रलोभिताऽप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजातयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्॥"

अवन्तिनाथ के रूप में कवि ने या तो स्वयं महाराज विक्रमादित्य को प्रस्तुत किया है जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी या अग्निमित्र को और इसीलिये उनकी बहुत ही प्रशस्ति की है—

"अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥"

यहाँ पर कवि ने उष्णतेजस् शब्द को ग्रहण करके विक्रमादित्य की व्यञ्जना करायी है (विक्रमे आदित्य इव विक्रमादित्यः)। नाम में जो सूर्यतुल्यता है उस तत्त्व को उसने उपमा के द्वारा यहां प्रस्तुत कर दिया है। स्वयं प्रो० रैप्सन ने विक्रमादित्य की सम्भावना को काफ़ी हद तक मुमकिन ठहराया है—

"While it is possible, may even probable, that there may have been a Vikramāditya who expelled the Śakas from Ujjaynī in the first century B. C., it is certain that the monarch who finally crushed the Śaka power in this region was the Gupta emperor Chandragupta II Vikramāditya."

[Cambridge History of India Vol. I p. 480]

यदि किसी को शकारि विक्रमादित्य की स्थिति में संशय हो अथवा कालिदास की इतनी दीर्घ आयु पर विश्वास न हो जिसकी कल्पना हमें उन्हें अग्निमित्र और विक्रमादित्य दोनों का समकालीन मानने के लिये करनी पड़ती है तो इसमें वे स्वयं अग्निमित्र का स्वरूप देख सकते हैं। इसमें संशय नहीं कि अग्निमित्र अवन्तिनाथ भी था। अस्तु कालिदास ने अवन्तिनाथ की कल्पना या तो विक्रमादित्य के आधार पर की होगी जिसकी सम्भावना अधिक है या अग्निमित्र के। शुङ्गनृपति के प्रति उनकी श्रद्धा उनके 'मालविकाग्निमित्र' से ही स्पष्ट है। विदर्भनरेश यज्ञसेन मौर्यसम्राट् के सचिव का बहनोई था और इसीलिये पुष्यमित्र का स्वाभाविक शत्रु था। विदर्भ और विदिशा के सम्बन्ध अच्छे न थे। अग्निमित्र ने विदर्भ पर वीरसेन से आक्रमण कराया था और यज्ञसेन को पराजित कराया था। परिणामतः यज्ञसेन और माधव सेन के बीच में विदर्भ का बटवारा हो गया था। पुष्यमित्र की छत्रच्छाया में दोनों पल रहे थे। इस विदर्भ और अवन्ति के परस्पर विरोध को बहुत सम्भव है कवि ने अपने इस श्लोक में व्यक्त किया हो—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"तस्मिन्नभिद्योतितवन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के।
ववन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्।।"

कुमुद् सूर्य को देखकर सङ्कुचित हो उठता है और इस प्रकार कवि समय में कुमुद और सूर्य की परस्परवैरिता परम्परासिद्ध है। परन्तु कुमुद सूर्य के सामने असमर्थ है। मानों कालिदास इस उपमान के द्वारा सभी कुछ कह देना चाहते हैं—अग्निमित्र का सूर्यतुल्य प्रभाव विदर्भजी का कुमुदवद् विरोध और चुपचाप सङ्कुचित भाव से दूसरे राजा की ओर खिसक जाना। यही नहीं महाकालनिकेतन की चर्चा भी इसी प्रसंग से आयी है और जाने क्यों सामन्तशिखामणि शब्द भी कवि ने अवन्तिनाथ के वर्णन में रखा है—क्या विदर्भनरेश का सामन्तत्व ध्वनित कराना ही तो एकमात्र उद्देश्य नहीं था?

अन्य राजाओं के बीच कवि ने पाण्ड्यनरेश का वर्णन किया है जो उरगपुर के स्वामी थे—

"अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य। × ×
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति वालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।।"

डा० सी० वी० वैद्य ने "Annals of the Bhandarkar Institute" (Vol. 11, p. 63) में लिखा है कि—ईसवी प्रथम शताब्दी में करिकाल नाम के प्रसिद्ध चोल राजा से पराजित होने तक पाण्ड्य राजा दक्षिण में प्रवल थे। करिकाल ने उन्हें पराजित करके उरय्यूर से हटा दिया और कावेरीपत्तन को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। इसके पहले उरय्यूर ही पाण्ड्य राजाओं की राजधानी रही होगी'। 'उरगपुर' आजकल का उरय्यूर होगा। प्राकृतव्याकरण के नियमानुसार 'उरगपुर' में ग् 'और' प्, इन दो व्यञ्जनों का लोप होकर मध्य में एक 'य्' का प्रवेश होने से उरय्यूर वन गया। महामहोपाध्याय मिराशी जी ने इसका खण्डन किया है—"उपर्युक्त प्रमाण परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। उरगपुर का उरय्यूर वन जाना असम्भव नहीं है पर उरय्यूर किसी समय पाण्ड्यों की राजधानी थी इसका न तो किसी इतिहास में और न किसी दन्तकथा में उल्लेख मिलता है। अपितु मदुरा नगरी प्राचीन काल में पाण्ड्यों की राजधानी थी।" परन्तु जैसा कि डा० एल० डी० बार्नेट ने स्पष्ट किया है तिन्नेवेली में ताम्रपर्णी नदी के किनारे कोलकइ पाण्ड्यों की पहली राजधानी थी और उसके बाद मदुरा। उरय्यूर चेलों का राज्य स्थापित होने के बाद उनकी राजधानी बनी। वस्तुतः यहाँ पर उरय्यूर से कोई विशेष तात्पर्य नहीं है। कालिदास ने उरग शब्द का प्रयोग किया है। उरग का अर्थ सर्प होता है। तमिल भाषा में मदुरा का नाम अलवाय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है और अलवाय का अर्थ नाग या 'उरग' होता है। सम्भव है यह शब्द 'र' का 'ल' हो जाने पर और 'ग' का लोप हो जाने पर 'उलओ' से निष्पन्न हुआ हो। यहां पर जिस पाण्ड्य की ओर कालिदास ने संकेत किया है उसके विषय में हमारे पास ऐसी ऐतिहासिक सामग्री है जिसके कारण उसका समय संवत् १०० शकपूर्व के इधर नहीं लाया जा सकता। डा० एल० डी० बार्नेट का कथन है—

"Strabo (xv, 4, 73) makes mention of an embassy sent to Augustus Caesar about the year 22 B.C. by a king 'Pandion' possibly a Pāṇḍya of the Tamil country."

["Cambridge History of India. Vol. I p. 541]

स्पष्ट है कि इस पाण्ड्यनामक नरेश का अथवा इस पाण्ड्यनरेश का सङ्केत कवि ने अपनी रचना में किया है और इस प्रकार एक ऐतिहासिक सत्य की ओर व्यञ्जना के द्वारा प्रकाशित किया है। अतः डा० मिराशी की आलोचना निःसार है।

जहाँ तक अनूपनरेश का प्रश्न है ग्रन्थकार के समय का शातवाहनसम्राट् शिमुक और कृष्ण उनके दृष्टिपथ में रहे होंगे। अनूप के सम्बन्ध में डा० डी० सी० सरकार का कथन है—

3657

"Anūpa was on the Narmadā with the city of Māhiṣmatī (modern Māndhātā in the Nimar District, M. P.) as its capital. The Haihaya king Arjuna, son of Kṛtavirya, ruled at Māhiṣmati...According to the Purāṇas the Haihayas were subdivided into five clans, viz. Vītihotra, Bhoja, Avanti, Tuṇḍikera and Tālajaṅgha...The Haihayas were themselves a branch of the Yādavas." ["Geography of Ancient and Medieval India" p. 35]

शुङ्ग-काल में इस क्षेत्र के अधिपति बहुत ही प्रतापी शातवाहननृपतिगण थे। ये शातवाहन आन्ध्रदेशीय अवश्य थे परन्तु आन्ध्रजातीय या आन्ध्रभृत्य न थे। 'शातवाहन' एक कुलनाम था और काश्मीर के लोहार नृपतिगण इसी कुल के थे। कल्हण इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। हो सकता है कि पुराणों में यह "आन्ध्रक," "आन्ध्र" या "आन्ध्रजातीय" **अन्धक** के पुनःसंस्क्रतीकरण के प्रयासवश आ गया हो। 'सुत्तनिपात' की 'परमत्थजोतिका' (२. पे० ५८) में शातवाहनों के मध्यवर्ती अश्मकों और मूलकों को स्पष्ट रूप से 'अन्धकराज्य' का कहा गया है। वस्तुतः पालि में 'अन्धक' दोनों के लिये आता था और वही उस समय लोकभाषा थी। पुराणकारों ने यह 'अन्धक' 'आन्ध्रक' से बना समझ लिया होगा अतः यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्रम हुआ। ये **अन्धक** यादवों से ही निःसृत थे इसमें संशय नहीं। अतः हैहय-यादवों के नर्मदा के पार्श्ववर्ती क्षेत्र के नृपतियों के रूप में खारवेल के शिलालेख में पश्चिमस्थ माने गये हैं न कि दक्षिणस्थ। तो तीसरी शकशताब्दी में ये दक्षिण के नृपति के रूप में सामने आये। ये अनूपदेशीय यादव थे जिस वंश और स्थान का सहस्रार्जुन था। ऐसा ही परिचय 'रघुवंश' से भी मिलता है—

"तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम्॥
आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम्।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम्॥"

तत्कालीन नृपति, जिनकी ओर गूढव्यङ्ग्य कालिदास का यहाँ प्राप्त होता है, शातकर्णि और कृष्ण हैं। "कृष्णगति" शब्द का श्लेष विचारणीय है। सिमुक के पश्चात् कृष्ण और उनके बाद शातकर्णि प्रथम इस अनूपदेश के स्वामी बने। प्रो० रैप्सन का कथन है—

"The founder Simuka began to reign before 200 B. C. To this extent the evidence of the Purāṇas confirms the opinion of Bühler, who from epigraphical considerations assigned the Nāsik inscription of the second king Kṛṣṇa to the times of the last Mauryas or the earliest Śuṅgas in the beginning of the second century B. C. It is therefore possible that Kṛṣṇa's immediate successor, the third Āndhra king, Śātakaṛṇi may have been contemporary with the first Śuṅga king Puṣyamitra (C. 184-148 B. C.). As we shall see this same Śātakarṇi was probably also contemporary with Khāravela, king of Kaliṅga."

[Cambridge History of India. Vol. I. p. 477]

शातकर्णी से शुङ्गों की शत्रुता होने के नाते उसका नाम ही कवि ने 'प्रतीप' कल्पित किया (केवल कर्णि भी प्रतीप होता है फिर शातकर्णि के क्या कहने)। अतः हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि यही नहीं कि "मालविकाग्निमित्र" तथा "मेघदूत" के अन्तःसाक्ष्य कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन सिद्ध करते हैं अपितु "रघुवंश" के छठे सर्ग में वर्णित भारत की राजनैतिक अवस्था भी उसी युग के भारत की राजनैतिक परिस्थितियों से मेल खाती है। जो लोग कालिदास को गुप्तकाल में रखने के अभ्यासी हैं उनके लिये इस स्वयंवर वर्णन की राजनैतिक अवस्था पूर्णतः शल्यभूत सिद्ध होगी। गुप्तनृपतियों के काल में कलिङ्ग,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अङ्ग, कोसल, शूरसेन, अनूप और अवन्ति एकदम लापता हो जाते हैं। शूरसेनों की जगह आर्जुनायन, अवन्ति की जगह मालव, अनूप की जगह वाकाटक राज्य दृष्टिपथ में आते हैं। कलिङ्ग, अङ्ग और कोसल की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। आर्जुनायन और मालव गुप्तसाम्राज्य के ही अन्तर्गत थे। विदर्भ और अनूप वाकाटक के अङ्ग बनकर उसी में विलीन हो चुके थे। पाण्ड्य इस समय एकदम हीन दशा में था। करिकाल ने (२६८ शक संवत्) में पाण्ड्यों को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया था यही नहीं उसने चेरों को भी समाप्त कर दिया। नेडुन् जेळियन् ने एक युद्ध जीतने का प्रयास (२८८ श० सं०) के आस-पास किया। परन्तु कलभ्रों के आक्रमण ने पाण्ड्य, चोल और चेर राज्यों को तहस-नहस कर दिया। और सातवीं शताब्दी के अन्त में जाकर कडुंगोण ने उससे मुक्ति दिलायी। अतः गुप्तकाल में कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन के रूप में इन राज्यों की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। गुप्तों के राजदरबार से सम्बद्ध मानने पर उनके अवचेतन पर उस युग की ही राजनीतिक अवस्था का प्रभाव मानना पड़ेगा और उस प्रकार का ही खाका 'रघुवंश' के षष्ठ सर्ग में भी उभरना चाहिए था।

अब हम रघु की दिग्विजयों की ओर ध्यान आकृष्ट करायेंगे। इनकी विक्रमादित्य की दिग्विजयों के साथ तुलना डा० राजबली पाण्डेय ने प्रस्तुत कर रखी है। उनके निष्कर्षों से यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि सं० १५० शकपूर्व की राजनैतिक स्थिति ऐसी थी जिसमें कि कालिदास का अवचेतन रघु की वैसी विजयों की कल्पना प्रस्तुत कर सकता था। डा० पाण्डेय का कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है—

"This comparison shows that the Digvijaya of Raghu is not identical with the world-couquest of Vikramāditya, though the former substantially reflects the latter. Some writers contend that the glorification of Raghu's family and the description of Raghu's world-conquest, as given by Kālidāsa in his Raghuvaṃśa, are based upon the glorious history of the Guptas and the wide conquest made by Samudragupta and Chandragupta II ......The scope of Samudragupta's Digvijaya excludes the whole of Uttarāpatha; he had only a diplomatic relation with the Śakas and the Muruṇḍas (Kushans) and he had nothing to do with the Pārasikas, the Yavanas, the Hūṇas, the Kāmbojas, the Kirātas, the Utsavasaṅketas, Prāgjyotish and Kāmarupa

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

which are described to have been defeated by Raghu. The description of Chandragupta II's world-conquest is very vague. The only specific wars mentioned in it are those fought in Vaṅga, Uttarāpatha and Bāhlika country. The picture of his Digvijaya can be completed by reforming to his wars in Central India, Malwa and Surāshtra. But even then the extent of his conquests falls very much short of Raghu's sphere of Digvijaya. The scope of Vikramāditya's world-conquests as described in the Bṛhatkathāmanjarī and the Kathāsaritsāgara approximates that of Raghu's much more closely than do the extent of Samudragupta's and Chandragupta's conquests. Under the circumstances, the suggestion that Raghu's Digvijaya is a replica of Gupta conquests is not justifiable."

(pp. 126-7)

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालिदास को निश्चित रूप से गुप्तकालीन राजनीतिकभूगोल का पता ही नहीं था। उनके राजनीतिकभूगोल की पृष्ठभूमि २०० से लेकर १५० शकपूर्व तक की भारतीय राजनीतिक अवस्था है। डा० पाण्डेय के तर्क इस बात को सिद्ध कर देने में समर्थ हैं कि कालिदास को गुप्तकालीन दिग्विजयों से प्रेरणा नहीं मिली। उनकी प्रेरणा का केन्द्र विक्रमादित्य शकारि ही थे जिनका चलाया हुआ विक्रमसंवत् है इसे तो पूर्णतः सिद्ध अभी बहुत-से विद्वज्जन नहीं मानते। उनके तोषार्थ हम यह कह सकते हैं कि एक आदमी अपने युग के अवगत राजनीतिक भूगोल के अनुसार आसानी से विजयों की कल्पना कर सकता है। यदि आज के पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, यू० एस०-एस० आर०, यू० ए० आर०, आदि का एशियायी राजनीतिक भूगोल किसी को ज्ञात हो तभी वह उन देशों के विजय की कल्पना करके अपने किसी नायक को उसका श्रेय दे सकता है। प्राचीन भारत का कोई कवि भला क्या इन राज्यनामों को भी देने की क्रान्तदर्शिता दिखाने का दुःसाहस करने में समर्थ हो सकता था ? साथ ही आज का कवि क्या हरप्पावासियों के किसी जननेता के तात्कालिक राज्य-विजयों की कल्पना भी प्रस्तुत कर सकता है। सब अपने मनोवैज्ञानिक परिवेश से ही ऐसे तत्त्व ग्रहण करते हैं और कर सकते हैं। सासानी सत्रपों के छोटे-छोटे राज्य एवं वलभी, गुर्जर, मौखरी, आदि राज्य गुप्तकाल के उत्तर-काल की विशेष उपजें हैं। समुद्रगुप्त की विजयों के समय पद्मावती, विदिशा व मथुरा में सर्वत्र नागवंशीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृपति थे। कालिदास ने मथुरा में स्पष्ट रूप से शूरसेनों की प्रतिष्ठा की है। विदिशा भी गुप्तों के समय में वहुत छोटा राज्य था, जबकि कालिदास उसे 'प्रथित-लक्षणा राजधानी' बताते हैं और वहाँ के अवन्तिनाथ को प्रयाणों के समय अश्वों के खुरों से उठी हुई धूलि से सामन्तशिखामणियों के प्रभाङ्कुरों को विनष्ट कर देनेवाले के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पद्मावती का कहीं भी पता नहीं है। अहिच्छत्र समुद्रगुप्त के समय एक अच्छा राज्य था कालिदास ने इसका नाम तक नहीं लिया। यही स्थिति समतत और नेपाल की भी है। दवाक और कर्तृपुर भी समुद्रगुप्त के द्वारा जीते गये थे उनका नाम तक कालिदास नहीं लेते। मालव, आर्जुनायन यौधेय और मद्रक का तथा सनकानीक, आभीर, प्रार्जुन, काक और खरपरिक का, जिन्हें कि समुद्रगुप्त ने जीता था, कालिदास न तो दिग्विजयों के प्रसङ्ग से और न स्वयंवर के प्रसङ्ग से ही नाम लेते हैं। यही स्थिति दक्षिण के अटवीराज्यों की तथा दक्षिणकोसल, महाकान्तार, पिष्टपुर, वेङ्गि, पालक्क, काञ्ची, देवराष्ट्र कौराल, कोट्टूर, अवमुक्त और कुस्थलपुर की भी है। इन्हीं स्थानों के कुल बारह राजाओं को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। रघु के दक्षिण दिग्विजय के वर्णन में इनमें से किसी का नाम तक नहीं मिलता। अस्तु, उत्तरभारत और दक्षिण भारत दोनों का राजनीतिक भूगोल कालिदास के 'रघुवंश' में समुद्रगुप्त के समय के राज्यों की स्थिति से तनिक भी मेल नहीं खाता। दोनों सर्वथा भिन्न हैं। यह भी कोई आसानी से सोच सकता है कि शायद कालिदास ने पौराणिक या ऐतिहासिक वाङमय से प्रेरणा ली हो। 'रामायण' में इन राज्यों का विवरण है ही नहीं। उस समय के कोसल, केकय, विदेह, दण्डकारण्य, पम्पा, जनस्थान, लङ्का आदि का कोई नाम तक नहीं है और न मथुरा के लवणादि की ही चर्चा है। पुराणों के प्रमुख राजवंश हैं, यादव, हैहय, द्रुह्यु, तुर्वसु, कान्यकुब्ज, पौरव, काशिराज, आनव, द्विमीढ, पाञ्चाल, रघु, विदेह और वैशाली। इनमें से रघुवंश व हैहयवंश के अतिरिक्त कोई नाम कालिदास ने नहीं दिये। 'महाभारत' के अन्धक, वृष्णि, कुकुर, पाण्डव, कौरव, यादव, करुष, धार्ष्टक, वैशाल, नाभानेदिष्ठ, आनर्त, निमि, दण्डक, ऐल, सूर्य-रघु हैहय, पाञ्चाल, शाशबिन्दव, आभीर, यवन, मद्र, गान्धार, भाद्रश्रेण्य, आनव, पौरव, औशीनर, यौधेय, अम्बष्ठ, सौवीर, जर्तिक, विदर्भ, वीतिहोत्र, तालजङ्घ, वत्स, क्रथकैशिक, भोज, सोमक, मत्स्य, प्रद्योत एवं शिशु-नाग, आदि में से रघुवंश, भोजवंश, क्रथकैशिक और हैहयवंश को छोड़कर किसी दूसरे का नाम कालिदास ने नहीं लिया है। अतः उससे भी उनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। रघु की विजय के प्रसङ्ग से पूर्व की ओर कई जनपदों के जीत लेने पर सुह्मों के झुक जाने के कारण वङ्ग और कलिङ्ग से युद्ध करने का वर्णन किया गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। वङ्गों के विषय में तो 'उत्खाय' ही लिखा गया है परन्तु कलिङ्गेश्वर से युद्ध का वर्णन छः श्लोकों में किया गया है। दक्षिण विजय के प्रसङ्ग से पाण्ड्यों और केरलों का ही वर्णन है। पश्चिम विजय के प्रसङ्ग से अपरान्त, पारसीक और यवन के साथ युद्ध का वर्णन किया गया है। उत्तर दिशा में पश्चिम की ओर सिन्धु के उत्तर में हूणों से युद्ध हुआ फिर काम्बोजों से युद्ध करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। हिमालय-प्रदेश में किरातों से और पर्वतीयगणों से घोर युद्ध करना पड़ा और किन्नरों को हराकर हिमालय के ही नीचे-नीचे चलकर अन्त में उत्तर-पूर्व में कामरूपेश प्राग्ज्योतिषेश्वर को युद्ध में पराजित करने का वर्णन करके विजययात्रा समाप्त कर दी गयी है।

इस विजयवर्णन में जिस प्रसङ्ग की ओर विशेष अङ्गुलिनिर्देश किया गया है वह हूणों का निर्देश है। श्री पाठक और डा० भाऊदा जी ने लिखा है कि हूणों की सत्ता भारतवर्ष में चौथी शकशताब्दी के अन्त में दिखाई देती है। अतः कालिदास को किसी भी तरह से ३७२ शकसंवत् के पूर्व नहीं रखा जा सकता। परन्तु उनका यह कथन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही नहीं माना जा सकता। डा० डी० सी० सरकार और डा० आर० सी० मजूमदार ने चीनी इतिहास के आधार पर यह लिखा है कि हूणों ने दूसरी शताब्दी ई० पू० में युएह्-चि को दक्षिण की ओर भगाया था और उसके बाद वे स्वयं दो शाखाओं में विभक्त हो गये थे। उनकी एक शाखा वोलगा नदी की ओर गई और दूसरी वंक्षु (Oxus) की ओर। हूणों ने वंक्षु नदी की घाटी में जुआन्-जुआन् नामक कबीलों को हरा दिया था। और पांचवीं शताब्दी ई० में उन्होंने भारत में प्रवेश किया था और यहाँ पर बहुत उत्पात और नरसंहार मचाया था। 'म-त्वान्-लिन्' और 'क्स–एन्' 'हन्-शु' ग्रन्थों में इनका विवरण मिलता है। डा० मजूमदार का कथन है—

"As early as the second century B. C. we find the nomadic Hūṇas living on the borders of China. Their quarrel with the Yuehchi, a neighbouring nomadic tribe, as mentioned above, led to the conquest of India by the Śakas and Kushāṇas about the first century of the Christian era. Later, the Hūṇas, like the Yuehchi, migrated towards the west and divided into two main streams, of which one flowed towards the Volga and the other to the Oxus." [The Classical Age p. 34]

कालिदास ने हूणों को सिन्धु नदी के उत्तर में पराजित कराया है और साथ ही उनके बाद किरातों अर्थात् चीनियों को भी रघु के द्वारा पराजित कराया है। इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार चीन की सीमा पर सिन्धु नदी के उत्तर में हूणों की स्थिति इतिहास के अनुसार असिद्ध नहीं और विशेषतः किरातों के साथ। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो लोग कालिदास को समुद्रगुप्त की दिग्विजयों के आधार पर रघु की विजय को वर्णित करनेवाला मानते हैं वे नितान्त भ्रम में हैं क्योंकि समुद्रगुप्त ने सिन्धु नदी के उत्तर में हूणों या चीनियों से कभी लड़ाई नहीं लड़ी। साथ ही उनका वर्णन महाभारत या रामायण के आधार पर भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें भी हूण-पराजय का कोई प्रसङ्ग नहीं आया है। एक और भी बात ध्यान देने की है और वह है यवनों के साथ युद्ध। इन पारसीक यवनों को कालिदास ने कोशल से पश्चिम की ओर बताया है। अपरान्त से रघु समुद्र के तट पर होकर उनके प्रदेश में जाते हैं। यह तथ्य भी 'महाभाष्य' में वर्णित पुष्यमित्र के युग से सम्बन्ध जोड़ देता है। पतञ्जलि का कथन है—"अरुणद् यवनः मध्यमिकाम्।" मध्यमिका जयपुर में 'नगर' के पास थी। अतः इसकी स्थिति पश्चिम दिग्विजय के प्रसङ्ग से दिखाना नितान्त इतिहास-सम्मत है और यह भी अग्निमित्र शुङ्ग के युग की ही घटनाओं को हमारे सामने प्रस्तुत कराती है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार हम यह बड़ी आसानी से निश्चय कर सकते हैं कि कालिदास के ग्रन्थों का अन्तःसाक्ष्य उन्हें स्पष्ट रूप से अग्निमित्र शुङ्ग का समकालीन सिद्ध करता है। हो सकता है कि मालवगण के शकारि विक्रमादित्य के दरबार में अपने जीवन के चरमयाम में रहे हों। यदि किसी को शकारि विक्रमादित्य के ऐतिह्य अथवा कालिदास के दीर्घजीवित्व में संशय हो तो मुझे अपने निश्चय के इस अंश के प्रति कोई अभिनिवेश नहीं। इस तत्त्व से कोई किसी भी आधार पर नकार नहीं सकता कि कालिदास अग्निमित्र शुङ्ग के समकालीन थे।

अन्त में कालिदास के रचनाकालविषयक मतान्तरों को संक्षेप से देकर उनकी मुख्य-मुख्य युक्तियों का निरसन भी प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ। इस सिद्धान्त के अतिरिक्त चार मत प्रायेण प्रस्तुत किये गये हैं। पहला है मालवगण के शकारि विक्रमादित्य की समकालीनता का। इस मत से हमारा कोई विरोध नहीं है यदिच कालिदास को अग्निमित्र का भी समकालीन माना जाय। अन्यथा केवल विक्रमादित्य का समकालीन मानने पर "प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्" यह उक्ति और "सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे" में भविष्यत् काल की क्रिया अपार्थ हो जायगी। कालिदास ने और किसी नाट्य में इसके विपरीत विक्रमादित्य के विषय में ऐसी भरतोक्ति भी नहीं प्रस्तुत की है। "विक्रमोर्वशीय" के जिस 'विक्रम' शब्द की इतनी खींचतान की जाती है उसके भी भरतवाक्य में कवि ने विक्रमादित्य का नाम तक नहीं लिया। अतः केवल 'ज्योतिर्विदाभरण'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के कथनानुरोध से अथवा एक प्राचीन परम्परामात्र के अनुसार अग्निमित्र-विरहित विक्रमादित्यमात्र की समकालीनता का सिद्धान्त किसी भी तरह से अन्तः-साक्ष्यानुसारी नहीं माना जा सकता। ग्रन्थों के मनोविश्लेषणात्मक परिवेश का पर्यालोचन भी इस तथ्य के लिए प्रमाणान्तर उपस्थित करता है और उसे ऊपर दिया जा चुका है। अन्य पोषक प्रमाण आगे उपन्यस्त किये जायँगे।

दूसरा सिद्धान्त प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् श्री डी० बी० केतकर ने प्रस्तुत किया है; उनका मत है कि कालिदास २०२ शक संवत् के आस-पास हुए थे। कालिदास ने रघुवंश [१६-४०] में "घर्म आजगाम" इस पदोच्चय में उस उदगयन का निर्देश किया है, जिसके दो तृतीयांश व्यतीत हो गये थे इसके अनन्तर उन्होंने इस पद्य में दक्षिणायन का निश्चित स्थान बताया है—

"अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते।
आनन्दसीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज॥"

अर्थात्—अगस्त्यचिह्नायनस्थान के पास से लौटे हुए सूर्य को देखकर उत्तर-दिशा आनन्दित हो गयी। वराहमिहिर की 'पञ्चसिद्धान्तिका' और सूर्यसिद्धान्त में अगस्त्य का अंश अश्विनी नक्षत्र से आरम्भ करके ९० बताया गया है। उपर्युक्त वर्णन से लगता है कि कालिदास ने दक्षिणायन या कर्कसङ्क्रान्ति के क्रान्तिवृत्त में अश्विनी नक्षत्र से ९० अंशों पर अर्थात् पुनर्वसु के पास बतायी है। वराहमिहिर के समय में दक्षिणायन पुनर्वसु नक्षत्र के मध्य में होता था अर्थात् ८६ अंश ४० कला पर। एक नक्षत्र को अयन-चलन में अर्थात्—१३ अंश २० कला—९६० वर्ष लगते हैं। अतः दक्षिणायन स्थान के ९० अंशों पर होने का समय वराहमिहिर के २४० वर्ष पूर्व का होना चाहिए। श्री केतकर आचार्य वराहमिहिर का समय शक सं० ४४८ मान कर कालिदास का समय शक सं० २०२ नियत करते हैं। वराह-मिहिर का कालनिर्णय करने का आधार ब्रह्मगुप्त के 'खण्डखाद्य' की आमराज-कृत टीका का यह कथन माना जाता है—"नवाधिकपञ्चशतसङ्ख्यशाके वाराहमिहिराचार्यो दिवङ्गतः"। प्रश्न यह है कि आमराज ने किस शक सं० का निर्देश किया है, वह शक सं० जो ७८ ई० में प्रवर्तित हुआ या और किसी शक सं० का, जिसको कि वराहमिहिर के ज्यौतिष सिद्धान्त में माना जाता था? वराह-मिहिर ने अपनी 'बृहत्संहिता' में शक सं० के प्रवर्तन का समय दिया है—

"ध्रुवनायकोपदेशान्नरिनर्तीवोत्तरा भ्रमद्भिश्च।
यैश्चारमहन्तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात्।
आसन्मघासु मुनयश्शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्यस्य॥" (१३.२-३)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन कारिकाओं के अनुसार युधिष्ठिर-संवत् और वृद्धगर्ग के मतानुसार चलनेवाले शकसंवत् के बीच का अन्तर २५२६ वर्षों का बताया गया है। इस शक सं० की प्रवर्त्तना विक्रम सं० के ५१८ वर्ष पूर्व की गयी थी। आमराज के अनुसार वराहमिहिर ५०९ शक सं० में दिवङ्गत हुए अर्थात उनका निधनकाल विक्रमादित्य के प्रवर्त्तित सं० के ९ वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। इस वृद्धगर्ग के सिद्धान्तानुसार **केतकर जी** के बताये हुए कालिदास का समय विक्रमसंवत् के प्रवर्त्तन के कम से कम २५० वर्ष पूर्व का माना जाना चाहिए। अयनचलन सूक्ष्म गति से होता है अतः उसमें सौ-डेढ़-सौ वर्षों का अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं होता। अतः कालिदास को आसानी से हम पुष्यमित्र और अग्निमित्र का समकालीन मान सकते हैं; और फिर कालिदास ने अपने समय के दक्षिणायन स्थान को सूक्ष्मरीति से तो कहा नहीं, अन्यथा क्रान्तिवृत्त के बाहरी तारक का निर्देश करके उस वृत्त के पुनर्वसु नक्षत्र का ही उल्लेख करते। इस प्रकार यह तर्क कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन मानने में और भी सहायक सिद्ध होता है।

तीसरा सिद्धान्त है चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय (३०२–३३५ शक सं०) की समकालीनता का। इस मत के प्रवर्त्तक **वी० ए० स्मिथ** हैं और इसके पोषक **प्रो० पाठक, कीथ, मैक्डानेल** आदि हैं। इसी मत की पुष्टि **प्रो० मिराशी** ने भी की है। अब हम इस मत के मुख्य तर्कों की परीक्षा करेंगे। सबसे अधिक प्रधानता हूणों की ओर किये गये सङ्केत को दी गयी है। **प्रो० पाठक** का कथन है कि हूणों ने वङक्षु नदी को ३५० शक सं० के आस-पास पार किया और ३७५ शक सं० के आस-पास अपने साम्राज्य का निर्माण किया। अतः हूणों पर रघु की विजय दिखानेवाले कालिदास का समय चौथी शकशताब्दी के चरमावसान में माना जाना चाहिए, परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है हूण वङक्षु के उत्तर में अग्निमित्र के समय में ही मौजूद थे। इसका साक्षी चीनी इतिहास है। साथ ही हूण शब्द का प्रयोग पारसियों के 'अवेस्ता' ग्रन्थ तथा 'महाभारत' में मिलता है। यही नहीं 'ललित-विस्तर' में भगवान् बुद्ध के द्वारा सीखी गयी लिपियों के मध्य हूणों की लिपि का भी नाम आता है। अतः **प्रो० पाठक** आदि विद्वानों के इस तर्क में कोई जान नहीं है। **महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री** ने 'मोलापो' के विषय में हु-एन्-साँग का यह कथन कि वहाँ शीलादित्य के राजा ने ६०८ शकाब्द से लेकर ६५८ शकाब्द तक अर्थात ५० वर्षों तक राज्य किया था प्रमाण मानकर 'शीलादित्य' को विक्रमादित्य माना है और उसका सम्बन्ध "राजतरङ्गिणी" के इस कथन से कि उन्होंने अपने विद्वान् मित्र कवि मातृगुप्त को काश्मीर के सिंहासन पर बैठाला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था जोड़ दिया है। राज्यतरङ्गिणी में विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराभव का वर्णन है। इसी समय मालवदेश में यशोधर्मदेव नाम का एक पराक्रमी राजा हुआ। इसने मिहिरकुल नामक हूण राजा को परास्त किया और राजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियों से विभूषित हो उठा। यही यशोधर्मा हु-एन्-साँग का शीलादित्य है और कल्हण का विक्रमादित्य है। और जिसको उन्होंने काश्मीर के राजा के रूप में प्रतिष्ठित किया था वे मातृगुप्त ही कालिदास थे।' इस कथन में काव्य-कल्पना का-सा आनन्द तो मिलता है लेकिन शुद्ध तर्क की दृष्टि से इससे किसी पक्ष का कोई समर्थन नहीं हो पाता, जितनी कल्पित बातों को यहाँ पर समाहृत कर दिया गया है उनमें से किसी के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया। 'मोलापो' के विषय में उसे 'मालव' मानना बंगाली उच्चारण का प्रभाव छोड़ कर और कुछ नहीं है। **प्रो० सिल्वाँ लेवी** ने 'मोलापो' और 'मालव' की एकता का खण्डन किया है और उन्होंने उसी समय के वलभी के शीलादित्य के साथ हु-एन्-साँग के कथन का सङ्गमन किया है। दूसरी बात इसके सम्वन्ध में यह भी सोचने की है कि विक्रमादित्य को शकारि माना जाता है और यशोधर्मदेव के शकारि होने का न तो कोई प्रमाण मिलता है और न शकों का उस समय कहीं नाम हीं मिलता है। दूसरी बात यह कि मातृगुप्त कालिदास था इसके लिए क्या प्रमाण है? कालिदास उपनाम रखने के लिए सुधी-समाज में लब्ध-वर्ण हो चुके हुए किसी पूर्ववर्त्ती कालिदास का होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा कोई अपना उपनाम कलिदास क्यों रखेगा? यदि पहले का कालिदास साधारण कृतियों का रचयिता हो तो उससे विशिष्ट रचनाओं का कृती अपने को कालिदास कहने में गौरव न मानकर अपमान समझेगा। मातृगुप्त की रचनाओं को कालिदास-कृत और कालिदास की रचनाओं को मातृगुप्त-कृत के रूप में किसी भी ग्रन्थकार ने कहीं भी नहीं प्रस्तुत किया है। अतः यह अभेद क्यों और कैसे? स्वयं राजतरङ्गिणीकार कल्हण मातृगुप्त की प्रशंसा में लगभग दो सौ श्लोक लिखता है परन्तु कहीं भी उसे कालिदास की समाख्या नहीं प्रदान करता। यदि काश्मीर में ऐसी किसी परम्परा को प्रश्रय न मिल सका, तो महामहोपाध्याय जी की बात को मानकर मातृगुप्त को कालिदास कहना सत्य के साथ अतिचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तीसरा तर्क जो इसके सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जाता है वह दिङ्नाग और निचुल का उल्लेख है। कालिदास ने पूर्वमेघ में—'स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्' लिखा है। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में यह बताया है—''अत्रेदमप्यर्थान्तरं ध्वनयति। रसिको निचुलो नाम महाकविः कालिदासस्य सहाध्यायी परापादितानां कालिदासप्रबन्धदूषणानां परिहर्ता। यस्मिन्स्थाने तस्मात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थानादुदङमुखो निर्दोषत्वादुन्नतमुखः सन् पथि सारस्वतमार्गे दिङनागानाम्। पूजायाम् बहुवचनम्। दिङनागाचार्यस्य कालिदासप्रतिपक्षस्य। हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्। 'अवलेपस्तु गर्भे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः। अद्रेरद्रिकल्पस्य दिङनागाचार्यस्य शृङ्गं प्राधान्यम्। 'शृङ्गं प्राधान्य-सान्वोश्च' इत्यमरः। हरति किंस्विदिति हेतुना शुद्धैः सारस्वतसिद्धैर्महाकवि-भिरङ्गनाभिश्च दृष्टोत्साहः सन् खमुत्पत उच्चैर्भवेति स्वप्रबन्धमात्मानं वा प्रति कवेरुक्तिरिति।" इस पद में आये हुए निचुल और दिङनाग में से दिङनाग का समय चतुर्थ शकशताब्दी का आदि माना जाता है। अतः कालिदास को मल्लिनाथ के साक्ष्य के आधार पर अपनी ही उक्त रचना के अनुसार दिङनाग का समकालीन माना जाना चाहिए। परन्तु कालिदास की रचनाओं का इस प्रकार का अर्थ मल्लिनाथ की असहृदयता का द्योतक है। अपने प्रतिपक्षी को पूजार्थ में बहुवचन देकर प्रस्तुत करना कालिदास क्या कोई भी कवि किसी भी दशा में उचित नहीं मान सकता और फिर जब उसे एक वस्तु-ध्वनि की प्रतीति करानी हो। साथ ही अपने सहाध्यायी और सपक्षी को वे क्योंकर प्रतिपक्षी को बहुवचन के द्वारा आदर प्रदान करने के पश्चात् एकवचन के द्वारा अनादृत करेंगे--यह भी किसी भी सहृदय की समझ के परे है। साथ ही जिस स्थान का निर्देश किया गया है वह रामगिरि है। रामगिरि पर्वत पर यक्ष शाप-वश दण्ड भोगने के लिये गया हुआ था न कि वह कोई प्राचीन भारतीय विद्या-मन्दिर था जहाँ पर कि कालिदास और उनके दोनों सहाध्यायियों के उपस्थित होने की कल्पना या सम्भावना भी की जा सकती। मध्य-भारत की उस सूखी पहाड़ी पर किसी नगरी की भी सम्भावना उस समय न थी जहाँ कि ये तीनों व्यक्ति कभी जा भी सकते। इसके सम्बन्ध में एक और भी बात ध्यान देने की है कि जिस दिङनाग से मल्लिनाथ के दिङनाग का अभेद स्थापित किया जाता है उसे हम एक बौद्धदार्शनिक-मात्र के नाम से जानते हैं। कवि दिङनाग के बारे में हमारे पास मल्लिनाथ के इस साक्ष्य के अतिरिक्त कोई भी और साक्ष्य नहीं है। रहे निचुल कवि, उनके सम्बन्ध के भ्रम का बीज इधर की खोजों से स्पष्ट हो चुका है। "मद्रास गवर्नमेंट मैनस्क्रुप्ट्स लाइब्रेरी" के "कैटलॉग" (१९०६) (पृ० ११७५) में इसका रहस्य मिल जाता है। कालिदासकृत "नानार्थशब्दरत्न" की निचुलकृतटीका के आदिलेख और अन्तलेख इसका मूल बता देते हैं। यह कालिदास भोजकालीन था। आदिलेख है—"स्वमित्रकालिदासोक्तशब्दरत्नार्थजृम्भितम्। तरलाख्यालसद्व्याख्यामाख्याते तन्मतानुगम्।" और अन्तलेख है—"इति श्रीमन्महाराजशिरोमणिश्री-भोजराजप्रबोधितनिचुलकवियोगिचन्द्रनिर्मितायां महाकविकालिदासकृतनानार्थ-शब्दरत्नकोशरत्नदीपिकायां तरलाख्यायाम्।" इनसे स्पष्ट है कि भोज का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजकवि कालिदास निचुलकवि का मित्र था। निचुल ने इस कालिदास के कोशग्रन्थ की टीका लिखी अतः परम्परा से मल्लिनाथ को यह भ्रम मेघदूतकार कालिदास के सम्बन्ध में हो गया। चौथा तर्क 'ज्योतिर्विदाभरण' में आया हुआ यह कथन है—"धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥" इसके आधार पर विद्वज्जन यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि कालिदास विक्रमादित्य का समकालीन था और इतिहास के पृष्ठों में जिस विक्रमादित्य की सम्भावना ऐतिह्यभर के आधार पर निश्चप्रच है वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ही है। परन्तु इस ग्रन्थ में जो ज्योतिर्विषयक उल्लेख है उसके आधार पर यह स्वयं वारहवीं शकशताव्दी का बना हुआ ठहरता है।[1] जो नाम इसमें आये हैं वे सब के सब प्रायेण भिन्न काल के हैं। वररुचि का समय चतुर्थ शतक शकपूर्व में रखा जाता है। वराहमिहिर के काल के विषय में ऊपर हम वता चुके हैं। ज्योतिष्-विषयक तर्कों के आधार पर ही कालिदास का समय उनसे भिन्न ठहरता है। जहाँ तक धन्वन्तरि का प्रश्न है वे सुश्रुत के गुरु थे और सुश्रुत चरक का अनुज समसामयिक था। चरक का समय **सर ब्रजेन्द्रनाथ सील** के अनुसार शकशताब्दी का प्रारम्भ है (देखिये 'Positive Sciences of the Ancient Hindus पृ० ६२)। क्षपणक शब्द से कुछ भी पता नहीं चल सकता कि किस व्यक्ति के लिये यह संज्ञा आयी है ? अमरकोशकार का समय महायान बौद्ध-धर्म की मान्यताओं तथा पौराणिक हिन्दूमान्यताओं के आधार पर चतुर्थ शकशताब्दी के अन्त में रखा जाता है। जिस शङ्कुक के विषय में हम काश्मीर के इतिहास के आधार पर जानते हैं उसका समय अष्टम शकशताव्दी में रखा जाता है। घटखर्पर और वेताल-भट्ट के काल के विषय में भी हम कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। अस्तु सिद्ध होता है कि इस उक्ति के नवरत्न प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न युग, चतुर्थ शतक शकपूर्व से लेकर अष्टम शकशताब्दी तक, के हैं। अतः वे किसी भी एक विक्रमादित्य के समकालीन नहीं हो सकते। क्योंकि ग्यारह सौ वर्ष जीनेवाले विक्रमा-

---

१. इस ग्रन्थ का (१।१८) श्लोक सूर्य और चन्द्रमा के उस योग को प्रस्तुत करता है जो ११६४ शकसंवत् में आता है। दूसरे इसमें वराहमिहिर के सिद्धान्त को अध्ययन करके लिखने की बात आती है—"मत्वा वराहमिहिरादिमतैः।" रघुवंशकार कालिदास का समय १६वें सर्ग के उपरिलिखित ४०वें और ४४वें पद्य के अनुसार वराहमिहिर से कम से कम सौ वर्ष पूर्व आता है और अधिक से अधिक दो सौ चालीस वर्ष।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दित्य का अगर पता चल जाय तो इतिहास की सारी गुत्थियाँ खुल जायँ। पाँचवाँ तर्क और भी अधिक हास्यास्पद है। उसे **प्रो० पी० सी० सेन गुप्त** ने 'एन्सिएण्ट इण्डियन क्रोनॉलॉजी' (पृ० २६३) पर व्यक्त किया है। मेघदूत के तीन पदोच्चयों पर वह तर्क पूर्णतः आधारित है—(१) 'आषाढस्य प्रशमदिवसे।' (२) 'प्रत्यासन्ने नभसि' (३) 'शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ।' उनका कथन है कि यक्ष ने 'चान्द्राषाढ' की एकादशी को मेघ को देखा। उसके दूसरे दिन ही सौर श्रावण का आरम्भ होनेवाला था और देखने के ठीक चार महीने बाद कार्तिक की एकादशी (देवोत्थानी) आनेवाली थी। कालिदास के काल में दक्षिणायनारम्भ इसी दिन हुआ करता था और वर्षा शुरू हो जाती थी। इन सारी बातों के आधार पर उन्होंने इसकी तारीख़ २० जून ५४१ ई० नियत की (सौर आषाढ ३०, ४६३ शक संवत्)। परन्तु कालिदास के ग्रन्थ की सही पर्यालोचना हमें इस निष्कर्ष को मानने में पूर्णतः बाधक सिद्ध होती है। एक तो प्राचीनता तथा अधिक-व्याख्याकारसम्मति दोनों की दृष्टि से 'प्रशमदिवसे' की जगह 'प्रथमदिवसे' ही अधिक समीचीन है। दूसरे 'प्रत्यासन्ने' का अर्थ दूसरा ही दिन कदापि नहीं होता। जहाँ चार महीनों को 'लोचने मीलयित्वा' कहकर बिताने की बात प्रस्तुत की गयी हो वहाँ प्रत्यासन्ने का निकट अर्थ ही अभीष्ट है। इतने निकट के अर्थ में न तो प्रत्यासन्न शब्द रूढ है और न इसके लिये लक्षणा के हेतुत्रितय ही विद्यमान हैं। और फिर चार महीने और चार महीने दस दिन में कोई इतना अन्तर नहीं होता कि उसके लिये इतनी बारीक गणना की आवश्यकता हो। इसके अतिरिक्त कालिदास ने कहीं भी दक्षिणायनारम्भ की बात नहीं प्रस्तुत की है। अतः इसको हम एक ज्योतिर्विद् का साहित्य पर अनावश्यक अतिक्रममात्र कह सकते हैं। और इसी प्रकार का उनका दूसरा तर्क है जो 'शाकुन्तल' के "उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्" पर आधारित है। इस उज्जयिनी के खग्रास चन्द्रग्रहण की तारीख़ उनके अनुसार ८ नवम्बर ५४२ ई० है। परन्तु स्थानभेद से इसका काल बदल जायगा और पता नहीं कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अभिनय कहाँ हुआ हो और कहाँ उन्होंने स्वयं लिखा हो। फिर इस प्रकार के शुद्ध अप्रस्तुतों को प्रस्तुत करते समय क्या कोई कल्पनाविहारी महाकवि अपने पूर्ण-खग्रास-चन्द्रग्रहण-दर्शन की कल्पना को देशविशेष के परिवेश में रखता है। यह कालिदास की डायरी नहीं उनकी कल्पना की मधुर अधित्यका है जहाँ कि जाने कब और कहाँ का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, अवचेतन में किस तरह समाकर कब और कहां, अभिव्यक्त हो उठता है। प्रतिभा के बल से कालान्तर और देशान्तर के तत्त्व एवं कल्पित-तत्त्व सभी रचना को रमणीयता प्रदान करते रहते हैं। इसी प्रकार के ज्यौतिष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर आधारित तर्क **प्रोफेसर याकोबी** और **हुट** के हैं जो 'विक्रमोर्वशीय' के मध्याह्न में, काल के षष्ठांश के आधार पर पाश्चात्य 'होरा' का, जो दिन का द्वादशांश है, प्रभाव देखते हैं; अथवा आर्यभट का प्रभाव कालिदास पर देखने का प्रयास करते हैं। ये सब इतनी मोटी बातें हैं जिनका आदान-प्रदान भारत और पाश्चात्य देशों के बीच जाने कब से होता रहा है। जब अब अलेग्जैन्डर महान् को सर्वप्रथम यवन-सम्बन्ध का मूल नहीं माना जाता तो इन बातों के कारण कालिदास को गुप्त-काल में पहुँचाने की बात ही नहीं उठती। इसी प्रकार का **कीथ साहब** का 'जामित्र' और 'उच्च' के विषय का विचार है जिसके आधार पर वे बड़े तपाक से ३५० ई० (अर्थात् २७२ शकाब्द) के बाद का कालिदास को मान बैठते हैं। ये सिद्धान्त ग्रीस के इतिहास में भी हिपार्कस की देन माने जाते हैं। वह नीशिया का निवासी था। **डा० गोरखप्रसाद जी** का कथन है—"१६१ से १४६ ई० पू० में वह अलैक्जैंड्रिया में ज्यौतिषवेध किया करता था और उसके पहले अपनी जन्मभूमि में।"[१] अतः उसका समय हम २५० शकपूर्व में आसानी से रख सकते हैं। तो कालिदास को उसकी जानकारी हो जाने में क्या हर्ज है? साथ ही जब भारत का पश्चिम से ज्यौतिष-सम्बन्धी सम्बन्ध इतना पुराना है कि "पाइथागोरस ने लगभग ५३० ई० पू० में बैबिलोनिया, मिस्रदेश और भारतवर्ष आदि देशों में पर्यटन करके तथा निजी खोज से ज्यौतिष तथा गणित का विशेष ज्ञान प्राप्त किया।"[२] स्वयं आचार्य वराहमिहिर पोलिश और रोमक सिद्धान्तों का विशद विवेचन करते हैं। तो इससे कालिदास का काल कैसे गुप्तकाल में रख दिया जा सकेगा?

डा० कीथ का एक और तर्क है प्राकृत-भाषा का। उनका कहना है कि कालिदास की प्राकृत भास की प्राकृत से अर्वाचीनतर है अतः उन की रचनाएँ भास के बाद की मानी जानी चाहिए। इसे तो कालिदास स्वयं ही स्वीकार करते हैं—"भाससौमिल्लककविपुत्रादीनाम्।" भास का समय भी अभी तक नहीं निश्चित हो पाया है कि जिससे कि हम किसी अनभीष्ट आशङ्का के शिकार बनें। इतना ही निश्चित है कि भास कालिदास के पूर्ववर्ती थे। अब अश्वघोष से उनके पौर्वापर्य के विषय में प्राकृत की प्राचीनता का प्रमाण-परीक्षण कर लें। इसके विषय में स्वयं प्रो० कीथ कहते हैं—

"Changes in speech and the representation of them in litera-

---

१. भारतीय ज्यौतिष का इतिहास (पृ० १२१–१२२)

२. भारतीय ज्यौतिष का इतिहास (पृ० १२०-१२१)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ture are matters which do not in the slightest degree permit of exact valuation in terms of years."—"*The Sanskrit Drama*" (p. 94)

यही नहीं अश्वघोष के नाट्य प्रायेण प्रयोगापन्न हुए ही नहीं सबसे अधिक प्रचुर-प्रयुक्त कालिदास के ही नाट्य रहे हैं अतः उन पर प्रयोक्ता पात्रों का प्रभाव और प्रतिलिपिकारों का प्रभाव भी बहुत अधिक पड़ना स्वाभाविक है। वस्तुतः प्राकृत के रूपों की दृष्टि से कालिदास की कृतियों में मौलिक रूप की सुरक्षा ढूँढना ही व्यर्थ है। दाक्षिणात्य चाक्यार संस्करणों के प्राकृतरूप और बङ्गसंस्करणों के प्राकृतरूप तथा मध्यदेशीय-संस्करणों के प्राकृतरूपों में इतना अन्तर मिलता है कि कौन कालिदासीय माना जाय और कौन नहीं यही कहना कठिन है।

अब हम उन अतिरिक्त तर्कों की चर्चा करेंगे जिन्हें कि डा० मिराशी ने प्रबल प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है। पहला तर्क ऐसा है कि उससे मेरे सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं। वह है मन्दसोर के वत्सभट्टि के शिलालेख (३९५ शक-संवत्) में कालिदास के 'मेघदूत' (उ० १) और 'ऋतुसंहार' (५.२-३) का प्रतिबिम्ब। उनका निष्कर्ष डा० ब्यूलर, कीलहार्न आदि के अनुसार कालिदास की पूर्ववर्तिता का है। इससे हम भी पूर्णतः सहमत हैं। दूसरा तर्क उनका पूर्णतः अमान्य है। उनका कथन है—कालिदास ने वात्स्यायन के कामशास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। विवाहित स्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए वात्स्यायन ने निम्नलिखित सूत्र लिखे हैं—

"श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता। × × × भोगेष्वनुत्सेकः। परिजने दाक्षिण्यम्। × × × नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषता नात्यर्थं निवदेत्।"—
(कामसूत्र पृ० २३९, २३६)।

उक्त सूत्रों में इधर-उधर बिखरे हुए विचारों की एक सुन्दर पुष्पमाला गूँथ कर कालिदास ने कुलपति कण्व के मुखसे नववधूशकुन्तला को एक बहुत ही उत्कृष्ट, भावपूर्ण उपदेश निम्नलिखित श्लोक द्वारा दिलाया है—

'शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥'

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जो सर्वोत्कृष्ट चार श्लोक माने जाते हैं उनमें काव्यरसिकों ने इस श्लोक को परिगणित किया है। परन्तु इस श्लोक में मूलकल्पना वात्स्यायन की है। कामशास्त्र में जिस राजकीय परिस्थिति का उल्लेख किया गया है उसके अनुसार वात्स्यायन का काल विद्वानों ने ईसवी तीसरी शताब्दी का मध्यकाल ठहराया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः कालिदास ईसवी सन् २५० के पीछे हुए होंगे।" परन्तु पता नहीं कैसे एक सूक्ष्मेक्षिकासम्पन्न विद्वान् को इस प्रकार के तर्क पर इतनी ग्रहग्रहिलता उत्पन्न हो गयी। वस्तुतः 'कामसूत्र' एक बाभ्रव्यकृत प्राचीनतर ग्रन्थ का सङ्क्षिप्तरूप-मात्र है। स्वयं 'कामसूत्र' का कथन है कि ब्रह्माजी ने स्वयं एक लाख अध्यायों में धर्म, अर्थ और काम का विवेचन किया। मनु ने धर्म पर उसी के आधार पर प्रथम मानवीय कृति प्रस्तुत की। अर्थ पर इसी प्रकार प्रथम पौरुषेय रचना बृहस्पति ने लिखी; और इसी तरह काम पर प्रथम ग्रन्थ नन्दिन् ने लिखा इसमें एकसहस्र अध्याय थे। इस 'कामशास्त्र' के दो संक्षेप प्रस्तुत किये गये—एक बाभ्रव्य के द्वारा और दूसरा श्वेतकेतु के। बाभ्रव्य पाञ्चाल के ग्रन्थ में १५० अध्याय थे और यह सात भागों में बँटा था। प्रत्येक भाग पर एक-एक आचार्य ने अलग-अलग ग्रन्थ लिखे और वे आचार्य थे चारायण, घोटकमुख (इन दोनों के नाम 'अर्थशास्त्र' में भी मिलते हैं), गोनर्दीय, गोणिकापुत्र (इन दोनों के नाम पतञ्जलि के "महा-भाष्य" में भी मिलते हैं), दत्तक, सुवर्णनाभ और कुचुमार। दत्तक के एक सूत्र को वात्स्यायन ने अपने (६. ३-२०) सूत्र में प्रस्तुत किया है, इसे यशोधर की टीका ही स्पष्ट कर देती है। इसी तरह उनके दो सूत्र 'धूर्तविटसंवाद' (पृ० २४) और 'पादताडितक' (पृ० २८) में भी उद्धृत हैं। 'कुट्टनीमत' में भी 'दत्तक' उद्धृत किये गये हैं। अस्तु, कालिदास ने मूलतः प्रेरणा बाभ्रव्य से पायी या नन्दिन् से अथवा चारायणादि के ग्रन्थों से यह कौन कह सकता है? फिर ऐसे उपदेश मनुस्मृति (२. १५०,२. १५४, ९. १७, ९. २८, ९. ८६) आदि में भी पर्याप्त रूप से मिलते हैं, अतः यह भी कहना कठिन है कि कामशास्त्र ही मूल है। कण्व जैसे महर्षि की पतिगृह जाती हुई पुत्री के प्रति यह उक्ति प्रस्तुत करते समय कालिदास कामशास्त्र को आधार बनाएँगे यह सम्भव भी नहीं। क्योंकि इस प्रकार वक्त्रौचित्य बोद्ध-व्यौचित्य और प्रकरणौचित्य सभी का अभिघात होगा। और यदि 'कामसूत्र' को आधार मान भी लिया जाय तो भी कालिदास की अग्निमित्रसमकालीनता अक्षुण्ण रहती है। क्योंकि चकलादार के उस मत को मानना अपेक्षित नहीं है जिसके आधार पर 'कामसूत्र' का समय १७२ शकाब्द के बाद रखा गया है। वस्तुतः एक ही ऐतिहासिक सङ्केत कामसूत्र में मिलता है और वह है—"कर्त्तर्या कुन्तलः शात-कर्णिः शातवाहनः महादेवीं मलयवतीं जघान॥" **श्री टी० एस० नारायण शास्त्री** ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल पर्याप्त तत्त्वचिन्ता के बाद ५६३ शकपूर्व से लेकर ५४२ शकपूर्व तक निर्धारित किया है। परन्तु यह समय तभी सही माना जा सकता है यदि शातवाहन शातकर्णि का समय 'कलियुगराजवृत्तान्त' और 'मत्स्यपुराण' के अनुसार कलिवर्ष २४८१-२४८७ अर्थात् ६९२ शकपूर्व से लेकर ६८६ शकपूर्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक नियत किया जाय। **श्री एम० कृष्णामाचारी** ने चौथे शतक शकपूर्व में इस ग्रन्थ का समय नियत किया है—"We may safely assign Vātsyāyana to the 4th or 3rd century B.C." अनूपनरेश शातकर्णि की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यह शातवाहनकुल का नृपति कुन्तलेश्वर भी था और उसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। **प्रो० रैप्सन** ने इस शातकर्णि को पुष्यमित्र शुङ्ग का समकालीन माना है और इसे ही उज्जयिनीश भी सिद्ध किया है—

"It appears most likely, then, that Ujjayinī-was wrested from the first Śunga king, Pushyamitra by Śātakarṇi."

[Cambridge History of India Vol. I p. 479]

अतः इसके समकालीन वात्स्यायन और उनके अनुज समसामयिक कालिदास रहे होंगे और इस प्रकार दोनों को बाभ्रव्यादि के ग्रन्थ उपलब्ध रहे होंगे। अतः कलिदास के काल पर इस कामसूत्रोक्ति का प्रथमतः तो कोई प्रभाव नहीं है और यदि उसे माना भी जाय तो उससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि कालिदास १७२ शकाब्द के बाद के हैं। अपने अग्रज समसामयिक से वे शुङ्गकाल में भी प्रेरणा ले सकते थे। अतः इस तर्क के आधार पर मिराशी जी के द्वारा निर्धारित कालिदास का कालनिर्णय पूर्णतः अप्रामाणिक है।

उनका तीसरा तर्क ऐतिहासिक स्याद्वाद पर आधारित है। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में अधिकरणौचित्य को प्रस्तुत करते हुए किसी 'कुन्तलेश्वरदौत्य' से कालिदास का यह उद्धरण दिया है—

"इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणामिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्॥"

और इसके बाद उन्होंने लिखा है—"अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते—'यदस्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भप्राग्भारनिष्कम्पे धरासने स्थानं युक्तं यस्मादिहैव मेरुचलचक्रवर्ती समुपविष्टः सप्त महाब्धयश्च। तत्तुल्यतैवास्माकमित्यौचित्यमधिकरणपदसम्बद्धमेव।"

इसमें किस राजा का कौन दूत किस राजा के पास गया था इसका पता नहीं चलता। महाराजभोज के 'शृङ्गारप्रकाश' (२२-२४) और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' (पृ० ६०-६१) में एक पद्य और 'कुन्तलेश्वरदौत्य' का मिलता है—

"असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥"

भोजराज ने इसके विषय में लिखा है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"तद्यथा कालिदासः 'किङ्कुतलेश्वरः करोति'—इति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान् 'असकलहसितत्वात्'।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'काव्यमीमांसा' में इसके अनन्तर विक्रमादित्य का उत्तर भी है और उसके रूप में उक्त पद्य का द्वितीयार्ध ही 'पिबति' के स्थान पर 'पिवतु' और 'त्वयि' के स्थान पर 'मयि' रखकर प्रस्तुत किया गया है। इसी तन्तुमात्र पर एक लम्बी-चौड़ी कल्पना महामहोपाध्याय जी ने कर डाली है—"द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का आश्रय जैसा वाकाटकों को था वैसा ही इन राष्ट्रकूटों को भी रहा होगा। कदाचित् उसने उनके साथ विवाहसम्बन्ध भी जोड़ा होगा। चन्द्रगुप्त का समकालीन राष्ट्रकूट नृपति देवराज था। राष्ट्रकूटों के ताम्रपत्र में उसको देवराज इन्द्र की उपमा दी गयी है। सम्भवतः यह इन्द्र के समान विलासलोलुप रहा होगा। प्रतीत होता है कि इसकी सभा में कालिदास दूत के नाते भेजे गये होंगे। कालिदास ने प्रतिवेदन किया कि कुन्तलेश ने विषयोपभोग में मग्न होकर आप पर (अर्थात् विक्रमादित्य पर) अपने राज्य के संरक्षण का भार डाला है। × × × × वाकाटक और राष्ट्रकूट इन दोनों राजवंशों को चन्द्रगुप्त का आश्रय रहने से उनमें स्नेह-सम्बन्ध पैदा हुए और इसके परिणामस्वरूप वाकाटक नृपति नरेन्द्रसेन का विवाह कुन्तलराजकन्या अज्झितभट्टारिका से हुआ ऐसा वालाघाट ताम्रपत्र से ज्ञात होता है।"

इसके विपरीत सबसे पहली बात जो निवेदन करनी है वह यह कि इस 'कुन्तलेश्वरदौत्य' का रचयिता कालिदास है यह कैसे सिद्ध होता है? बहुत सम्भव है कि कालिदास को विक्रमादित्य के दूत के रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह रचना किसी छठी-सातवीं शकशताब्दी के कवि की हो और फिर वह भी बल्लालसेन के 'भोजप्रबन्ध' या राजशेखर के 'प्रबन्धकोश' की ही तरह की रचना हो जिसका प्रामाण्य न के बराबर या यत्किञ्चिद् हो। दूसरी बात यह कि इसमें प्रस्तुत कलिदास अथवा इसके रचयिता कालिदास कौन थे इसका ही क्या निश्चय? दस-दस कालिदासों का पता चलता है—(१) कालिदास महाकवि जिनके नाम के आधार पर औरों ने भी कालिदास उपनाम प्रस्तुत किये; उनका कालविचार किया जा रहा है; (२) भर्तृमीढ कालिदास जिन्हें कि प्रायेण घनश्याम उत्तररामचरित की टीका में उद्धृत करता है; (३) ईश्वरकृष्ण कालिदास जिनका उल्लेख स्वप्नेश्वर ने किया है; (४) शिलादित्य के समकालीन मातृगुप्त कालिदास जिनका उल्लेख हुएन्-त्साङ्ग के आधार पर कल्पित किया जाता है; (५) कामकोटि पान्तम के मूकशङ्कर (४७० ई०) के शिष्य कालिदास जिनका नाम कोटिजित् था; (६) धाराधीश मुञ्ज और भोज के समकालीन परिमल कालिदास;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) 'नलोदय' के प्रणेता यमककवि कालिदास; (८) 'चम्पूभागवत' के रचयिता नवकालिदास; (९) 'सङक्षेपशङ्करविजय' के रचयिता माधव कालिदास; और (१०) अकबर के दरबार के अकबरीय कालिदास। स्वयं राजशेखर को शृङ्गार के ललितोद्गार के सम्बन्ध में 'कालिदासत्रयी' का पता था—हो सकता है कि इससे उन्होंने उनकी 'नाट्यत्रयी' या 'काव्यत्रयी' को ही उल्लिखित किया हो—

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु?"

कुछ भी हो क्षेमेन्द्र और भोज के समय तक कई कालिदास हो चुके थे। और उनमें से किसे किस विक्रमादित्य से सम्वद्ध करके यह उक्ति कुन्तलेश्वरदौत्यकार ने प्रस्तुत की हो कहना कठिन है। साथ ही ये उद्धरण गुप्तकालीन सम्राट् चन्द्र-गुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य को पार्श्वभूमि में रखकर समीचीन भी नहीं प्रतीत होते। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) इतना प्रवल-पराक्रमी सम्राट् था कि उसके कालिदास जैसे प्रतिष्ठित दूत को आसन न देने का दु:साहस कुन्तलेश्वर देवराज के वश की वात न थी। "यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्"—इत्यादि मेहरौली के स्तम्भलेख के 'सिंहविक्रम' 'महाराजाधिराज' 'परमभट्टारक' के दूत की यह वेइज्ज़ती कि उसे ज़मीन पर वैठना पड़े गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय नहीं बरदाश्त कर सकता था। फिर कुन्तलेश्वर काकुत्स्थवर्मा (कदम्ब) की पुत्रियों का विवाह गुप्तनृपतियों के साथ हुआ था ऐसा उसके शिलालेख से ही स्पष्ट है। डॉ० दिनेश-चन्द्र सरकार ने मिराशी जी की इस कल्पना की ऐतिहासिकता को मूलतः ही अस्वीकार कर दिया है। मानाङ्क राष्ट्रकूट कुन्तलेश्वर थे ही नहीं। उनका कथन है—

"The suggestion that these Rāshṭrakūtas were in possession of wide regions including South Kosala, Central India and large parts of the Deccan is based on mere unwarranted guesses... There is no satisfactory evidence in support of Mirāshi's view that Mānāṅka and his successors were themselves rulers of the Kuntala country and that they were the lords of the Kuntala referred to in the Kuntaleśvaradautya and the Vākāṭaka inscription.......It is difficult to accept Mirāshi's suggestion identifying Devarāja of Mānapura with Devarāja of the Bhoja dynasty of Goa."

[The Classical Age. p. 200 fn.]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि 'कुन्तलेश्वरदौत्य' की भी ऐतिहासिकता का बीज कहीं आरोपित किया जा सकता है तो वह शकारि विक्रमादित्य (१३५ श० पू०) के साथ। हो सकता है कि आरम्भिक दिनों में उन्होंने कालिदास को दूत के रूप में तात्कालिक कुन्तलेश्वर शातवाहन शातकर्णि (द्वितीय) के पास इसलिये भेजा हो कि वह उनके शकों को पराजित करने में लगने पर पीछे से मालवगण पर आक्रमण न कर दे अन्यथा सफलता की आशा दोनों ओर से दबकर चूर-चूर हो जाती। पुष्यमित्र और अग्निमित्र का समकालीन शातकर्णि प्रथम था। पुराणों के अनुसार उसके बाद अठारह-अठारह वर्ष पूर्णोत्सङ्ग और स्कन्धस्तम्भि ने राज्य किया था और फिर शातकर्णि द्वितीय ने छप्पन वर्ष राज्य किया था। अतः विक्रमादित्य का संवत्-प्रवर्तन उसके दिवङ्गत होने के पाँच-छः वर्ष पूर्व की घटना सिद्ध होती है। इस दौत्य की भूमिका में एक उदीयमान मालवगण का अग्रणीही था। अतः साम्राज्य-मदगर्वित शातकर्णि द्वितीय ने उसके दूत को आसन देना किसी भी तरह उचित न समझा होगा। और शुङ्गनृपतियों के यहाँ राजनीति की दाँव-पेंच का पूर्ण अनुभव प्राप्त करनेवाले महाकवि कालिदास ने भी विक्रमादित्य की अपेक्षा को दृष्टिपथ में रखकर वह अपमान पी लिया होगा और "इह निवसति मेरुः" आदि पद्य का भाव उत्तर में कहकर उस मदोन्मत्त कुन्तलेश्वर को भी प्रसन्न कर लिया होगा। कुन्तलेश्वर ने शकनृपतियों के विरुद्ध युद्ध में भाग न लेने की बात कही होगी और कालिदास ने उसका विलासजर्जर स्वरूप देख-भाल कर कुल परिस्थितियों का सही अनुमान लगाया होगा और तदनुरूप सूचना विक्रमादित्य को दी होगी। विक्रमादित्य का उद्देश्य तो कुन्तलेश्वर के आक्रमण से बचना रहा होगा केवल सन्देशार्थ उन्होंने शकों के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने की बात कहलायी रही होगी अतः प्रसन्नता में कालिदास की उक्ति को ही थोड़े हेरफेर से उत्तर में कह दिया होगा और कार्यसिद्धि से पूर्णतः आश्वस्त हो उठे होंगे। अस्तु, मालव विक्रमादित्य शकारि की स्थिति न माननेवालों की दृष्टि से यह 'कुन्तलेश्वरदौत्य' का साक्ष्य पूर्णतः निर्मूल एवं अर्थहीन समझा जा सकता है क्योंकि न तो कोई आप्तवाक्य है और न ऐतिह्य।

इसके अनन्तर हम वे बहिःसाक्ष्य प्रस्तुत करेंगे जो कि हमारे अग्निमित्र की समकालीनता के सिद्धान्त को और भी परिपुष्टि प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हम काटयवेम की टीका का साक्ष्य प्रस्तुत करेंगे। काटयवेम राजमहेन्द्रपुरम् के नरेश थे और इनके कई शिलालेख उपलब्ध हैं (इपिग्रैफ़िया इंडिका, चौथा खण्ड, ३२१, ३२८, ३२९, ३३०)। इन शिलालेखों का समय १३१३ शकसंवत् से लेकर १३३८ शकसंवत् तक है। इनके साले अनपोल कोंडविडु के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रेड्डिनृपति थे उनका समय श० सं० १३०३-१३२५ है। अतः चतुर्दशी शक-शताब्दी के इस प्राचीन टीकाकार की बात अवधेय है——

(१) 'मालविकाग्निमित्र' के भरतवाक्य की व्याख्या में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं—"सर्वनाटक-प्रयोगान्ते भरतेन सर्वकालसाधारणे आशीर्वचने कर्त्तव्ये सति, अत्र प्रजानामाशास्यसिद्धिम् प्रति गोप्तुरग्निमित्रस्य कथनं **तत्कालराजोपलक्षणमिति मन्तव्यम्**।" इस टीका का यह कथन कालिदास और अग्निमित्र की समसामयिकता को पूर्णतः सिद्ध कर देता है।

(२) यही नहीं नान्दीपद्य की व्याख्या में भी काटयवेम भूप ने स्पष्ट लिखा है—"अत्र प्रणतबहुफल **एकैश्वर्यस्थित्या कान्तासम्मिश्रणेन जगद्भरणेन ईशः इत्यनेन च लोकोत्तरः कश्चिद् राजा**ऽस्मिन्नाटके वर्ण्यत इति सूच्यते। सन्मार्गावलोकनायेत्यनेनात्र कश्चिन्मार्गाभिनयः प्रतिपाद्यत इति सूच्यते। मार्गो नाम नाट्यविशेषः। तथोक्तम्—"मार्गोऽपि देशी तद्भेदः कथितो नाट्यवेदिभिः। अत्र मार्गो भवेन्नाट्यं नाट्यवेदोक्तलक्षणम्।"

इन दोनों उद्धरणों के आधार पर यह आसानी से कहा जा सकता है कि अग्निमित्र शुङ्ग का समकालीन मानना टीकाकारों की परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है। यह उक्ति मल्लिनाथ की उक्ति की तरह भ्रमपूर्ण भी नहीं है कि निचुल और भोजकालीन परिमल कालिदास की मैत्री को मेघदूतकार के साथ अन्वित कर दे। 'एकैश्वर्य' (sovereignty) 'जगद्भरण' और 'कान्तासम्मिश्र' ये तीनों विशेषण भी अग्निमित्र शुङ्ग के सरलता से माने जा सकते हैं।

दूसरा प्रमाण है मेघदूत की यक्ष-यक्षिणी-कल्पना। यक्षोपासना, यक्षों का कलाकृतियों के बीच प्रस्फुटीभाव और यक्षों का कामप्रतीक माना जाना ये तीनों धारणाएँ शुङ्गकाल की देन हैं। शकाब्द के आरम्भ के समय कनिष्क आदि के प्रभाववश गान्धारशैली की कला को जन्म मिलता है और बौद्ध-भूमिका का प्राबल्य दृष्टिगत होता है। गुप्तकाल में वैष्णव-धर्म अपने चरम पर पहुँच जाता है और उस समय यक्ष-यक्षिणी-कल्पना एकदम विलुप्त-सी हो उठती है। 'यक्ष' एक देवयोनि के रूप में ऋग्वेद में हैं या नहीं यह तो विप्रतिपत्ति का विषय है। परन्तु गृह्यसूत्रों और ब्राह्मणों में वे देवयोनि के रूप में आ जाते हैं। बौद्ध अवदानों में भी यक्ष एक योनि है। खँडहरों के अधिष्ठाता देवों के रूप में यक्ष बौद्धवाङ्मय में हैं और मदनदेवता से सम्बन्धित प्रजनन के देव के रूप में ये अबौद्ध भारतीय कला में स्वीकृत थे। यक्ष, गन्धर्व और अप्सरस् ये सब आमोद-प्रमोद, सङ्गीत और नृत्यादि से सम्बद्ध देवयोनियाँ मानी जाती रही हैं। खँडहरों के देव के रूप में बौद्धों के बीच की लोक-कल्पना ने उसे भूतावेश यक्षावेश आदि की ओर ले जाकर,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यक्ष, रक्षस्, पिशाच, भूत, वेताल आदि के योनिसन्दोह में डाल दिया। शुङ्ग-युग में यक्ष शुद्ध देवयोनि के रूप में प्रजनन से सम्बन्धित देवों के रूप में थे। तब तक वे कामभावना के प्रतीक थे। परन्तु धीरे-धीरे यक्षावेश की कल्पना भूतावेश आदि के वज़न पर बलवती हो उठी और फिर जिस तरह राक्षस, भूत, प्रेत आदि कला के माध्यम के रूप में नहीं स्वीकार किये जाते उसी तरह यक्ष भी ग़ायब हो गये। उधर बौद्धों के वज्रपाणियक्ष का स्थान बोधिसत्त्व वज्रपाणि ने ले लिया; और इधर यक्ष-मिथुन का स्थान नागरकमिथुन ने ले लिया। डा० जे० एन० बनर्जी का कथन है—

"This Yaksha Vajrapāṇi was the prototype of Bodhisattva Vajrapāṇi, one of the important Dhyāni—Bodhisattvas of the developed Mahāyāna."

[The Age of Imperial Unity. p. 396]

और प्रोफ़ेसर नीहाररञ्जन राय का तो कहना है कि मथुरा की कला के बुद्ध तो यक्ष से ही विकसित हुए—

"The Buddha Bhagavān was shaped, as it were, out of the form and content of the Yakṣa Bhagavān."

[The Age of Imperial Unity. p. 518]

यक्ष-मिथुन और नागरकमिथुन पर फ्रांसिस लीज़न ने लिखा है—

"In the portrayal of the Yakshis at Bharhut there is an emphasis on the attributes of fertility in the swelling breasts... Another attribute of fertility, already recognised in the prehistoric figurines, is also present in the Yakshis in the shape of the cross-harness or *Channavira*...As one enters the equivalent of the Christian era in India, the use of the *mithuna* motif in temple sculpture becomes more common and increasingly more complex."

[Kāma Shilpa. pp. 24-26]

भरहुत और साँची की सारी मूर्तिकला यक्ष और यक्षिणियों के रमणीय आकूत की आकृतियों से भरी पड़ी है। सुदर्शना यक्षी, यक्षी चूलकोका और यक्षी सच्छन्न-वीरा जो भारतीय कला की मनोहरतम रमणीमूर्तियाँ हैं इसी युग की विभूतियाँ हैं। दीदारगंज की यक्षी और मथुरा की यक्षी इस आकूत के अन्तिम निदर्शन हैं उनका समय प्रथम शकशताब्दी का चरमचरण माना जाता है। साँची की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यक्षियों की प्रशंसा करते समय प्रोफ़ेसर बेन्जामिन रोलण्ड ने "दि आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर ऑफ़ इण्डिया" में लिखा है—

"It would be hard to imagine anything more simple, yet more dramatically effective both from the iconographical and aesthetic points of view, than this presentation of the tree-spirit...In the frankness of their erotic statement the Sanchi Yakshis are a perfect illustration of the union of spiritual and sensual metaphor that runs like a thread through all religious art in India."(pp.57-8)

अतएव इन्हीं साँची की यक्षियों की मनोरम-मूर्तियों के युग में उनकी सुन्दरता की देवी, उनके रूपोपादानों की सम्राज्ञी और उनकी वास्तविक चेतना के रूप में 'मेघदूत' की यक्षी भी है। वस्तुतः 'मेघदूत' 'यक्षी' के आकूत की साहित्यिक अभिव्यक्ति है और भरहुत और साँची की मूर्तियाँ उसी की तक्षणात्मक अभिव्यञ्जनाएँ हैं। जब गुप्तकाल में चतुर्थ और पञ्चम शकशताब्दियों की मूर्तिकला और चित्रकला दोनों ही यक्षी के आकूत से पूर्णतः वञ्चित हैं तो इस अकेले और अद्वैत यक्षाकूतमय 'मेघदूत' काव्य को हम शुङ्ग-युग से हटाकर कैसे ले जा सकेंगे?

३. एक अन्य प्रमाण भी सारी कलाओं का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है और वह है कलाकृतियों में प्रकृति और मानव को अयुतसिद्ध एवं सहजसंश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करना। शुङ्ग-कला का यह एक सबसे बड़ा वैलक्षण्य है कि उसमें रमणीय से रमणीय रमणी-मूर्ति वञ्जुललता या सहकारमञ्जरी या किसी अन्य प्रकृति की हृदयहारी देन से अनुगत है। वहाँ हर मानव-चित्र प्रकृति के अर्धनारीश्वर-संयोग के बिना अपूर्ण है। यह मानव और प्रकृति का मञ्जुल सामञ्जस्य गान्धार और मथुरा की कलाओं से होकर गुप्त-युग की भूमिका में आते-आते एकदम विलुप्त हो उठता है। और गुप्तयुग की कला में मानव अलङ्कार्य हो उठता है प्रकृति अलङ्कारमात्र रह जाती है। प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है उससे कहीं-कहीं अलङ्कृत करने मात्र का आकूत शेष रह जाता है। डा० एन० आर० राय के ही शब्दों में देखिए—

"With Mathurā and Amarāvatī the curtain is drawn on an art that began its career at Bharhut where men and women are part of nature itself and live a common life with trees and animals. A healthy pleasure in material life is taken for granted, but everybody takes it with earnestness, dignity and in calm self-evidence of enjoyment. Sanchi brings gaiety, emotion and vivacity

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

borne of a fuller acceptance of life and its spontaneous joys and movements; its calm and composed forms are innocent of transient and hysterical moments...The fundamental change in the attitude and disposition towards life between Bharhut and Sānchī on the one hand, and Mathurā and finally Amarāvatī on the other, can admittedly be explained by the general laws of optical evolution; it was to a very large extent the result of the natural growth of an aesthetic process." [The Age of Imperial Unity.pp. 526-7]

और गुप्तकालीन कला के विषय में उन्हीं के कथन की ओर देखें—

"The pivot of Gupta sculptural art is the human figure. Already at Mathurā and Amarāvatī we have seen figures of men and women away from and independent of the animal and vegetal world that used to surround them at Bhārhut and Sānchī.. Thus the human figure itself becomes the conveyor or carrier of the unceasing flowing movement that used to reside in every vegetal device, especially the creepers and lotus-stalks; the latter while moving away from the world of human beings seem to have passed on their lively rhythm and ceaseless flow in bends and curves to the human figure itself."

[The Classical Age, pp. 516-517]

कालिदास की रचनाओं का सामान्य पाठक भी यह सहज ही जान जाता है कि विश्ववाङ्मय में मानव और प्रकृति का इतना गहरा तादात्म्य शायद ही किसी और कवि की रचना में मिल पाये। पुरुष और प्रकृति का जो शाश्वत सम्बन्ध है उसको कालिदास ने वह वाणी प्रदान की कि वह सारी वसुन्धरा की साहित्यसाधना का सनातन शृङ्गार बन चली। कालिदास शैव थे और उन्होंने शक्ति और शिव को, प्रकृति और पुरुष को, वाणी और अर्थ की तरह सम्पृक्त रूप में परिकल्पित किया था। उन दोनों के बीच में नान्तरीयक सम्बन्ध इतना अधिक है कि दोनों में पूर्णतः अभेद है। ए० डब्ल्यू० राइडर का कथन है—

"Rarely has a man walked our earth who observed the phenomena of living nature as accurately as he...Not only are the snows and windy music of the Himālayas, the mighty current

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

of the sacred Ganges, his possession; his too are smaller streams and trees and every littlest flower."

अस्तु, इस परिवेश में हम कालिदास को शुङ्गकालीन कला के परिसर में रख कर ही देख सकते हैं। गुप्तकाल में उनके काव्यों का प्रकृति-पुरुष-तादात्म्य एक ज़बर्दस्त रेगिस्तान के बीच एक अकल्पित सरस्वती की धारा से अधिक और कुछ नहीं सिद्ध हो सकता, विनशन नियत है। अतः लताओं और कमलनालों की नित्य-सहचरी भारहुत और साँची की यक्षियों के बीच कालिदास की भी "हस्ते लीला कमलमलके बालकुन्दानुवेधः" आदि की कल्पनायें एक चिरन्तन प्राणदात्री की तरह सजीव और एक मूर्तिमती प्रेरणा सी ओजस्विनी प्रतीत होती हैं।

४. एक अन्य तत्त्व जो कालिदास की रचनाओं को पुनः ऋषियों तथा वाल्मीकि और व्यास के निकट खींच ले जाता है वह उनकी भाषागत आर्षता है। स्थल-स्थल पर अपाणिनीय प्रयोगों की उपलब्धि इस बात को सिद्ध करती है कि कालिदास उस युग में उत्पन्न हुए थे जब पाणिनीय व्याकरण पूरी-पूरी तरह से सुस्थिर नहीं हो पाया था। वार्तिककारों की परम्परा के बीच अष्टाध्यायी शत-शत आलोचनाओं का शिकार बन रही थी और उसके प्रति शिष्टों के बीच वह आस्था न थी जो "श्रद्धेयञ्जगति मतं हि पाणिनीयम्" इत्यादि की कल्पनाओं को जन्म दे सके। पुष्यमित्र शुङ्ग के समय में महाभाष्यकार ने शिष्टलोक-भाषा के विविध रूपों को देखते हुए भी प्रायेण पाणिनि के मत को समर्थन दिया और पाणिनीय व्याकरण को सदा-सर्वदा के लिए पूर्णतः प्रतिष्ठित कर दिया। उसी युग की विभूति कालिदास के लिये यह किसी भी तरह ज़रूरी न था कि वे साहित्यकारों के बीच चलनेवाले शिष्ट प्रयोगों की उपेक्षा करके एक अग्रज समसामयिक वैयाकरण की बात मान लें और पद-पद पर उसके महाभाष्य के पन्नों को खोल-खोल कर अपने प्रयोगों को मिलायें और उसके अनुरूप रखें। कुल दो हज़ार आठ सौ चौरान्नबे पद्यों में, जो कि कालिदास की सातों कृतियों का रचनायोग है, दो सौ सत्तर के लगभग अपाणिनीय प्रयोग डा० तारापति चौधरी ने अपनी सुप्रसिद्ध शोधकृति—"Linguistic Aberrations in Kālidāsa's Writings"—में निर्दशित किये हैं। उदाहरणार्थ—(१) "विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे" (कु० ५।४३) और (२) "प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम्" (विक्र० ३।२२) में सम्बुद्धि में 'सुभ्रु' में 'भ्रू' ऊकारान्त होते हुए भी नदीसञ्ज्ञक नहीं है क्योंकि यह उवङ्स्थान है। इसी से "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" (७।३।१०७) की प्रवृति इसमें नहीं होगी और प्रातिपदिक 'भ्रू' के स्त्रीप्रत्ययान्त न होने के कारण "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१।२।४८) की भी प्रवृत्ति न होगी अतः सम्बुद्धि में रूप 'सुभ्रूः' ही रहेगा सुभ्रु नहीं। इसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार (३) "विश्रामं लभतामिदम्" (अभि० २।६) में '√श्रम' धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर "अत उपधायाः" (७।३।११६) की प्रवृत्ति को "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" (७।३।३४) सूत्र रोक देता है और इस प्रकार वृद्धि के अभाव में 'विश्रम' ही बनेगा 'विश्राम' नहीं। (४) "दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे" (रघु १२।१९) और (५) "दृष्टभक्तिर्भवान्या" (मेघ० १।४०) और (६) "विदितभक्तिं माम्" (अभि० ५।१३ के बाद) आदि प्रयोगों में अपाणिनीयता प्राप्त होती है। पाणिनि के अनुसार यहाँ 'दृढाभक्तिः, 'दृष्टाभक्तिः' और 'विदिताभक्तिः' होना चाहिए क्योंकि भक्ति शब्द प्रियादिगण में पठित है और पाणिनि ने लिखा है—"स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" (६।३।३४)। इसी प्रकार (७) "प्रभ्रंशयां यो नहुषञ्चकार" (रघु० १३।३६) (८) "तां पातयाम्प्रथममास पपात पश्चात्" (रघु० ९।६१), (९) संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः" (रघु० १६।८६) आदि में पाणिनि के अनुसार 'नहुषं प्रभ्रंशयाञ्चकार' 'ताम्पातयामास' 'विधिवत् संयोजयामास' ही सही प्रयोग है। ये अनुप्रयोग के उदाहरण हैं और यहाँ आमन्त के बाद लिट्शिरस्क को अव्यवहित रूप से आ जाना चाहिए। इसमें पाणिनि का कथन "कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि" (३।१।४०) विपर्यासनिवृत्ति और व्यवहितनिवृत्ति करा देता है। अतः लिट्शिरस्क सदैव आमन्त के बाद ही आयेगा और साथ ही इन दोनों के बीच व्यवधान हो ही नहीं सकता। महाभाष्यकार का कथन है "विपर्यासनिवृत्त्यर्थम्, ईहाञ्चक्रे चक्रे ईहामिति मा भूत्; व्यवहितनिवृत्त्यर्थञ्च।" कैय्यट का कथन है—"सिद्धे कृञ्प्रयोगे देशनियमार्थं वचनम्। तेनामन्तस्य पश्चादेव कृञ् प्रयुज्यते न पूर्वं नापि व्यवहितम्।" अस्तु, कालिदास के ये अपाणिनीय प्रयोग ऐसे हैं जिनके समाधान के लिये प्रायशः उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रयास किये हैं। वामन ने अपने "काव्यालङ्कारसूत्र" में "सुभ्रु" का समर्थन दिया है। "भ्रमेश्च डूः" (उणादि २३६) के अनुसार स्त्रीप्रत्यय होने के कारण "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" की प्रवृत्ति हो जायगी और 'सुभ्रु' बन सकता है। इसी तरह 'दृढभक्ति' इत्यादि के विषय में भी 'दृढं भक्तिः इत्यादि' का समास बना कर लोगों ने समाधान किया। स्वयं भोज ने भी 'प्रियादि' में कर्मसाधन माना है भावसाधन नहीं और इसीलिये भवानीभक्ति और दृढभक्ति दोनों को ठीक ठहराया है। जहाँ तक अनुप्रयोगों का सवाल है आर्ष प्रयोग इस प्रकार के अनेकशः उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि कालिदास की भाषा पाणिनि के अनुसार न होते हुए भी शिष्टानुमोदित है और इससे यह सिद्ध होता है कि वह वस्तुतः उसी समय उत्पन्न हुआ था जिस समय पाणिनीय व्याकरण का शास्त्रीय रूप ढल रहा था। गुप्तकाल में संस्कृतभाषा पूर्ण रूप से पाणिनि की अनुवर्तिनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो चुकी थी। लगभग ५०० वर्षों के वीच पाणिनि को वह प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी जो किसी भी कवि को संस्कृत में लिखने-वोलने देने का तभी अवसर प्रदान करती थी जब उसे महाभाष्यसम्मत प्रयोगों का सही-सही ज्ञान होता था। इस दृष्टि से हम भारवि, भट्टि, कुमारदास सुवन्धु, दण्डी, बाण आदि की रचनाओं को देख सकते हैं।

५. यही नहीं रचनाशैली की दृष्टि से भी हमें यह बात स्पष्ट रूप से अवगत है कि गुप्तकाल के शिलालेखों तक में भी उस प्रकार की गौडी रीति और ओजोगुण के दर्शन होते हैं जिनका कालिदास की वैदर्भी से दूर का भी कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ मिहरौली स्तम्भलेख में :--

"यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्,
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः,
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः।"

इत्यादि पद्य ओजोगुण विशिष्ट रीति का उपन्यास करते हैं और गद्य की दृष्टि से हम समुद्रगुप्त का प्रयाग का शिलालेख ले सकते हैं--

"तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकवन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशङ्कुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः" इत्यादि।

क्या इसके ओजोजीवित गद्य का गौड़ मार्ग, कालिदास के प्रसादपूर्ण और मधुर रचनाक्रम के साथ कभी भी रखा जा सकता है? जिस मन्दसोर के शिलालेख पर कालिदास की छाप देखने का प्रयास किया जाता है उसकी इन रचनाओं पर भी दृष्टि कभी डाली जाती है?--"मधुपानमुदितमधुकरकुलोपगीतनैकपृथुशाखे काले नवकुसुमोद्गमदन्तुरकान्तप्रचुररोध्रे" और 'स्मरवशगतरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरुस्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्त्सिततुहिनहिमपाते" की समस्त पदावलियां कालिदास की सम्पूर्ण रचनाओं में क्या कहीं भी मिल सकती हैं? दुर्भाग्य की बात तो यह है कि उक्त दोनों रचनाओं की तुलना विद्वानों ने--

"सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥" (कु० ३।२७)

और--

"पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्ये नवयौवनोष्मभिः।
विलासिनीभिः परिपीडितो रसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः॥"

(ऋतुसंहारे ५।९)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से करने का दुस्साहस किया है। परन्तु भाषा, भाव और रीति तीनों की दृष्टि से इनके बीच कोई साम्य नहीं है। अयोध्या के धनदेव के शिलालेख (शकसंवत् का प्रारम्भ) में कालिदास की वैदर्भी शैली का दर्शन होता है—"कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धनदेवेन धर्मराजेन पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितम्।" अतः हम किसी भी प्रकार से रचनाशैली के साम्य की दृष्टि से भी कालिदास को गुप्तकाल में नहीं रख सकते। उनकी सही जगह शुङ्गकाल ही है।

कुछ अन्य तर्क भी कालिदास की शुङ्गकालीनता के पक्ष में दिये जा सकते हैं—६. भीटा का फ़दक। प्रयाग के पास के भीटा नामक गाँव में उपलब्ध बड़े आकार के एक मृन्मय-पदक के अन्दर एक चार घोड़े वाला रथ, दो रथारोही, एक अस्थिपञ्जरावशेष व्यक्ति, पीछे की तरफ़ एक झोपड़ी, उसके निकट एक वृक्ष और वृक्ष के पास एक स्त्री की आकृति अङ्कित है। नीचे की तरफ़ एक व्यक्ति उसके बग़ल में दो हिरन और पंख फैलाकर नाचता हुआ एक मोर अङ्कित है। इसमें विद्वानों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के "न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्" का चित्र देखने का प्रयास किया है। परन्तु श्री मिराशी जी को कुछ आपत्तियाँ हैं। उनका कहना है कि "तरुण सिद्धार्थ कुमार रथ पर सवार होकर विहार के लिये जब निकले तो उनको मार्ग में एक वृद्ध मनुष्य मिला। इससे उन्हें पहले-पहल वृद्धावस्था की कल्पना हुई। अनेक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार जो वर्णन आया है शिल्पकारों ने वही इसमें दिखाया है।" उन्होंने यह भी कहा है—"यह पदक शुङ्गकालीन है इसके लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता।" परन्तु ये दोनों बातें समीचीन नहीं हैं। भगवान् बुद्ध के यात्रा-प्रसङ्ग में झोपड़ी व झोपड़ी के पास की महिला तथा घुटने तोड़कर ऊपर झुके हुए बालक, हिरन व मोर अपार्थ प्रतीत होते हैं। किसी भी चित्र के हर वस्तु का उपयोग प्रतीकात्मक होता है। अनावश्यक पदार्थों को भला क्योंकर एक छोटे से पदक में दिखाया जाता ? मेरा अनुमान है कि यह चित्र 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का ही है परन्तु प्रथमाङ्क का नहीं है। क्योंकि इसमें अनसूया-प्रियंवदा नहीं हैं जिनके विना पूरा आकूत उभर ही नहीं सकता। रथारोही के शरसन्धान का भी अभाव है। वृद्धतापस वर्जन की मुद्रा में नहीं है। साथ ही घुटनों के बल झुके हुए बालक का क्या उपयोग होगा ? वस्तुतः, सप्तमाङ्क में मारीच के आश्रम में मातलि के साथ रथ पर बैठे दुष्यन्त हैं। नीचे सिंहशावक को करके उसके ऊपर घुटनों के बल झुके हुए भरत उसके दाँतों के गिनने का प्रयास कर रहे हैं। झोपड़ी शकुन्तला की कुटी है। आश्रम की शान्ति को आराम से विहार करनेवाले दो मृग और सुख से नाचता मयूर व्यक्त कर रहे हैं। झोपड़ी के पास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की महिला तापसी है जिसके हाथ में मृत्तिकामयूरक है। वह प्रार्थना कर रही है भरत से सिंहशावक को छोड़ देने की। वृद्ध व्यक्ति तापसी है। बालक के पास की स्त्री-मूर्ति और उसके नीचे का सिंहशावक दोनों ही कुछ घिस गये हैं अत: पहचान में नहीं आते परन्तु उनके कुछ अङ्ग पूर्णत: अनुमान करा देते हैं। इसके काल के विषय में सर जे० एच० मारशल ने "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया" के प्रथम भाग में इसे शुङ्ग-कालीन माना है—

"In the second and first centuries B. C., however, terracota work steadily improved...A good illustration of the minute delicacy with which some of these dies were engraved is afforded by a terracota medallion from Bhita (Pl. XXIX, 81) which might almost be a copy in miniature of the relief work on the Sānchī gateways, so exactly does it resemble it in style." (p. 583)

जहाँ तक कालिदास की कल्पनाओं को मूर्तिकला या मृन्मयपदक आदि के माध्यम से भी व्यक्त करने का प्रश्न है यह रचना अकेली नहीं है। भारहुत की यक्षी चूलकोका "एकः सख्यास्तव (सह मया) वामपादाभिलाषी" का आकूत प्रस्तुत करती है। भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मन्दिर के शिव-पार्वती "वागर्थाविव सम्पृक्तौ ..जगतः पितरौ" के भाव को अभिव्यक्त करते हैं। "नीवीबन्धोच्छ्वसनशिथिलम्" के आकूत को भुवनेश्वर के राजा-रानी के तीन मिथुन-तक्षणों में देखा जा सकता है। साथ ही "यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि" के पद्य के लगभग पूर्ण आकूत को मथुरा के गोष्ठी-तक्षण में देख सकते हैं (देखिए "कामशिल्प" चि० ३०)। ऐसे ही अनेक दृश्य हैं; यहाँ तो उनका दिङ्मात्र प्रस्तुत किया गया है। अत: शाकुन्तल के उस दिव्य दृश्य को, जहाँ स्वर्ग स्वयं पृथ्वी पर निछावर हो उठा एवं स्वयं गृहमेधिधर्म पुण्यवान् हो उठा और मारीचाश्रम की पावन मधुरिमा पर नन्दनवन बलिहारी हो उठा, एक अन्य कलाकार ने भी अपनी कलासाधना से साकार करना चाहा हो तो कौन-सी बड़ी बात है?

७. एक और तर्क जो प्रस्तुत करना सहज है वह अश्वघोष (शक शताब्दी का आरम्भ) का कालिदास के पदोच्चयों, कल्पनाओं आदि को अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करना है। पदोच्चयों की समानता तो एक जीवित शिष्ट भाषा के प्रचलित मुहाविरों पर भी निर्भर करता है। "न ययौ न तस्थौ", "नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च", "त्वय्युपपन्नमेतत्", "वाता ववुः", "अगतिर्न विद्यते", "श्रुतमहताम्", "पल्लवरागताम्रः", आदि ऐसे ही मुहाविरे हैं। कालिदास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और अश्वघोष के समय संस्कृत शिष्ट भाषा थी सुधीसमाज इसका प्रयोग करता रहता था ठीक उसी तरह जिस तरह आज हम साहित्यिक हिन्दी, शाधु बाँगला, 'किंग्स् इङ्लिश्' आदि का व्यवहार करते हैं; परन्तु वह जनभाषा न थी। जैसे आज हम सैकड़ों लेखकों और कवियों के बीच भाषा की ऐसी मुहाविरेदानी के संवाद देख सकते हैं और उनके लिये किसी एक को दूसरे का ऋणी नहीं माना जा सकता वैसे ही ये तत्कालीन संस्कृतभाषी समाज की सार्वजनीन समान सम्पत्ति थे। हिन्दी के मुहाविरे या लोकोक्तियाँ आज हम सबकी समान-सम्पत्ति हैं। ग़ालिब के "बात बनाए न बने", "एक ढूँढ़ो हज़ार मिलते हैं", इत्यादि; तुलसी के "हमहुँ कहव अब ठकुर सुहाती", "झूठइ लेना झूठइ देना" आदि; और इसी तरह के अन्य कवियों या लेखकों द्वारा प्रयुक्त मुहाविरे उनके व्यक्तिगत अपने नहीं पूरे हिन्दीभाषी समाज के हैं उनके प्रयोगों के पूर्व भी थे और आगे भी रहेंगे। वही स्थिति कालिदास और अश्वघोष के इन पदोच्चयों की है। रहे कल्पनागत साम्य। इस दृष्टि से केवल निम्नलिखित रचनायें प्रस्तुत की गयी हैं—

(१) "वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि॥"
(बुद्ध० ३.१९)

(२) "तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणाइवासन्॥"
(रघु० ७.११ एवं कुमा० ७.६२)

अश्वघोष की यह रचना काव्य नहीं है और चाहे जो-कुछ हो। "मुखपङ्कजानि" पद का समास ही उपमा को प्रस्तुत कर देता है—'मुखं पङ्कजमिवेति मुखपङ्कजम्, तानि,' इसके बाद 'सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि' पूरा-का-पूरा अधिक-पद ही प्रस्तुत करता है। यही नहीं 'पङ्कजानि' पूर्णतः पुनरुक्त भी है। लगता है कोई अकवि पद जोड़ने का अभ्यास कर रहा हो। वस्तुतः यह प्रसङ्ग भी पूर्णतः अनौचिती और अस्वाभाविकता को ही जन्म देता है। स्त्रियों का बारात या दूल्हा देखने के लिए खिड़कियों पर एकत्र होना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, स्वभाव है, निसर्ग-सिद्ध है। केवल वर या स्वयंवर में भाग लेनेवाले पहले-पहल नगर में आते हैं अपनी जानी-पहचानी साथिन के जीवन-साथी को देखने की लालसा पूर्णतः समीचीन है। परन्तु जिस नगर में बुद्ध पैदा हुए, पले, बढ़े और रोज़ निकलते-पैठते रहे वहीं उनके वन-विहार के लिये जाते समय यह वातायनों पर की भीड़ नितान्त अस्वाभाविक है। लगता है कि किसी ऐसे अवसर की खोज में अश्वघोष रहा हो जहाँ उस पुरानी कल्पना को अपने ढंग से प्रस्तुत करके जमाया जा सके और उसने ज़रा-सी ऐसे अवसर की गन्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पायी और भिड़ा दिया। कालिदास ने प्रकरणौचित्य एवं रसौचित्य से इस कल्पना को शत-शत रङ्गीनियों की झिलमिलाती मादकता के साथ अनुस्यूत करके कुम्भोच्चलनवत् सहज ही छलका दिया है। उनके शृङ्गार के मोहक वातावरण में यह एक सहज प्रस्फुटित प्रतिभाङ्कुर है; प्रसङ्ग स्वयं अवचेतन की परतों के भीतर से एक-पर-एक चित्र पलटता जाता है और लेखनी उसे वाणी का जामा पहनाती जाती है। परन्तु अश्वघोष सिर खुज़ला-खुजला कर मौका खोजते रहे फिर कलम रोक-रोक कर नये ढंग से अपनी-सी बनाकर बात पेश करने में अँटके रहे और फिर उपमा की खोज में भटक गये; शब्द टूट गये तो जोड़-तोड़ करनी पड़ गयी। नहीं तो "विनिःसृतानि" और "सक्तानि" का भला क्या साथ? और उधर कुण्डलों की क्या उपयोगिता है? यही नहीं 'इव' का 'हर्म्येषु' के साथ समास भला क्यों जब कि न वह उपमेय है न उपमान? और 'परस्परोपासित'—की अर्थान्विति का क्या रहस्य हो सकता है? सारी रचना एक बेसिर-पैर की तुकबन्दी है। ऐसे प्रतिबिम्बकल्प पद्यबन्ध की तुलना कालिदास की मधुर वाङ्निमति से करना काँच को हीरे के बग़ल रखकर यह पूछना है कि नक़ल कौन-सी है। नक़ल हीरा नहीं काँच हुआ करता है। यह एक सनातन सत्य है जिसमें संशय हो ही नहीं सकता।

८. एक जगह श्री मिराशी जी ने कल्पनासाम्य और उक्तिसाम्य का साहचर्य किसी हद तक ठीक दिखाया है, शेष स्थल तो समान मुहाविरों के प्रयोग-मात्र हैं। वह स्थल है—"कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण" (मेघ०); और "अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्" (बुद्ध० ११-४३)। यहाँ रचनाओं में संवाद तो है परन्तु यहाँ कालिदास का मूल भास की यह रचना है—"कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः।" परन्तु एक बारीक भेद है—भास और कालिदास का संवाद प्रसिद्धात्मा है; दोनों ही के भिन्न-भिन्न कमनीय शरीर हैं। दोनों ही कल्पनाओं के रसपेशल पृथक्-पृथक् विग्रह हैं—पृथक्-पृथक् रस एवं प्रकरण की औचिती है। ऐसी रचनाओं को दृष्टिपथ में रखकर आनन्दवर्धन ने लिखा है—

"आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥
अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥"

बुद्धचरित में प्रकरण है मगधेश्वर को दिये जानेवाले भगवान् तथागत के उपदेशों का। सहृदय को शान्तरस की चर्वणा कराने में ही कवि का संरम्भ होना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहिए। द्वन्द्व की सर्वप्रसक्तता के और एकान्तसुखी एवं एकान्तदुःखी के अभाव के बीच कवि ने हेतुहेतुमद्भाव व्यक्त करके अद्वयवाद की ओर उन्मुख कराने का प्रयास किया है। परन्तु इसे इतने रूखे ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि सारे एकादश-सर्ग में स्मृतियों एवं गीतादि-धर्मग्रन्थों की सी विरसता उत्पन्न हो गयी है; एक धर्मगुरु का प्रवचनमात्र लगने लगा है। अतः यह तुच्छात्म हो उठा है। कालिदास की कल्पना में विप्रलम्भ की विवशता-भरी मीठी अँगड़ाई के पहलू में दबी हुई कुसुम-सुकुमार मुग्धा की उच्छल अश्रुधारा के वेग को रोकने की मनुहार, विवशता की सिसकनों के बीच, एक आशा की किरण बिखेर देती है। शृङ्गार जैसे एक लम्बा उच्छ्वास भरकर पुनः जागरूक हो उठा हो और घिग्घी बँधे कण्ठों में एक रसार्द्रता का आकस्मिक सञ्चार हुआ ही था कि फिर विशाल नीलमों ने मोती उगलना आरम्भ कर दिया। इस प्राणवती सर्जना का आलेख्यप्रख्य सादृश्य अश्वघोष की गुरुगिरा में पाया जाता है जो आनन्दवर्धन की वाणी में तुच्छात्म है—

"संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत् पुनः प्रतिविम्बवत्।
आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्।
× × ×
तत्र पूर्वमनन्यातम तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत् कविः।।

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तद् अनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्। तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवाद-मपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना।"

अस्तु, दो संवादों में से एक अनन्यात्मा है और दूसरा तुच्छात्मा। अतः हम बिल्कुल आश्वस्त ढंग से कह सकते हैं कि कालिदास की प्राणवती रचना के आधार पर ये निष्प्राण एवं तुच्छप्राण संवाद अश्वघोष ने तैयार किये। बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब नहीं बनता और प्रकृति के अभाव में प्रतिकृति भी नहीं बना करती। अतः कालिदास निश्चय ही अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे।

९. एक और प्रमाण हमारे समक्ष उस युग की धार्मिक पृष्ठभूमि के रूप में सामने आता है। महाकवि कालिदास शैव थे। उन्होंने 'कुमारसम्भव' शिव-पार्वती के विवाह की कथा पर लिखा ही है, रघुवंश में 'पार्वतीपरमेश्वरौ' की वन्दना, तीनों नाट्यग्रन्थों के नान्दीपद्य एवं भरतवाक्य तथा 'मेघदूत' में भगवान् महाकाल का वर्णन तथा स्थल-स्थल पर भगवान् शिव, उमा, कुमार, वृषभ, सिंह और मयूर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के वर्णन उनके शैव होने में संशय नहीं रहने देते। परन्तु इसके साथ विश्व के इस महामानव में एक विशाल धार्मिक औदार्य भी था। भगवान् विष्णु के अवतार भगवान् राम के विषय में, "वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु", भगवती सीता के विषय में, "जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु" और भगवान्कृष्ण के विषय में, "गोपवेषस्य विष्णोः" और साथ ही महावराह भगवान् के विषय में "भुवा महा-वराहद्रंष्ट्राया विश्रान्तः" जैसी महान् अर्चना की उक्तियाँ उपस्थित की हैं। इन्द्र और ब्रह्मा के प्रति 'कुमारसम्भव' में कवि ने पूजा के पुष्प चढ़ाये हैं और यक्षों के प्रति श्रद्धा 'मेघदूत' में व्यक्त की है। साथ ही भगवान् सूर्य के मन्दिर का वर्णन 'विक्रमो-र्वशीय' (५-४) में प्रस्तुत किया गया है और उनके हरिदश्व एवं भगवान् रूप को 'रघुवंश' में प्रस्तुत किया गया है। यही नहीं नारायण, गङ्गा, यमुना, श्री, सरस्वती, अग्नि, वरुण और यम के साथ-साथ प्रजापति शेषनाग और कुबेर के प्रति भी आस्था व्यक्त की गयी है। परन्तु इस सबके बीच शैवधर्म की ही प्रधान स्रोतस्विनी प्रवा-हित होती रही है। सिन्धुघाटी के पशुपति एवं लिङ्गदेव पहले वैदिक आर्यों के द्वारा अस्वीकृत रहे। परन्तु दोनों सभ्यताओं के गङ्गा-यमुनी सङ्गम के फलस्वरूप रुद्र, पाशुपत, शिवलिङ्ग, सब एक हो गये। श्रौतसूत्रों में भी उसे गर्हित रूप ही दिया गया था पर, 'बौधायनधर्मसूत्र' से दिशा बदलती है और गृह्यसूत्रों के 'शूल-गव' यज्ञ में रुद्र को प्रधान देवता की अर्चना अर्पित की जाती थी। 'बौधायनगृह्य-सूत्र' में रुद्र को विश्वव्यापी ब्रह्म का रूप दिया गया और साथ ही मूर्तिपूजा का भी आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार एक पूर्ण आर्यदेवता के रूप में शिव गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के समय में ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ४०० शकपूर्व के आसपास शैवधर्म पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था जैसा कि मेगस्थनीज़ के विवरण से पता चलता है यही नहीं पतञ्जलि के समय तक कृष्ण, शिवभागवत, स्कन्द आदि पूर्णतः लोकाराधन के विषय बन चुके थे। डा० टी० एम० पी० महादेवन् का कथन है—

"The earliest historical record to mention the worship of Shiva is that of Megasthenes, the Greek envoy at Pāṭaliputra about 300 B. C. He describes two Indian deities under the names of Dionysus and Herakles, generally identified with Shiva and Kṛshṇa respectively. Patañjali, in the second century B. C., refers in his Mahābhāṣya to the Śivabhāgavatas as also to images of Śiva and Skanda which were sold by the Mauryas to raise money. This shows the popularity of the cult."

[The Age of Imperial Unity. p. 456]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और शुङ्ग-युग के सर्वाधिक जनप्रियता प्राप्त करनेवाले आराध्यदेव शिव और स्कन्द ही कालिदास के भी परमश्रद्धाभाजन रहे। अपनी उत्कट श्रद्धा की अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने 'कुमारसम्भव' की रचना की और उन्हें अपना महाकाव्यनायक बनाया। इसके विपरीत गुप्तकाल में भागवत (वैष्णव) धर्मप्रधान हो उठा था और शैवधर्म की लोकप्रियता बहुत ही कम हो गयी थी। वैष्णव भागवत-धर्म के विषय में डा० डी० सी० सरकार ने लिखा है—

"The Gupta Emperor Chandragupta II was a devout follower of the Bhāgavata religion, one of the many names by which Vaishṇavism was known. He assumed the title Parama-Bhāgavata a usage followed by his successors. Although the title is not found in association with Samudragupta, this king is known to have adopted the emblem of Garuḍa-dhvaja and claimed to have been an incarnation of the inscrutable Being probably indicating Vishṇu. These facts show that Samudragupta was also a Vaishṇava although there seems to have been a doctrinal difference between his faith and that of his Parama-Bhāgavata successors. The patronage of the religion by the Imperial Guptas might have been the cause rather than the effect of the growing importance of the new religious creed in the Gupta age. There is no doubt, that from the end of the fourth century it gradually grew in popularity all over India, and we find many other royal families assuming the titles Parama-Bhāgavata and in some cases also Parama-Vaishṇava." [The Classical Age p. 414]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन परमभागवत और परमवैष्णव गुप्तसम्राटों की छत्रच्छाया में कालिदास को रखकर देखने का प्रायेण प्रयास किया गया है। जबकि उन महाराजाओं के धर्मानुरोध से हम भगवान् विष्णु के ध्रुववेरों, व्यूहों और विभवों को स्थानक, आसन और शयन के तीन-तीन रूपों में हज़ारों की संख्या में निर्मित होते हुए पाते हैं, शिव के लिङ्गों के विषय में एक ज़बरदस्त राजप्रियता एवं लोकप्रियता का अभाव दिखायी देता है। जैसा कि डा० बनर्जी ने लिखा है गुप्तकाल के शिवलिङ्ग अपनी वास्तविकता खोते जा रहे थे और एक रूढि के रूप में ही उन्हें ग्रहण करने की कोशिश दिखायी देती है। वस्तुतः गुप्तकाल में शैवोपासना हूणनृपति मिहिरकुल बङ्गनरेश शशाङ्क और वलभी के मैत्रकवंश तक उत्तरभारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में सीमित थी। दक्षिण-भारत के अन्दर शैवमत अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी था। वाकाटक, कदम्ब, आनन्द, विष्णुकुण्डि, पश्चिमगङ्ग, बृहत्फलायन और सालङ्कायन नरेशों के द्वारा दक्षिणापथ में इसे पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त था। इस अवस्था में जाने क्यों लोग कालिदास का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से जोड़ना अधिक युगानुकूल पाते हैं। कालिदास ने किसी काव्य या नाट्य के नायक के रूप में भागवतधर्म के वासुदेव कृष्ण को नहीं प्रस्तुत किया। परमभागवत चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य अपनी धार्मिक-भावना के अनुरोध से क्या उन्हें और नहीं तो 'मालविकाग्निमित्र' की जगह भगवान् श्रीकृष्ण को नायक बनाकर एक शृङ्गारी-नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना नहीं कर सकते थे।

१०. सबसे बड़ी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने की है वह यह कि गुप्तनरेशों में से भला किसे 'मालविकाग्निमित्र' का अभिनय देखने की अभिरुचि हुई होगी? कालिदास को भी नाट्य-शास्त्र के विरुद्ध, इतिहास-प्रसिद्ध और अख्यात अग्निमित्र के वृत्त को उत्पात करके एक नाटक प्रस्तुत करने की प्रेरणा ही गुप्तकाल में कैसे प्राप्त होगी? जिस प्रकार छठी शक-शताब्दी में बाणभट्ट अग्निमित्र के पिता को प्रस्तुत करता है अथवा जिस तरह का उनका रूप पुराणों में मिलता है वह तो पुष्यमित्र के परिवार को कुख्यातरूप ही प्रदान करता है? क्योंकि उनका कार्य न केवल शास्त्रोचित सेवाधर्म के विपरीत था, बल्कि उनके अपने वर्णधर्म के भी विपरीत था। यही नहीं उन्हें कपटी, राजद्रोही और स्वामिहन्ता के रूप में एक पातकी का उत्पात रूप ही जनश्रुति में प्राप्त रहा। ऐसे व्यक्ति को नायक बनाने पर मेरे विचार से न तो गुप्तनृपति सन्तुष्ट हुए होंगे और न उस समय के वर्णाश्रमधर्म को सब कुछ मानने वाली जनता ही उसकी ओर उन्मुख हो पायी होगी। अतएव हमारे सामने इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि हम ऊपर विवेचित किये गये हुए अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य पर आधारित अग्निमित्र की समकालीनतावाले सिद्धान्त को मान लें। क्योंकि तब हम बहुत आसानी से अपने आश्रयदाता को नायक बनाकर प्रस्तुत करने की आत्मोद्भूत प्रेरणा अथवा राजसङ्केत और साथ ही जनता की उत्कण्ठा सभी के लिये समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

११. जहाँ तक विष्णुसम्बन्धिनी उक्तियों का प्रश्न है उनके समर्थनार्थ शुङ्गयुग की धार्मिक परिस्थिति पर्याप्त रूप से सहायक है। भगवान् कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठा ऊपर उल्लिखित मेगस्थनीज़ के समय अर्थात् चार सौ शकपूर्व में प्राप्त हो चुकी थी। महाभाष्य में प्राप्त प्रत्यक्ष कंस के वध और बलि के बन्ध के अभिनयों का स्पष्ट उल्लेख इस परम्परा का पोषक है। सूर्य की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपासना के सम्बन्ध में भी प्रो० एच० डी० भट्टाचार्य का निम्नलिखित कथन अवधेय है—

"Some figures on ancient Coins and a Bhārhut medallion containing a human bust of the Sun, with the stamens of the lotus representing his rays, suggest that the Sun was a popular deity in third century B. C....Some pre-Christian Sūrya figures have been found in different parts of India, the one carved on one of the railing pillars at Bodha Gayā being the most interesting. Here the god is shown riding on a four-horsed chariot accompanied by the goddesses Ushā and Pratyushā shooting arrows."

[The Age of Imperial Unity p. 465-466]

और जहाँ तक प्रजापति ब्रह्मा का प्रश्न है ये मूलतः ऋग्वेदकाल के देवता थे और वहाँ इनको प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति आदि संज्ञायें भी प्राप्त थीं। प्रजापति की उपासना ब्राह्मणकाल में यज्ञ यागादि के विधान के साथ-साथ अपने चरमबिन्दु तक पहुँच गयी थी। परन्तु उसके बाद प्रजापति और ब्रह्मणस्पति ब्रह्मा बन कर रह गये और बृहस्पति देवगुरु या एक ग्रह के रूप में प्रतिष्ठित होकर पृथक् हो गये। ये ब्रह्मा भी मुख्यतः त्रिमूर्ति के अङ्गरूप से ही स्वीकृत किये जाने लगे और उनकी उपासना शकशताब्दी के आरम्भ के आस-पास समाप्तप्राय-सी हो उठती है। गुप्तकाल में न तो हमें ब्रह्मा जी की मूर्त्तियाँ दिखाई देती हैं और न उनकी उपासना के विषय में स्तोत्रादि की रचना का ही कोई प्रमाण मिलता है। पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर और बृहत्संहिता के उल्लेख कुछ ऐसे हैं कि उनका कालनिर्धारण करना कठिन है। जहाँ पुराणवाङ्मय का आरम्भ वैदिकोत्तर युग के अन्त में निश्चित रूप से हो गया था वहाँ उसकी चरम-परिणति हमें प्रायः दशवीं शक शताब्दी तक ले जाती है। जब तक गुप्तकाल की कोई ब्रह्ममूर्त्तियाँ अथवा स्तोत्ररचनायें नहीं प्राप्त होतीं तब तक ब्रह्मा को हम आसानी से शकसंवत् के आरम्भ तक प्रचलित मानकर सन्तोष कर सकते हैं। हमारी जानकारी की आधुनिक अवस्था ब्रह्म-पूजा को गुप्तकाल में देख सकने में असमर्थ है और इसीलिये 'कुमारसम्भव' के दूसरे सर्ग में प्राप्त होनेवाली ब्रह्मस्तुति में और 'रघुवंश' के (१–२९, २-१७, ५-३६ आदि) पद्यों में जिस ब्रह्मोपासना का रूप प्रस्तुत किया गया है वह गुप्तकाल के परिवेश में कैसे प्राप्त हो सकती है यह विषय भी विचारणीय है। धार्मिक-परिस्थिति को देखते हुए भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालिदास के लिये ब्रह्मोपासना, यक्षोपासना, कृष्णोपासना आदि विविध उपासना-पद्धतियों के बीच

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शैवमत की प्रधानता का युग ही सब से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। और वह युग गुप्तकाल न होकर ऊपर दिये गये प्रमाणों के अनुसार शुङ्ग-काल ही ठहरता है। गुप्तकाल में यक्ष और प्रजापति ब्रह्मा उपासना के विषय नहीं रह गये थे और गुप्तसम्राटों की दृष्टि भागवत धर्म के प्रति इतनी अधिक श्रद्धामयी थी कि उस युग में राजाश्रय प्राप्त करनेवाले कालिदास का भागवती कथा पर कुछ भी न लिखना उनके उस युग में न होने का एक ज़बरदस्त प्रमाण है। गुप्तकाल के अन्य सभी ग्रन्थकारों के विषय में हमें पता है कि उन्होंने निरपवाद रूप से कृष्ण-कथा का आश्रयण किया और कृष्ण-कथा पर न लिखनेवालों ने विष्णु के अन्य अवतारों पर रचनायें प्रस्तुत कीं। इस दृष्टि से हम भारवि, भट्टि, माघ, मेण्ठ, कुमारदास, धीरनाग, यशोवर्मा, भवभूति आदि कवियों को ले सकते हैं। शिव या स्कन्द को नायक बनाकर लिखी गयी हुई एक भी रचना गुप्तकाल में नहीं मिलती और न उसके अव्यवहित उत्तरकाल में। हाँ, काश्मीर की ईश्वराद्वैती परम्परा से उत्पन्न होनेवाली रचनाएँ नवम शकशताब्दी से मिलने लगती हैं परन्तु वे भी गुप्तकाल की पूर्ण समाप्ति के अनन्तर ही। कुछ लोग यह तर्क भी उपन्यस्त करते हैं कि गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल है। उस समय शान्ति और आमोद-प्रमोद का वातावरण था अतः कालिदास उसी युग की विभूति हो सकते हैं। परन्तु यह तर्क नितान्त अविश्वसनीय है क्योंकि विश्व की अन्य भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ कवि आर्थिक या राजनीतिक समृद्धि की देन नहीं है। रूसी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि लियो टाल्स्टाय, बँगला भाषा का सर्वश्रेष्ठ शब्दशिल्पी रवीन्द्र, उर्दू का सर्वश्रेष्ठ शायर ग़ालिब, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि तुलसीदास आदि अनेकानेक विश्व-साहित्य के अमूल्य रत्न सुख-समृद्धि की गोद में पलकर इतने बड़े नहीं बने और न युग ही उनका आर्थिक या राजनीतिक समृद्धि का था। अतः इस तर्क के आधार पर कालिदास को गुप्तकाल में रखने का तर्क निराधार है। इसके विपरीत कालिदास की रचनाओं में यक्ष मिलता है अपने राजराज से उत्पीडित; शकुन्तला मिलती है अपने प्रियतम की विस्मृतियों से उत्पीडित; सीता मिलती है अपने पति से तिरस्कृत-लाञ्छित; सारी दुनिया मिलती है तारकासुर से त्रस्त और पीडित और मालविका मिलती है एक विस्थापित, प्रपीडित एवं हृतसर्वस्व; धारिणी, इरावती आदि की व्यथाओं का कोई अन्त है ही नहीं। राजा हैं या तो आत्मापहारी एवं सौन्दर्य और यौवन पर फिसल पड़नेवाले अथवा अपने आदर्शवाद में डूब कर एकदम अकिञ्चन और अपनी प्राणेश्वरी तक का परित्याग कर देनेवाले। अस्तु, ऊपर दिये गये तर्कों के आधार पर हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालिदास अग्निमित्र के ही समकालीन हो सकते हैं और दीर्घजीवी मानने पर उन्हें हम मालवगण के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य का भी समकालीन ठहरा सकते हैं। वैसे हम ऊपर के विवेचन के आधार पर अश्वघोष (शकसंवत् का आरम्भ) के पूर्व तक अधिक से अधिक ले आ सकते हैं और उनकी पूर्व अवधिरेखा के रूप में अग्निमित्र शुङ्ग का जीवनकाल मान सकते हैं। अर्थात् उनकी पूर्व अवधिरेखा को हम २५० शकपूर्व के समय खींच सकते हैं और उत्तर अवधि रेखा को शक संवत् के ५० वर्ष पूर्व नियत कर सकते हैं। उनके सर्वप्रथम नामनिर्देश बाणभट्ट की रचनाओं में (५२५ शकसंवत्) तथा पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोंळे (बीजापुर) के शिलालेख (५५६ शकसंवत्) में मिलते हैं। जहाँ हम विक्रमसंवत् का सर्वप्रथम उल्लेख उसके प्रवर्तन के पूरे आठ सौ अट्ठानवे वर्षों के बाद पाते हैं—और मालव संवत् के रूप में पाँच सौ वर्षों के बाद—वहाँ अगर कालिदास का नामोल्लेख करनेवाले पाँच सौ वर्ष बाद मिल गये तो सौभाग्य की एवं उस महाकवि के परमसम्मान की बात समझनी चाहिए। स्वयं शकसंवत् को ही पूरे पाँच सौ वर्षों तक 'शकसंवत्' के रूप में कहीं नहीं प्रस्तुत किया गया। अश्वघोष का कवि के रूप में किसी भी परवर्ती कवि ने सहस्रवर्षपर्यन्त उल्लेख ही नहीं किया। अतः यदि कुछ सौ वर्षों तक अन्य महाकवियों ने या दृप्त आचार्यों ने कालिदास-जैसे महान् साहित्यकार के विषय में मौन धारण कर रखा तो कोई आश्चर्य नहीं। दूसरी बात यह भी है कि इस बीच की उपलब्ध साहित्यिक कृतियों की भी सङ्ख्या अधिक नहीं है। अश्वघोष और शूद्रक के अतिरिक्त कोई बड़ा साहित्यकार महाकाव्यों एवं नाट्यों की परम्परा में दृष्टिगत भी नहीं होता।

अन्त में ये श्रद्धा के फूल उस महान् शब्दतक्षा की पावनी स्मृति में अर्पित करके आशा करता हूँ कि उस प्राचीन भारतीय आर्षपरम्परा के अनुयायी का रचना-काल उस युग में रखा गया है जहाँ उसका सारा साहित्य—'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र'—और साथ ही शैशव की कृति 'ऋतुसंहार' भी—हमें बरबस खींच ले जाता है भाषा की दृष्टि से, धर्म-दर्शन की दृष्टि से, राजनीतिक परिस्थिति की दृष्टि से, और सारे-के-सारे अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य की प्रमाणपुरस्सर पर्यालोचना की दृष्टि से। किसी प्रकार का पूर्वग्रह नहीं—आज भी कोई आग्रह नहीं—केवल सत्य की खोज की एक प्रयासपरम्परा है जो हमें बाध्य कर देती है कालिदास को अग्निमित्र शुङ्ग का समकालीन मानने के लिए। और कोई ऐसा युग हो ही नहीं सकता जहाँ हम पूर्ण विश्वास के साथ विश्व की इन सात महान् कृतियों के प्रणेता कालिदास को रखकर सन्तोष की साँस ले सकें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाकविकालिदासविरचितम्

मेघदूतम्

उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय[1] प्रहतमुरजाः[2] स्निग्धगम्भीरघोषम्[3]।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥१॥

श्रीवल्लभदेवविरचितपञ्चिका

यत्रालकायां प्रासादा गृहाः तैस्तैः उच्यमानैः धर्मैः भवन्तं तुलयितुमलम् अनुकर्तुं शक्ताः। तथा हि त्वां विद्युत्वन्तं सतडित्कं तेऽपि ललितवनिताः सविलासाङ्गनाः। त्वां सेन्द्रचापं ससुरायुधं तेऽपि सचित्राः सालेख्याः। त्वां स्निग्धगम्भीरघोषं मधुरधीरध्वनितं तेऽपि सङ्गीताय गुणनिकार्यं प्रहतमुरजा वादितमृदङ्गाः। त्वामन्तस्तोयं तेऽपि मणिमयभुवः स्फाटिकावनयः। त्वां तुङ्गमुन्नतं तेऽप्यभ्रंलिहाग्रा व्योमस्पृक्शिखराः। एवं सर्वसादृश्यम्। अभ्रं खं लेढि व्याप्नोतीत्यभ्रंलिहमग्रं येषाम्। 'वहाभ्रे लिहः' (३।२।३२ अ०)। तुलिरिदन्तोऽपि ॥६४॥

भरतसेनकृतसुबोधा

सम्प्रति प्रासादैर्मेघस्य साम्यं दर्शयन्नलकायाश्चिह्नं रम्यताञ्चाह। यत्रालकायां प्रासादा धनिगृहाः तैस्तैः अनन्तरोक्तैः विशेषैः विशेषणैः विद्युत्वत्त्वादिभिस्त्वां तुलयितुं सदृशीकर्तुम् अलं समर्थाः, तां पुनर्दृष्ट्वा न न ज्ञास्यसे इति

---

१. "सङ्गीतार्थम्"—इति पाठान्तरम्। २. "प्रहतमुरवाः" इति पा०। ३. "स्निग्धपर्जन्यघोषम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्वेण सम्बन्धः। साम्यमाह, कीदृशं त्वां कीदृशाः प्रासादाः ? विद्युत्वन्तं तडिद्वनितायुक्तम्, ललिता ललितयुक्ताः सविलासा वनिताः स्त्रियो येषु ते तथा, ललितगुणयुक्ता हि नार्यश्चञ्चला भवन्तीति विद्युत्साम्यम्। ललितलक्षणं यथा—

"हस्तपादाङ्गविन्यासभ्रूनेत्रास्यप्रयोजितम्।
सुकुमारविधानेन ललितं तत् प्रकीर्तितम्॥" इति।

इन्द्रचापेन शक्रधनुषा सहितम्, इन्द्रधनुषो नानावर्णत्वात् सचित्रमित्यर्थः, सचित्राः चित्रेणालेख्येन सहिताः। सङ्गीताय गानार्थं प्रकर्षेण हतास्ताडिता मुरजा मृदङ्गा येषु ते तथा। स्निग्धा मधुरा गम्भीरा मन्द्रा घोषा ध्वनयो यस्य तम्। अन्तर्गर्भे तोयानि जलानि यस्य तम्। मणिमयी भूर्भूमिः प्रदेशो येषां ते तथा; मणिशब्दोऽत्र सामान्यपरोऽपि उपमानौचित्याद् विशेषपरस्तेन मणिशब्दोऽत्र स्फटिकवाची हीरकवाची वा, अतएव शौभ्राद् जलेन साम्यम्। अपां शुभ्रमेव रूपमिति नैयायिकाः। तुङ्गम् उच्चम् अभ्रंलिहम् अत्युच्छ्रितत्वेन आकाशस्पर्शि मेघस्पर्शि वा अग्रं चूडा येषां ते तथा। कान्तप्राणान्विता प्रत्ययोपमेयम्। यदाह दण्डी—

"कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥" इति।

केचित्तु तैस्तैः उक्तरूपैः अनिवर्चनीयैः वेत्याहुः। प्रासादास्त्वां तुलयितुम् इत्येतावतैव वाक्यसमाप्तौ तैस्तैः विशेषैरिति अत्यन्तसादृश्यप्रतिपादनार्थम्॥

अन्वय

यत्र (अलकायां) ललितवनिताः सचित्राः सङ्गीताय प्रहतमुरजाः मणिमयभुवः अभ्रंलिहाग्राः प्रासादाः विद्युत्वन्तं सेन्द्रचापं स्निग्धगम्भीरघोषम् अन्तस्तोयं तुङ्गं त्वां तैः तैः विशेषैः तुलयितुम् अलम्।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में ललित ललनाओं वाले, (रंग-बिरंगे) चित्रों से युक्त, संगीत के लिए थाप दिये गये हुए मृदंगोंवाले, पत्थरों से बनी फ़र्शवाले, और गगनचुम्वी शिखरोंवाले महल (कौंधती) बिजलियोंवाले, (सत-रंगे) इन्द्रधनुष् से युक्त, प्यारी और गहरी गड़गड़ाहटवाले, भीतर भरे हुए जलवाले और अत्यन्त ऊँचे उठे हुए तुम्हारे साथ उन-उन विशेषताओं के कारण समता करने में समर्थ हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणियाँ

(१) **विद्युत्वन्तम्**—"सौदामिनीसहितम्। **"तसौ मत्वर्थे"** [अष्टाध्यायी-१. ४–१९] इति भसञ्ज्ञा। तेन तकारस्य पदाश्रयं जश्त्वन्न भवति।"—(पू० स०)

(२) **ललितवनिताः**—"ललितमस्या अस्तीति ललिता। ललिता वनिता येषु ते।' भरतसेन के अतिरिक्त अन्य टीकाकारों ने 'ललित' की ओर दृष्टिपात नहीं किया है। पूर्णसरस्वती ने "ललिताः रूपवेषविलासादिभिर्मधुराः" लिखा है; मल्लिनाथ ने 'रम्याः' और चरित्रवर्धन ने 'मनोहराः' पर्य्याय दिये हैं। वल्लभदेव ने 'सविलास' विशेषण देकर उस साहित्यक अर्थ की ओर इंगित किया है जिसका स्पष्टीकरण भरतसेन ने किया है। चपला की चाकचक्यकारिणी रमणीयता 'वनिताओं' में पूर्णरूप से तभी पायी जा सकेगी जब उनके अन्दर भी शृंगार-हावों की कमनीयता हो। बानगी के लिये—"चरणनिपातझणझणनूपुरमसृणसञ्चरणे रेखाविशेषस्थितत्रिवलिभङ्गसंस्थानसमुल्लसितभुजम् उरःस्थलप्रसारणाद् द्विगुणपृथुकृतं स्तनस्तबकं स्कन्धासक्तैककुण्डलम् उल्लासितभ्रूसाचीकृतविलोकितमिति।" इसकी व्युत्पत्ति 'लड् विलासे' से **'भावे क्तः"** (३-३–११४) और 'डलयोरभेदः' करके निष्पन्न होगी। **'वनिता'** शब्द यहाँ कम महत्वपूर्ण नहीं है। **'वनिता'** का वास्तविक अर्थ है' जातरागस्त्री' या 'याचिता' या 'सेविता'। इन तीनों ही अर्थों से प्रयोग की मधुरता टपकती है। 'विद्युत्' की विशेष चमक को 'ललित' और 'वनिता' शब्द ही पूरा करने में समर्थ हो पाते हैं। यह है कालिदास का महान् शब्दपारखी! देखिए–"वनिता जातरागस्त्रीस्त्रियोः स्त्री त्रिषु याचिते सेविते"— **मेदिनी।**

(३) **सेन्द्रचापम्**—सहेन्द्रचापेन वर्तत इति सेन्द्रचापस्तम्। **"तेन सहेति तुल्ययोगे** [अ. २. २-२८]"-इति बहुव्रीहिः। **"वोपसर्जनस्य"** [अ. ६. ३-८२]-इति सहस्य सः।

(४) **सचित्राः**—"सह चित्रैर्वर्तन्त इति सचित्राः। 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्'-इत्यमरः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे'—इति बहुव्रीहिः; 'वोपसर्जनस्य'—इति सहशब्दस्य समासः"—इति **मल्लिनाथः।**

(५) **सङ्गीताय प्रहतमुरजाः**—गायन, वादन और नर्तन तीनों को सम्मिलित रूप से सङ्गीत कहा जाता है। 'सङ्गीतरत्नाकर' में लिखा है—"नृत्यं वाद्यं तथा गीतं त्रयं सङ्गीतमुच्यते"। चतुर्थी विभक्ति यहाँ 'सङ्गीतङ्कर्त्तुम्' के अर्थ में **"क्रियार्थोपपदस्य च कर्म्मणि स्थानिनः"** [अ० २-३-१४] के अनुसार सङ्गत है। **'मुरज'** शब्द का अर्थ है मृदंग। अमरकोश में लिखा है—"मृदङ्गा मुरजाः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेष्टित होने के कारण 'मुरज' (मुरं वेष्टनं जातमस्य--रामाश्रमी) कहा जाता है। 'प्रहत' का अर्थ है —'ठनकाये गये' या 'हाथ से बजाये गये' या 'थाप लगाये गये' (प्र + हन् + क्त)। प्रहता मुरजा येषु ते प्रहतमुरजाः (बहुव्रीहिसमास)। कालिदास के इस पद्य में सर्वत्र एकपदवाले विशेषण ही उभयपक्ष में दिये गये हैं—मेघ के विशेषण हैं—'विद्युत्वन्तम्' 'सेन्द्रचापम्' 'स्निग्धगम्भीरघोषम्', 'अन्तस्तोयम्' और 'तुङ्गम्'; और दूसरी ओर प्रासाद के विशेषण हैं—'ललितवनिताः', 'सचित्राः' 'मणिमयभुवः, 'अभ्रंलिहाग्राः' और 'सङ्गीताय प्रहतमुरजाः'। प्रकृत विशेषण को छोड़ कर सभी एकपदात्मक ही हैं। इस जगह दो पद हो जाने से 'प्रक्रमभङ्ग' दोष आ गया है। वस्तुतः रचना को जैसी उठान दे कवि को उसे निभाना चाहिए अन्यथा प्रस्तावौचित्य बिगड़ जाता है। भग्नप्रक्रम का लक्षण है—"भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावौचित्यं यत्र तत्" (काव्यप्रदीप)। नागेश ने 'प्रस्तावौचित्य' को इस प्रकार स्पष्ट किया है 'येन रूपेणोपक्रमस्तेनोपसंहारः'। यहाँ पर एकपदात्मक उपक्रम को अन्त तक निभाना चाहिए। कवि ने उसे यहाँ 'सङ्गीताय' और 'प्रहतमुरजाः' लिख कर भग्न कर दिया। इस प्रकार 'भग्नप्रक्रम' दोष आ गया है। दक्षिणावर्तनाथ के पाठ 'सङ्गीतार्थप्रहतमुरवाः' में इस दोष के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती; अतः उसे काव्यसौष्ठव की दृष्टि से बेहतर पाठ माना जा सकता है। बहुसम्मत तथा प्राचीनतम होने के कारण मैंने सदोष पाठ दिया है।

(६) **स्निग्धगम्भीरघोषम्**—"स्निग्धः श्राव्यो गम्भीरो घोषो गर्जितं यस्य तम्" (मल्लि०)। पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथ आदि टीकाकारों ने 'स्निग्धपर्जन्यघोषम्' पाठ दिया है। पूर्णसरस्वती ने उस पाठ की सुन्दर व्याख्या की है, "स्निग्धपर्जन्यघोषम् अपरुषवृष्टचुद्योगस्तनितयुक्तम्। 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥' इति भगवद्वचने [श्रीमद्भगवद्गीतायाम्] पर्जन्यशब्दस्य वृष्टिवाचकत्वावगतेः। वैजयन्त्यां तु— 'पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽपि स्वाने शक्रेऽर्थयन्त्रके'—इति श्रवणात् तदानीं स्निग्धगर्जनघोषमिति व्याख्येयम्।" इस पाठ में पर्जन्य शब्द के दो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक तो 'सुन्दर गरजते बादलों की गड़गड़ाहटवाले' और दूसरा 'मीठी-मीठी गरजने की आवाज़वाले'। दोनों अर्थों में मेघ के विशेष्य होने के नाते 'अधिकपदत्व' अथवा 'पुनरुक्त' दोष प्रसक्त होगा। इसका परिहार करने का असन्तोषजनक प्रयास पूर्वप्रयोग के बल पर दक्षिणावर्तनाथ ने किया है—"अत्र मेघगर्जितवचिनः पर्जन्यशब्दस्य प्रयोगेणैव सिद्धेऽप्यर्थे घोषशब्दप्रयोगः 'केकारवैर्बर्हिण' इत्यत्र केकारववत् सोढव्यः।" पाठ तो कोई भी हो सहन करना ही पड़ेगा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु पहले के अपप्रयोग क्या उसे दोषावह होने से रोक सकेंगे। इस प्रसङ्ग में तो वल्लभदेव, मल्लिनाथ, चरित्रवर्धन, भरतसेन आदि का गृहीतपाठ प्राचीनता एवं दोषहीनता दोनों ही दृष्टियों से अच्छा है। इस गृहीतपाठ के पक्ष में यह प्रमाण भी उपन्यस्त किया जा सकता है कि कालिदास ने अपने अन्य काव्य 'रघुवंश' में पयोवाह के विशेषण के रूप में "स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम्" (१.३६) लिखा है। इस तरह ग्रन्थकार के प्रिय प्रयोग की दृष्टि से भी गृहीतपाठ ही ज्यायान् है।

(७) **अन्तस्तोयम्**—"अन्तः अन्तर्गतं तोयं जलं यस्य स तम्"—इति चरित्रवर्द्धनः। मल्लिनाथ ने भी यही विग्रह दिया है। भरतसेन ने "अन्तर्गर्भे तोयानि जलानि यस्य तम्" यह विग्रह देकर शुद्ध बहुव्रीहिसमास ही माना है। परन्तु कुछ अधुनातन पण्डित जैसे सर्वश्री संसारचन्द्र और मोहनदेवपन्तशास्त्री ने 'मध्यमपदलोपी समास' लिख मारा है जो स्पष्ट ही मल्लिनाथ की उस टीका के विपरीत है जिसको उन्होंने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मल्लिनाथ ने 'अन्तः' का अर्थ 'अन्तर्गतम्' दिया है; ठीक जिस तरह कि भरतसेन ने 'गर्भे'। ये अर्थ अकोशसम्मत नहीं हैं। सङ्केतित वार्तिक के अनुसार 'उत्तरपदलोप' समानाधिकरण तत्पुरुष में होता है न कि बहुव्रीहि में। "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" (अष्टा० २.१-६०) पर दो वार्तिक हैं "कृतापकृतादीनामुपसङ्ख्यानम्" और "समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च।"

(८) **मणिमयभुवः**—इसके बहुव्रीहिसमास का विग्रह—"मणिमयी भूर्येषान्ते" करना ही समीचीन होगा जैसा कि ऊपर भरतमल्लिक की टीका से सुस्पष्ट है। मल्लिनाथ की टीका के मो. रा. काळे, संसारचन्द्र व का. बा. पाठक के पाठों में—"मणिमया विकारा भुवो येषु ते" मिलता है जबकि शा. राय, ला. वि. भट्टाचार्य व हृषीकेश शास्त्री के पाठों में—"मणिमय्यो मणिविकारा भुवो येषु ते" प्राप्त होता है। काळे आदि का पाठ निश्चित रूप से अशुद्ध है क्योंकि 'मयट्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक बनने से ङीप् ही होगा। पाणिनि ने कहा है—"टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप्ख्युनाम् [अष्टा० ४.१-१५]।" इसका भाव भी भरतसेन ने सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है। "मेघदूतः एक पुरानी कहानी" में नीलम की कल्पना श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक भूल ही मानी जानी चाहिए, क्योंकि 'तोय' की शुभ्रता का बिम्बप्रतिबिम्बभाव 'स्फटिक' या 'हीरक' में ही प्राप्त हो सकेगा न कि 'नीलमणि' में।

(९) **अभ्रंलिहाग्राः**—इसका समासविग्रह है—"अभ्रं लिहन्तीति—अभ्रंलिहानि अग्राणि येषां ते।" 'अभ्रंलिह' प्रातिपदिक "वहाभ्रे लिहः" [अष्टा. ३.२-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३२] सूत्र से खश् प्रत्यय होने पर "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" [अष्टा. ३. ३-६७] सूत्र से मुम् का आगम हो जाने पर निष्पन्न होगा।

(१०) **प्रासादाः**—'प्रासाद' महाराजाओं और देवों के महलों के लिए पारिभाषिक शब्द के रूप में आता है। 'अमरकोश' का कथन है। "प्रासादो देवभूभुजाम्" यहाँ बहुवचन से अलका का व्यतिरेक व्यक्त होता है क्योंकि मेघ तो अकेला है पर अलका के पास उसके तुल्य कोटिशः यक्षप्रासाद हैं। अतः अलंकारध्वनि मानी जायगी। शोक का विषय है कि प्रासादों के इस वर्णन को श्री कृष्णचैतन्य ने "A New History of Sanskrit Literature" (225) में उज्जयिनी का माना है।

(११) **तुलयितुमलम्**—"तुलयितुम्" रूप "√तुल उन्माने" (चुरादि०) धातु से नहीं निष्पन्न होगा अतः यहाँ 'तुला' प्रातिपादिक से णिजन्त नामधातु निष्पन्न होने पर तुमुन्-प्रत्यय लगाया जायगा जैसा कि चारित्रवर्धिनी में स्पष्ट किया गया है:—"तुलया सादृश्येन गृह्णातीत्यर्थे तुलाप्रातिपदिकाण्णिजन्तात्तुलयितुमिति रूपम्।" अलम् शब्द यहाँ पर्याप्त के अर्थ में आया है—"अलम्भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" (अमरकोश)।

अलङ्कारादि—यहाँ सदृशगुणों के द्वारा प्रकृत का अप्रकृत के साथ तादात्म्य वर्णित किया गया है और साथ ही प्रकृत और अप्रकृत के बीच बिम्बप्रतिबिम्बभाव और औपम्यपर्यवसायी आर्थ अभेद होने के नाते "सामान्य' और 'निदर्शना' का एकवाचकानुप्रवेश संकर अलंकार माना जायगा। उपमा तो स्थूलदृष्टि से ही मालूम हो सकती है अन्यथा नहीं।

हस्ते लीलाकमलमलकं[१] बालकुन्दानुविद्धं[२]
नीता रोध्रप्रसवरजसा[३] पाण्डुतामाननश्रीः[४]।
चूडापाशे नवकुरवकं[५] चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं[६] यत्र नीपं वधूनाम्॥२॥

---

१. "अलके" इति, "अळका" इति च पाठान्तरे। २. "कुन्दानुबन्धः" इति, "कुन्दानुवेधो" इति, "कुन्दानुविद्धा" इति च पाठान्तराणि।

३. "लोध्रप्रसव" इति पाठा०। ४. "आनने श्रीः" इति पा०।

५. "कुरुवकं" इति, "कुरबकं" इति च पाठान्तरे। ६. "सीमन्तेऽपि" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

यत्र चाङ्गनानाम् इदमिदम् ऋतुषट्कजातम् अग्राम्यमाभरणम्। किं किमित्याह। करे लीलाकमलं विलासनलिनम्। अलकं बालैः कुन्दकुसुमैः अनुविद्धं सम्मिश्रम्। मुखलक्ष्मीरपि रोध्रपुष्परागेण पाण्डुतां गौरत्वं प्रापिता। चूडापाशे नवं सरसं कुरवककुसुमम्। कर्णयो रम्यं शिरीषकुसुमम्। सीमन्ते च त्वदुपगमजं प्रावृषेण्यं नीपपुष्पम्। तद्धि वर्षासु जायते। तदेतेन तथाभूतेन कनकालङ्कार-निरासेन नागरत्वमङ्गनानाम् उक्तम्।।६५।।

सुबोधा

युगपत् सर्वर्तुसम्भवं रामणीयकं चिह्नञ्च पुनरपि प्रतिपादयन्नाह—हस्ते। यत्रालकायां वधूनां हस्ते लीलाकमलं क्रीडापद्मम् अस्ति सदा इत्यर्थात्। तथा हि यत्र क्रियान्तरं नास्ति तत्रास्तिः प्रयुज्यते इति वृद्धाः। सदेति तु सर्वर्तुवर्णनात्। एवम् अलकं चूर्णकुन्तलः, बालकुन्दैः कुन्दकलिकाभिः अनुविद्धं खचितम्। कौमुदी-कारस्त्वाह—चूर्णनालिकारन्ध्रेण केशे कुन्दकलिकां प्रवेश्य प्रथममनुविद्धम्, उक्तञ्च "सूचिवत् केशशिखरैः वेधाद्विद्धमुदाहृतम्" इति। यद्यपि "अलकाश्चूर्णकुन्तला" इत्यमरः तथापि अर्धर्चादित्वात् क्लीबत्वमपि, "स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्" इति भारविः। एवम् आनने श्रीर्मुखशोभा लोध्रप्रसवरजसा लोध्रपुष्पपरागेण पाण्डुतां पाण्डरतां नीता प्रापिता, एतत्तु सुरतसम्भवस्वेदसंवरणार्थं गण्डमण्डनार्थञ्च। एवं चूडापाशे केशविन्यासविशेषे नवकुरुवकम् अपर्युषितमल्लारपुष्पं झिण्टीपुष्पं वा। "चूडापाशस्तु धम्मिल्ल" इति सर्वः। "चूडापाशे केशसमूहे" इत्यन्ये। कौमुदीकारस्त्वाह "शिखास्था कुसुमबन्धनी केशलता चूडापाशः स च यक्षाङ्गना-नामेव; यदुक्तम्—"चूडापाशो भवेद् यक्षस्त्रीणां न त्वन्ययोषिताम्" इति। एवं कर्णे चारु सुन्दरम् अपर्युषितं शिरीषं शिरीषपुष्पम्। एवं सीमन्ते 'सिंथी' इति ख्याते केशरचनायां त्वदुपगमजं तव मेघस्य उपगमोऽभ्यागमो यत्र स त्वदुप-गमोऽर्थाद् वर्षाकालः तत्रजातं नीपं कदम्बपुष्पम्, "नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रिये" इत्यमरः। नीपः कदम्बविशेषः, कदम्बाकृति बदरास्थिप्रमाणं नीपमिति च व्याच-क्षते। यत्रेत्यस्य वधूनामित्यस्य च सर्वत्रान्वयः। यत्र हस्तादौ पद्मादिकं तां दृष्ट्वैव ज्ञास्यस इति पूर्वेण सम्बन्धः।

ननु कमलादीनां काला नोक्ता नीपस्य तु काल उक्तः तत् कोऽत्राभिप्रायः? उच्यते, अत्रायमभिप्रायः, पद्मादीनां नानाकालसमुत्पत्तिः नीपस्य तु वर्षास्वेव; यदुक्तम्—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"पद्मादीनामकालेऽपि समुत्पत्तिस्तु वीक्ष्यते।
यत्तु वर्षाभवं द्रव्यं प्रायस्तन्नान्यदा भवेत्।।" इति।

अन्यत्राप्युक्तम्—

"अन्यकालभवं पुष्पमुक्तं व्यभिचरत्यपि।
वर्षाभवन्तु कुसुमं सर्वथा नान्यदा भवेत्।।" इति।

अतो वर्षाभवमपि नीपमलकायां सर्वकाले भवतीति। यद्यपि शरदि वसन्तादौ च कमलं वर्ण्यते तथापि अवश्यम्भावात् प्राचुर्याच्च कमलेन शरत् सूचिता। एवं यद्यपि मार्गशीर्षपौषमाघेषु अन्यदापि कुन्दं भवति तथापि कुन्देन हेमन्तो ज्ञापितः। यद्यपि हेमन्तशिशिरग्रीष्मेषु लोध्रं पुष्यति तथापि लोध्रेण शिशिरो ज्ञापितः। एवं यद्यपि कुरुवकं वसन्ते कदाचिदन्यदापि भवति तथापि कुरुवकेण वसन्तो ज्ञापितः एवं यद्यपि शिरीषो ग्रीष्मे हेमन्ते च विकसति तथापि शिरीषेण ग्रीष्मः सूचितः।।

अन्वयः

यत्र (अलकायां) वधूनां हस्ते लीलाकमलम्, अलकं बालकुन्दानुविद्धम् आननश्रीः रोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतान्नीता, चूडापाशे नवकुरवकम्, कर्णे चारु शिरीषम्, सीमन्ते च त्वदुपगमजं नीपम्।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका में) रमणियों के हाथ में (शरद् का) विलास-कमल है, घुंघराले बाल (हेमन्त के) छोटे-छोटे कुन्दों में गुंथे हुए हैं, चेहरे की चमक (शिशिर के) लोध्र के फूलों के पराग से हल्की पीली कर दी गयी है, चोटी के जूड़े में (वसन्त का) ताजा कुरवक लगा है, कान में (ग्रीष्म का) सुन्दर सिरस खुंसा है, और माँग में तुम्हारे पहुँचने के कारण उत्पन्न होने वाला कदम भरा है।

टिप्पणियाँ

(१) लीलाकमलम्—'ललित' की तरह 'लीला' भी कामशास्त्र का एक पारिभाषिक पद है। नायक की प्रेमजन्य चेष्टा की, अनुराग की अधिकता के कारण नायिका के द्वारा की गयी अनुकृति को 'लीला' कहा गया है। वात्स्यायन के अनुसार—"प्रेम्णा जनस्य या चेष्टा याऽनुरागाधिकेन या। क्रियतेऽनुकृतिः सेह लीलोक्ता मुनिसत्तमैः।।" भरत मुनि के अनुसार उस 'प्रेमी की अनुकृति' को माधुर्यपूर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाचिक और आङ्गिक अभिनयों के द्वारा प्रस्तुत किया जानां चाहिए। विप्रलम्भ में इसकी उपयोगिता पर सागरनन्दिन् ने अमित प्रकाश डाला है:—"प्रियस्यानाप्तसमागमा सखीनां पुरतः स्वचित्तविनोदनार्थं वेषगतिहसितभणितैरनुकृतिर्या क्रियते सा लीला।"

आशय यह कि अलका की कामिनियाँ अपने अनुपस्थित प्रियतमों की रति-चेष्टाओं की अनुकृति अनुराग की उल्बणता के कारण कर रही हैं और जिस प्रकार वे एक हाथ में कमल धारण करते हैं ठीक उसी तरह ये भी उनकी अनुकृति के लिए एक हाथ में कमल लिये हुए हैं। कमल यद्यपि वसन्तादि में भी खिलता है परन्तु प्रधानतः शरद् में खिलने के कारण कवियों ने उसे शरद् में ही वर्णन किया है। यहाँ तो वह शरत् का प्रतीक बन कर आया है। मल्लिनाथ ने उद्धृत किया है—"शरत् पङ्कजलक्षणा"। कालिदास ने 'रघुवंश' में स्वयं लिखा है:—

"प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम्।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम्॥" (१०-९)

'ऋतुसंहार' में भी—

"काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥"

अन्य कवियों में बाणभट्ट ने लिखा है—"कोमलकमले मधुस्यन्दीन्दीवरे।" भट्टि ने भी शरद्वर्णन में—"न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्" इत्यादि के द्वारा इसी का समर्थन किया है। प्राचीन भारतीय कलाओं में सनालकमलधारिणी कामिनियों के अङ्कन की विशेष प्रथा इसके अत्यधिक प्रचार की द्योतक है।

(२) **अलकं बालकुन्दानुविद्धम्**—'अमरकोश' के अनुसार 'अलक' शब्द पुंल्लिङ्ग है और इसीलिये चारित्रवर्द्धिनी में इस पाठ को अनुचित ठहराया गया है। चरित्रवर्धन का कथन है:—"अलकं बालकुन्दानुविद्धमित्यसदृशः पाठः। "अलकाश्चूर्णकुन्तला" इति पुंस्त्वनिर्देशात्। प्रक्रमभङ्गदोषपोषप्रसङ्गाच्च।" जहाँ तक नपुंसकलिङ्ग का प्रश्न है 'मेदिनीकोश' स्पष्ट कहता है—"अलका कुबेर-पुर्यामस्त्रियां चूर्णकुन्तले।" आशय यह कि घुँघराले बालों के अर्थ में 'अलक' शब्द नपुंसक और पुंल्लिङ्ग दोनों है। भरतमल्लिक और मल्लिनाथ ने भारवि के प्रयोग "स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्" उद्धृत करके नपुंसकता को ग़लत नहीं ठहराया। मल्लिनाथ ने लिखा है—"नाथस्तु नियतपुंल्लिङ्गताहानिश्चेति दोषान्तरमाह।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तदसत्। 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्।' 'निर्धूतान्यलकानि पाटितमुरः कृत्स्नोऽधरः खण्डितः।' इत्यादिषु प्रयोगेषु नपुंसकलिङ्गतादर्शनात्।" भरतमल्लिक इसे "अर्धर्चादिगण" में होने के कारण भी नपुंसक शब्द मानते हैं। परन्तु 'सिद्धान्तकौमुदी' और 'काशिका' के प्रकाशित पाठों में "अर्धर्चाः पुंसि च" (अष्टा २.५. ३) के गणपाठों में यह शब्द नहीं मिलता। 'लिङ्गानुशासन' के अनुसार 'केशाभिधान' होने के नाते भी इसे पुंल्लिङ्ग होना चाहिए और साथ ही 'कोपध' होने के नाते भी। परन्तु मेदिन्यादिकोशों के बल पर तथा प्रयोगों के बल पर नपुंसक मान लेने में कोई हर्ज नहीं है क्योंकि पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कथन है—"लिङ्गमशिष्यम्। लोकानुसारित्वाल्लिङ्गस्य।" जिन लोगों को 'प्रक्रमभङ्ग' दिखायी देता है और इसी लिये यहाँ उन्हें सप्तम्यन्त पाठ अभीष्ट है उन्हें पूरे के पूरे दूसरे चरण में ऐसी ही स्थिति मिलेगी वहाँ 'श्रीः' प्रथमान्त ही मिलेगा। तो यहाँ भी वैसी ही स्थिति मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। वस्तुतः सप्तम्यन्त का प्रक्रम कवि को अभीष्ट ही नहीं प्रतीत होता इसी से द्वितीय व तृतीय ऋतुपदार्थ को बताते हुए पाठ प्रथमान्त कर दिया गया है। कविसंरम्भ यहाँ पर सर्वर्तुसम्पन्नता दिखाने में है न कि प्रक्रमविशेष। यहाँ हेमन्त की शोभा को भी धारण करती हुई रमणियों का वर्णन किया गया है। इसके सम्बन्ध में दक्षिणावर्तनाथ का कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है:—"कुन्देन हेमन्तसन्निधिरुक्तः। ननु 'निषिञ्चन् माधवीवृत्तिं कुन्दशेषञ्च वर्धयन्' (विक्रमोर्वशीये २-४) इत्यत्र वसन्तात् प्राचीनस्य शिशिरस्य लिङ्गं कुन्दमिति प्रतीयते। कथं हेमन्तस्य लिङ्गमित्युक्तम्। उच्यते—हेमन्तशिशिरयोर्द्वयोरपि लिङ्गं कुन्दं हेमन्ते प्रादुर्भवति शिशिरे प्रौढीभवतीति विशेषः। अतएव बालकुन्दानुवेध इति बालशब्दः प्रयुक्तः।" पूर्ण सरस्वती ने शाकुन्तल की भी साखी दी है:—"कुन्दपुष्पं हेमन्तसमयलक्षणं यथा शाकुन्तले (५-१२)—'भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारमि'-ति।" वैसे कविसमयानुसार कुन्द का वर्णन शिशिर के प्रसंग से ही होता है। 'बाल' शब्द के द्वारा इसका यत्किञ्चित् समर्थन कर दिया जा सकता है।

(३) **लोध्रप्रसवरजसा**—लोध्राणाम् प्रसवा लोध्रप्रसवास्तेषां रजस्तेन। 'प्रसव' शब्द का प्रयोग यहाँ पुष्प के अर्थ में किया गया है। 'विश्वकोश' के अनुसार 'प्रसव' शब्द इन सभी अर्थों में आता है:—"प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने।" 'रजस्' शब्द का यहाँ पराग अर्थ ही अभीष्ट है। वैसे यह शब्द इन सभी अर्थों में आता है:—"रजो रेणुपरागयोः। स्त्रीपुष्पे गुणभेदे च रासक्रीडासु गोदुहाम्। भाषाशृङ्खलके"—'(अनेकार्थसंग्रह)। लोध्र का फूल शिशिर का उपलक्षण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुमारसम्भव में (७-१७) "कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनापत्रनितान्तगौरे" तथा शिशुपालवध में (६-६४) "अभिषिषेणयिषुं भुवनानि यः स्मरमिवाख्यत लोध्ररजश्चयः" उपलब्ध होते हैं।

(४) **चूडापाशे नवकुरबकम्**—'चूडापाश' शब्द सिर के पीछे बँधे हुए जूड़े के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'चूडा' का अर्थ है 'चोटी' या 'शिखा'। 'अमरकोश' में कहा गया है—"शिखा चूडा"। 'पाश' शब्द केशवाचक शब्द के बाद आने पर समूह का अर्थ देता है—"पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थः कचात्परः" (अमरकोश)। 'कुरबक' वसन्त में खिलनेवाला रंगबिरंगा फूल है। यह कवि समय के अनुसार सुलोचनाओं के अवलोकन से खिल उठा करता है—"आलोकनात् कुरबकः कुरुते विकासम्"। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने लिखा है कि इसके पुष्पों में सफ़ेदी, श्यामलता और अरुणिमा की शबलता के दर्शन होते हैं। —"प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।" कुरबक को मधुपुष्प के रूप में कालिदास ने सर्वत्र प्रस्तुत किया है:—"मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः (रघुवंश-९-२९)।" "कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्। दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य कन्दर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः॥ (ऋतुसंहार ६-२०)।"

(५) **शिरीषम्**—सिरस के फूल ग्रीष्म में खिलते हैं। इसे कालिदास ने इसी ऋतु के कुसुम के रूप में सुन्दरियों का कर्णाभरण बनाकर अनेकधा प्रस्तुत किया है। रघुवंश में (१६-४८)—"स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के सन्दष्टभूयिष्ठशिखं कपोले। च्युतन्न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात॥" शाकुन्तल में (१-४) "ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ।" तथा "बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसाञ्जालकम्।" (१-२८)और "कृतन्न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् (६-१८)।"

(६) **नीपम्**—कदम्ब के पुष्पों को पावस के आरम्भ में खिलते हुए कवियों ने प्रायशः वर्णित कर रखा है। विक्रमोर्वशीय (४-३०) में —"रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम्"। ऋतुसंहार (२-२२) में —"मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात् पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।" इससे सीमन्तप्रसाधन की कल्पना कालिदास की अन्यत्र कम मिलती है। कदम्बकुसुम से कर्णपूररचना (ऋतु० २-२५) तथा चूडालङ्करण (विक्रम० ४-३०) आदि प्रायशः प्राप्त होते हैं।

कविसमयः—ऋतुवर्णन में पुष्पविशेष का उपादान कैसे किया जाना चाहिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसे अमरचन्द्र की काव्यकल्पलतावृत्ति (१-५) तथा केशव के अलङ्कार-शेखर (६-२) के अनुसार देखने पर केवल 'कुन्द' के विषय में अन्तर पड़ता है। उसे दोनों के अनुसार 'शिशिर' की वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए:—"शिशिरे कुन्दसमृद्धिः" (अ० शे०)।

अलङ्कारः—पूर्णसरस्वती के अनुसार इस रचना में "कार्य के द्वारा कारणों को प्रस्तुत करने के कारण अप्रस्तुत-प्रशंसा, गम्यवस्तु को भङ्ग्यन्तर से प्रस्तुत करने के कारण पर्यायोक्त और अतीत तथा भावी को प्रत्यक्ष-सा प्रस्तुत करने के कारण भाविक अलङ्कार माने जाने चाहिए।" वास्तव में यहाँ पर्यायोक्त तथा भाविक का समप्रीधान्य सङ्कर माना जाना चाहिए। अप्रस्तुतप्रशंसा के बीज प्रस्तुत की गम्यता का तो अत्यन्ताभाव है।

यस्यां यक्षाः सित[1]मणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचना[2]न्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं[3] कल्पवृक्षप्रसूतं[4]
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः[5] पुष्करेष्वाहतेषु ॥३॥

पञ्चिका

यस्यामलकायां नित्यं वरपुरन्ध्रिसहिता गुह्यकेश्वराः सौधतलान्यागत्य रतिफलं न तु कलहादिजनकं कल्पवृक्षजं मधु रसं सेवन्ते। कीदृशानि स्थलानि? सितमणिमयानि स्फाटिकानि। अत एव ज्योतिश्छायास्तारावलिप्रतिबिम्बान्येव कुसुम रचना पुष्पप्रकरो येषु। कदा आसेवन्ते? भवत इव गम्भीरो निर्ह्रादो ध्वनिर्येषां तेषु पुष्करेषु वाद्यमुखेषु आहतेषु आस्फालितेषु सत्सु। तदेतेन दम्पतीनां सदासुखितत्वमुक्तम् ॥६६॥

सुबोधा

यूनां क्रीडास्थानादिना चिह्नमुपदिशन् प्रोत्साहयितुमाह—यस्याम्। यस्यामलकायां यक्षा उत्तमस्त्रीसहायाः प्रशस्तवनिताद्वितीयाः सन्तः, हर्म्यस्थलानि

---

१. "शित—" इति पा०। २. "रचितान्यु—" इति, "खचितान्यु—" इति च पाठान्तरे। ३. "रतिरसम्" इति पा०। ४. "प्रसूति" इति पा०। ५. "—ध्वनिषु मधुरं" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौधादिस्थानानि एत्य प्राप्य तव गम्भीरध्वनिरिव ध्वनिर्येषां तेषु पुष्करेषु मृदङ्ग-पुटेषु शनकैर्मन्दं गाननृत्यानुकूलं यथा स्यात्तथा आहतेषु ताडितेषु सत्सु मधु मद्यम् आसेवन्ते पिबन्ति, तां दृष्ट्वा ज्ञास्यसे इति सम्बन्धः। हर्म्यस्थलानि कीदृशानि ? सितमणिमयानि स्फाटिकहीरकघटितानि तथा ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणां छायाः प्रतिबिम्बान्येव कुसुमरचना पुष्पाकारा येषु तानि तथा। ननु शङ्खक्षीरन्यायेन कथं सितमणिभूमौ तारकाप्रतिबिम्बमुत्पद्यते ? अन्यमणियोगातिस्वच्छत्वात् प्रतिभाति प्रतिबिम्बं यथा दर्पणे शुभ्रपुष्पम्। किंवा सिता विशुद्धा मणयः पद्मरागमरकतादयः सितमणिविशुद्धरत्नं सामान्यस्य विशेषपरत्वाद् इन्द्रनीलमणिरिति केचित्। शितेति तालव्यशकारं पठित्वा शिताः कृष्णाः मणयः इन्द्रनीलमणय इत्यर्थः इति व्याचक्षते केचित्। कीदृशं मधु ? रतौ रसोऽनुरागो रतेरास्वादो वा यस्मात्तत्तथा, रतिरनुरागः स एव रसोद्भवः तमिव रूपकं मूर्तानुरागमित्यर्थः इति शर्वः। तथा कल्पवृक्षप्रसूतं देवद्रुमोत्पन्नं कल्पवृक्षपदोपन्यासेन इच्छाद्रुमत्वाद् अभिलाषानु-रूपमधुनो लाभो ध्वनितः। शनकैरित्यनेन सङ्गीतानुगतम् इदमिति सूचितम्। शनकैः क्षणं मधु पीयते क्षणं मृदङ्गा वाद्यन्ते इत्यर्थः, इति च वदन्ति। तादृग्गेहोपरिभागे मृदङ्गवादनं मधुपानञ्च मन्दीभूतं कामम् उत्तेजयति इत्येवमुक्तम्; तथा च—

"मधुपानं मृदङ्गानां वादनं चन्द्ररश्मयः।
प्रासादशिखरं रम्यं पुनरुत्तेजयेत् स्मरम्॥" इति।
"सितं विशुद्धमाख्यातं सितं शुक्लमुदाहृतम्॥" इति रन्तिः।
"ज्योतिर्वह्नौ रवौ नेत्रे दीप्तौ च तारकासु च।" इति धरणिः।
"पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले"। इत्यमरः।

अन्वयः

यस्याम् (अलकायाम्) उत्तमस्त्रीसहायाः यक्षाः सितमणिमयानि ज्योति-श्छायाकुसुमरचितानि हर्म्यस्थलानि एत्य त्वद्गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु शनकैः आहतेषु सत्सु कल्पवृक्षप्रसूतं रतिफलं मधु आसेवन्ते।

हिन्दीभाषान्तर

जिस (अलका) में उत्कृष्ट कोटि की स्त्रियों से युक्त यक्ष सङ्गमरमर के बने हुए और सितारों की परछाई-सरीखी फूलों की कारीगरीवाले महलों की फ़र्शों पर पहुँच कर तुम्हारी तरह गम्भीर ध्वनिवाली पखावजों के ठनकायी जाने पर कल्पवृक्ष से पैदा होनेवाली रतिफल नामक मदिरा का सेवन करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणियाँ

(१) **यक्षाः**—अमरसिंह के अनुसार 'यक्ष' एक देवयोनि है। इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी यह बात द्योतित होती है। "√यक्ष पूजायाम्" (चुरादि) धातु से "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्" (अष्टा० ३.३-१९) के अनुसार कर्म में घञ् प्रत्यय करके 'यक्ष' शब्द निष्पन्न होता है। बहुव्रीहि-व्युत्पत्तियाँ भी भानुजी दीक्षित ने प्रस्तुत की है। उनसे भी इस रचना के द्वारा अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि प्राप्त होगी:—"इः कामः तस्येव अक्षिणी अस्येति वा, इरक्षिषु यस्येति वा। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्, (अष्टा०५ ४-११३) इति षच्।" यहाँ भी धर्मान्तरपरिणत सञ्ज्ञी की प्रतीति होगी सञ्ज्ञिमात्र की नहीं। पद्मिन्यातोद्यविशेषसंवलितमधुपाननिरतकाममयत्वधर्मान्तर की ओर हमें ये ही व्युत्पत्तियाँ ले जायँगी और तभी सोपादानात्मकता भी चरितार्थ होगी। इन यक्षों को देवरूप में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों मानते थे। शुङ्गकाल से लेकर गुप्तकाल तक 'यक्ष' सारी भारतीय कलाओं पर छाये हुए थे। कालिदास की कल्पना उसीसे प्रेरित हुई होगी।

(२) **सितमणिमयानि**—मयट् यहाँ पर विकार के अर्थ में आया हुआ है। 'सित' का अर्थ जैसा कि भरतमल्लिक की टीका में उद्धृत 'रन्तिकोश' से स्पष्ट है शु ल लेना ही अधिक उपयुक्त है। 'मणि' से यहाँ अभिप्राय 'पत्थर' से है। 'विश्वप्रकाश' में बताया गया है:—"मणिः स्त्री-पुंसयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च।" सफ़ेद पत्थर अर्थात् संगमरमर से बने हुए महलों के स्थलकुट्टिम हैं। मल्लिनाथ इससे 'चन्द्रकान्त' अथवा 'स्फटिक' अर्थ लेते हैं। ये अर्थ उदात्तालङ्कार की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं। भरतमल्लिक 'सित' का अर्थ 'विशुद्ध' लेकर फ़र्श की सफ़ेदी हटा देते हैं क्योंकि 'ज्योतिष्' जैसे श्वेतपदार्थ का प्रतिबिम्ब पद्मराग या मरकत आदि पर ही पड़ सकता है। परन्तु प्रतिबिम्बग्राहकता सङ्गमरमर में कम क़तई नहीं होती और न स्फटिक में ही। शङ्खक्षीरन्याय के विरुद्ध स्फटिक, दर्पणादि को ध्यान में रखकर उ हें सङ्गमरमर के प्रतिबिम्ब-ग्राहकता की कल्पना कर लेनी चाहिए थी।

(३) **ज्योतिश्छायाकुसुमरचनानि**—'ज्योतिष्' शब्द का कोश भरतसेन ने दे रखा है। यहाँ 'तारका' अर्थ अभीष्ट है। 'छाया' शब्द का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने 'प्रतिबिम्ब' लिया है। 'अमरकोश' के अनुसार 'छाया' शब्द इन अर्थों में लिया जाता है:—"छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" यहाँ कान्ति अर्थ कम रमणीय अर्थ नहीं प्रदान करता; फिर उस अर्थ के लेने पर 'सितमणि', पर प्रतिबिम्ब का पड़ना-न पड़ना भी विवेचन का विषय नहीं रह जायगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्णसरस्वती ने द्वन्द्व करके भी परिहार किया है। इसके समासविग्रह तीनों अर्थों में इस प्रकार होंगे (क) "ज्योतिषां छायाः प्रतिबिम्बान्येव कुसुमानि तैः रचितानि। अथवा ज्योतिश्छाया एव कुसुमरचनान्यत्र तानि। (ख) ज्योतिषां छाया कान्ति-रिव छाया येषां तानि; ज्योतिश्छायानि कुसुमरचनानि येषु तानि। (ग) ज्योतिषां छायाभिः कुसुमैश्च खचितानि (पू० स०)।" "ज्योतिश्छायाकुसुम-रचनानि" पाठ होने पर पूर्णसरस्वती का द्वन्द्व समास सुन्दर अर्थ न देगा। इस पद के द्वारा महलों के शिखरों की तारापथतुङ्गता और मणिकुट्टिमों की प्रसादसम्पत्ति ध्वनित होती हैं। साथ ही ज्योतिश्छाया और कुसुमसमूह के बीच समकोटिकता होने से सन्देहालङ्कार की ध्वनि भी निकलती है। तुलनार्थ-"यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु। ज्योतिषाम्प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्यपहा-रताम्।" (कु० ६-४२)

(४) **हर्म्यस्थलानि**—धनियों के भवन को अमरकोश के अनुसार हर्म्य कहते थे। सतमंज़िले मकानों की सञ्ज्ञा मानसार (२५-२९) के अनुसार 'हर्म्य-कान्त', 'पुण्डरीक', 'श्रीकान्त' आदि थी। यहां '**हर्म्यस्थल**' 'हर्म्यतल' के अर्थ में आया प्रतीत होता है। नीचे की फ़र्श से अभिप्राय नहीं होना चाहिए। ज्योति-श्छाया का ग्रहण सप्ततल भवन में सबसे ऊपरी फ़र्श ही कर सकेगी। सतमंज़िले की ऊपरी खुली छत पर यक्ष उत्तमस्त्रियों की 'गोष्ठी' का सेवन किया करते थे। यह 'गोष्ठी' पान, सङ्गीतादि की थी। इनका रिवाज भी शुङ्गकाल में अत्यधिक हो चला था।

(५) **एत्य**—आ + √इण् गतौ + ल्यप्।

(६) **उत्तमस्त्रीसहायाः**—'उत्तमा चासौ स्त्री चोत्तमस्त्री। सा सहायः येषान्ते। 'उत्तमा' का एक विशेष अर्थ है। अमरकोश के अनुसार यह 'वरवर्णिनी' का पर्याय है:—"उत्तमा वरवर्णिनी।" रुद्र के अनुसार—"शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला। भर्तृभक्ता च या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी॥" और फिर 'तमु काङ्क्षायाम्' धातु से 'उत्तमा' निष्पन्न भी तो होता है।

(७) **आसेवन्ते**—'न पुनः केवलं पिबन्ति दयितामुखपुण्डरीकगण्डूषादाना-दिभिः सरसतरीकृत्य सचमत्कारमास्वादयन्तीत्यर्थः—" (पूर्णसरस्वती)।

(८) **रतिफलम्**—मल्लिनाथ ने 'रतिफल' नामक मदिरा का लक्षण "मदि-रार्णव" से दिया है:—

"तालक्षीररसितामृतामलगुडोन्मत्तास्थिकालाह्वया-
दार्विन्द्रद्रुममोरटेक्षुकदलीगुल्मप्रसूनैर्युतम् ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इत्थं चेन्मधुपुष्पभङ्गचुपचितं पुष्पद्रुमूलावृतं
क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलाख्यं स्वादु शीतं मधु ॥"

'रतिरसम्' से 'रतिफलम्' पाठ ज़्यादा अच्छा है।

(९) त्वद्गम्भीरध्वनिषु—गम्भीरश्चासौ ध्वनिश्च गम्भीरध्वनिः तव गम्भीरध्वनिस्त्वद्गम्भीरध्वनिः। त्वग्दम्भीरध्वनिरिव ध्वनिर्येषां तेषु। "सप्तमीपूर्वस्य च बहुव्रीहिर्वक्तव्य उत्तरपदस्य च लोपो वक्तव्यः" इति समासः।

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां[1]-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजाला[2]वलम्बाः।
त्वत्संरोधा[3]पगमविशदैश्चोतिताश्चन्द्रपादै[4]-
र्व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥४॥

पञ्चिका

यत्र पुर्यां स्त्रीणां कामिनीनां सुरतजनितामङ्गग्लानिं चन्द्रकान्तमणयो व्यालुम्पन्ति प्रशमयन्ति। कीदृशीनाम्? प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां भर्तृभुजबन्धनपीडितानाम्। कीदृशाश्चन्द्रकान्ताः? तन्तुजालेषु अवलम्बन्त इति तन्तुजालावलम्बाः। तथा त्वत्संरोधापगमविशदैर्भवदावरणनिवृत्तिनिर्मलैः चन्द्रपादैः शशिकिरणैश्चोतिताः स्राविताः। अतएव स्फुटजललवस्यन्दिनः प्रकटतोयकणमुचः। अतश्चाङ्गग्लानिहरत्वम् ॥६७॥

सुबोधा

अन्यत्रासुलभं प्रतिगृहवर्ति चन्द्रकान्तं चिह्नं रम्यताञ्च दर्शयन् मेघस्य चन्द्रानाच्छादनम् उपदिशन्नाह—यत्र। यत्रालकायां चन्द्रकान्तामणिविशेषाः स्त्रीणां सुरतजनितां सम्भोगोत्पादिताम् अङ्गग्लानिं गात्रखेदं व्यालुम्पन्ति, तामिति

---

१. "भुजोच्छ्वासितालिङ्गितानाम्" इति,—"भुजालिङ्गितोच्छ्वासितानाम्" इति च पाठान्तरे।

२. "यन्त्रजालावलम्बाः" इति पा०।

३. "त्वत्सम्पर्कोपगम—" इति पा०।

४. "इन्दुपादैर्निशीथे" इति, "चन्द्रपादैर्निशीथे" इति, "प्रेरिताश्चन्द्रपादैः" इति, "चोदिताश्चन्द्र०" इति, "द्योतिताश्चन्द्र०" इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धः। कुतोऽङ्गग्लानिरित्याह, कीदृशीनाम्? प्रियतमेन भुजाभ्यामुच्छ्वासितम् उद्यतश्वासीकृतम् आलिङ्गितम् आलिङ्गनं यासाम्, उच्छ्वासितं च यथा स्यात्तथा आलिङ्गितानां वा गाढालिङ्गितानामित्यर्थः; किंवा प्रियतमेन भुजाभ्यामुच्छ्वासितानां पुरुषायितार्थं देहोपरि भृतानाम् आलिङ्गितानाञ्च भूमिस्थितश्चन्द्रकान्तमणिर्न ग्लानिहर इत्याह—कीदृशास्ते? तन्तुजालावलम्बाः सर्वत्रोपरि सूत्रकलापग्रथिताः; तन्तुना जालं गवाक्षमवलम्बमाना इत्यन्ये। स्यन्दमानश्चन्द्रकान्तो ग्लानिहानिकारीत्याह स्फुटजललवस्यन्दिनः प्रव्यक्ततोयबिन्दुस्राविणः। कथं स्यन्दन्ते? इत्याह, तव संरोध आच्छादनं तस्यापगमेन अभावेन विशदैर्धवलैः चन्द्रस्य पादैः रश्मिभिश्चोदिताः प्रेरिताः स्पृष्टाः। ध्वनिना तु अन्योऽपि पादाहतः क्रन्दन् अश्रुजलस्यन्दी भवति इति। त्वदिति मेघजातिमात्राख्यानं बोद्धव्यम्। प्रासादानाम् उत्तुङ्गत्वादधःस्थितमेघावरणरहितत्वेन इन्दुपादा निर्मला इत्यर्थः। अतएव निर्मलचन्द्रकान्तजलसंस्पर्शत्याजितसुरतजन्यदेहावसादानां द्वितीयसुरतोत्साहो भवतीति पर्यवसितोऽर्थः। अत्रान्येषां व्याख्यान्तरमहृद्यत्वादुपेक्षितम्।

अन्वयः

यत्र (अलकायां) [निशीथे] त्वत्संरोधापगमविशदैः चन्द्रपादैः श्च्योतिताः स्फुटजललवस्यन्दिनः तन्तुजालावलम्बाः चन्द्रकान्ताः प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां स्त्रीणां सुरतजनिताम् अङ्गग्लानिं व्यालुम्पन्ति।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में [आधी रात के समय] तुम्हारे द्वारा की जानेवाली अड़चन के दूर हो जाने पर व्यक्त चन्द्रकिरणों के कारण पिघल उठी हुई साफ़ जल की बूँदों को टपकानेवाली (तनी हुई चाँदनी की) झालर में लटकती हुई चन्द्रकान्त मणियाँ प्रियतम की बाहों के आलिंगन से खिन्न कामिनियों की सुरतोत्पन्न आंगिक क्लान्ति को दूर कर देती हैं।

टिप्पणियाँ

(१) त्वत्संरोधापगमविशदैः—'तव संरोधस्त्वत्संरोधस्तस्य अपगमस्तेन विशदैः।' कवि का आशय यह है कि अलका में मेघों के द्वारा चन्द्र के आच्छादित होने का नितान्त अभाव है। क्योंकि वहाँ कालिदास के ही शब्दों में "बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या" हैं। शिव के शिर पर विद्यमान होने से मेघ-कृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवधान का प्रश्न ही नहीं उठता, वह सदा के लिये दूर हो गया है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में "नित्यं मेघाद्यनुपहतैर्हरशिरश्चन्द्रस्य किरणैरित्यर्थः।"अन्यथा मेघ के वहाँ पहुँचने पर 'त्वत्संरोधापगम' का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वैसी स्थिति में बादल बेचारा अपने संरोध का अपगम स्वयं कैसे अनुभव कर पायेगा। अतः पूर्णसरस्वती की उद्भावना ही समीचीन प्रतीत होती है। यहाँ पर 'विशद' से 'व्यक्त' अर्थ अभीष्ट है न कि शुक्ल। "विशदः पाण्डरे व्यक्ते"—(अनेकार्थ-संग्रह)।

(२) **चन्द्रपादैः**—'पाद' शब्द यहाँ किरण के अर्थ में आया है। 'अमरकोष' के अनुसार "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः।" यहां पर चन्द्रशब्द भी साभिप्राय रखा गया है आगे 'चन्द्रकान्त' शब्द है; 'चन्द्रपाद' और 'चन्द्रकान्त' के बीच के द्रावक और द्रावणीय के सम्बन्ध को 'चन्द्र' शब्द की समानता अच्छी तरह स्पष्ट कर देती है। 'चन्द्र' का अर्थ ही है आह्लादित करनेवाला क्योंकि इसकी निष्पत्ति ही "चदि आल्हादने" धातु से रक् प्रत्यय करने पर होती है। आल्हादकपादों से आल्हादक-कान्त श्चोतित हो उठते हैं। यह व्यंग्यार्थ प्रस्तुत करने की अभूतपूर्व क्षमता इस पदावली से स्वतः संस्फुरित हो उठती है—"एकः सख्यास्तव सह मया वामपादा-भिलाषी।" तृतीया यहाँ हेतु के अर्थ में है और बहुवचन से चांदनी की कुम्भसहस्र-सम्भरणयोग्यता एवं चन्द्रकान्तशतसन्द्रावणक्षमता ध्वनित होती हैं।

(३) **स्फुटजललवस्यन्दिनः**—'जलानां लवा जललवाः। स्फुटाश्च ते जललवाश्च स्फटजललवाः। तान् स्यन्दन्त इत्येवं शीलाः स्फुटजललवस्यन्दिनः ; ताच्छील्यार्थकणिनियोगात्।' यहाँ 'स्फुट' शब्द उल्वण के अर्थ में आया है—"स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्वणम्" (अमरकोश)। णिनि-प्रत्यय के कारण चन्द्रकान्त-मणियों का निरन्तर स्यन्दन करते रहने का शील व्यक्त होता है। विशेष्यगत बहुवचन के द्वारा अत्यायत-सुरत-जन्य श्रम की प्रबलता ध्वनित होती है क्योंकि स्वतः शीतल रात्रिसमय के द्वारा भी न दूर होनेवाली अंगग्लानि चन्द्रकान्त की जलधाराओं की समुच्छ्रित हिमशीतलता से दूर की जा रही है।

(४) **तन्तुजालावलम्बाः**—'तन्तूनां जालं तन्तुजालम्। तेनावलम्बन्त इति समासविग्रहः।' तन्तुजाल का अर्थ हुआ तन्तुसमूह अर्थात् झालर जिससे चन्द्रकान्त की कनियाँ गुथी होने से लटक रही थीं। जाल शब्द के कई अर्थ होते हैं—"जालं वृन्दगवाक्षयोः क्षारकानायदम्भेषु; नीपे ना स्त्री तु घोषके" ("रभस"—भानुजि-दीक्षित)। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ अच्छा स्पष्ट किया है—"तन्तुजालावलम्बा वितानलम्बिसूत्रपुञ्जाधाराः, तद्गुणगम्फिता इत्यर्थः।" तनी हुई चाँदनी जिसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीचे कि तरुणजीवन के विविध विलास चल रहे हैं, झालरों से युक्त है। उन झालरों में चन्द्रकान्तमणियाँ लटक रही हैं। समृद्धि को व्यक्त करने के लिए बहुवचन रखा है।

(५) **प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाम्**—"प्रियतमस्य भुजौ प्रियतम-भुजौ। ताभ्यामालिङ्गनं प्रियतमभुजालिङ्गनम्। तेनोच्छ्वासिता प्रियतमभुजा-लिङ्गनोच्छ्वासिता। तासाम्।" इसकी मधुरिमा को पूर्णसरस्वती ने बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है; और विशेषतः 'प्रियतम' तथा 'भुज' शब्दों की दृष्टि से उसका उद्धरण दिये बिना नहीं रहा जा सकता—"प्रियतमेति, तदङ्गसङ्गस्यामृताय-मानत्वेन सुदृढमप्यालिङ्गनं किसलयमृदुलाभिरपि सह्यते—इति द्योत्यते। भुजेति, प्रियतमानां दयया मृदूपक्रमेऽपि तद्भुजानां प्रियगात्रस्पर्शसुखग्रहग्रस्ततया तदङ्गं प्रवि-विक्षतामिव अभेदमभिलषतामिव निर्भरपरिरम्भारम्भः सूच्यते।" 'उच्छ्वासित' का अर्थ वल्लभदेव ने 'पीडित' दिया है। यह अर्थ 'अंगग्लानि' और 'चन्द्रकान्त के द्वारा व्यालोप' के साथ अधिक सामंजस्य रखता है। —"आलिङ्गनोच्छ्वासि-तानाम्" पाठ की जगह—"भुजोच्छ्वासितालिङ्गनानाम्" पाठ प्रायः टीकाओं में मिलता है। वल्लभदेव का पाठ प्राचीनतम होने के नाते सर्वाधिक ग्राह्य है। पुनश्च, अर्थ की दृष्टि से भी 'शिथिलित आलिंगन-वाली' रमणियों की 'अंगग्लानि' अर्थ-हीन हो जाती है। 'आलिङ्गनपीडिता' की 'अङ्गग्लानि' संगत प्रतीत होती है। 'उच्छ्वास' शब्द से 'इतच्'—प्रत्यय करके 'उच्छ्वासित' निष्पन्न होता है। लम्बी-लम्बी साँसों को 'उच्छ्वास' कहते हैं। किसलयकोमला कामिनियाँ सुदृढालिङ्गन-वश सञ्जातोच्छ्वास हो उठती हैं। 'पीडित' अर्थ लाक्षणिक है। इस प्रसंग में वही संगत भी है।

(६) **स्त्रीणाम्**—इस शब्द की उपयोगिता एवं व्यंजना भानुजि दीक्षित की इस व्युत्पत्ति से पूर्णतः स्पष्ट हो उठेगी—"स्त्यायति गर्भोऽस्याम्। 'स्त्या-यतेर्ड्रट्' (उणादि-४. १६६)। टिलोपः (६. ४—१४३)। यलोपः (६. १—६६)। "टिड्ढाणञ्—(४. १—१५) इति ङीप्।" इस प्रकार दृढालिंगन के फल की ओर भी कलाकार ने मनोरम इंगित इस 'स्त्री' शब्द के प्रयोग द्वारा कर दिया है।

अलङ्कार—यहाँ चन्द्रकान्त के स्फुटजलस्यन्दित्व गुण से स्त्रियों के ग्लानिव्या-लोपत्व गुण का वर्णन किया जाने के कारण उल्लास अलंकार वाच्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही चाँदनी की झालरों में चन्द्रकान्त मणि की अनगिनत कनियों के ग्रथन के द्वारा उदात्त अलंकार के भी प्रस्तुत किये जाने के कारण दोनों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की संसृष्टि भी है। इनके अतिरिक्त अंगग्लानिव्यपगम के द्वारा अभीष्ट आलिंगनादि-व्यापारों के नैरन्तर्य—की अनायाससंसिद्धि ध्वनित होने के नाते प्रहर्षणालंकार-ध्वनि भी प्राप्त होगी।

नेत्रा[1] नीताः सततगतिना [2]यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां[3] नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा[4] यत्र[5] जालै-
र्धूमो[6]द्गारानुकृतिनिपुणं[7] जर्जरा निष्पतन्ति ॥५॥

पञ्चिका

यत्र भवद्विधा मेघाश्चित्रेषु नवजलकणैः नाशं विधाय जर्जरत्वाद्धूमोद्गारानुकृत्या धूमप्रसरसादृश्येन निपुणं प्रवीणं प्रासादजालैः गवाक्षविवरैः निष्पतन्ति निर्यान्ति। उत्प्रेक्षते। चित्रनाशेन शङ्कास्पृष्टा इव शङ्किता यथा। साशङ्कैर्हि सापराधत्वाद्व्याजेन पलाय्यते। कीदृशा जलदाः ? यस्यामलकायां विमानाग्रभूमीर्नेत्रा वोढ्रा प्रेरकेण सततगतिना वायुना नीता अपवाहिताः। नयतीति नेता तेन। अतश्च वर्षणादालेख्यबाधः। जर्जराः खण्डा म्लानाः ॥६८॥

सुबोधा

नानाप्रकारप्रासादचिह्नं प्रतिपादयन् वातवशात् तत्र प्रविष्टानां मेघानां निःसरणोपायमाह—नेत्रा। यत्रालकायां नेत्रा प्रेरकेण सततगतिना वायुना ये त्वादृशास्त्वत्तुल्या जलमुचो मेघा विमानानां सौधानाम् अग्रभूमीः श्रेष्ठप्रदेशान् अर्थाद् द्वारेण आभ्यन्तरभागान् नीताः प्रापितास्ते जलमुचः, आलेख्यानां चित्राणां स्वजलकणिकाभिः आत्मीयसूक्ष्मतोयबिन्दुभिः दोषं वैरूप्यम् आर्द्रविलिप्ततास् उत्पाद्य जनयित्वा, शङ्कास्पृष्टा इव सापराधत्वाद् भयाक्रान्ता इव सन्तः सद्यस्तत्क्षणं जर्जराः खण्डखण्डीभूताः सूक्ष्माः सन्तः जालैर्गवाक्षैः निष्पतन्ति निःसरन्ति

---

१. "यत्रानीताः" इति पा० २. "ये विमानाग्र०" इति—"भूमेः" इति च पाठान्तरे। ३. "सलिलकणिका" इति, "सजलकणिका" इति च पाठान्तरे। ४. "त्वादृशो" इति पाठा०। ५. "यन्त्रजालैः" इति, "जालमार्गैः" इति च पाठान्तरे। ६. "धूपोद्गारा—"इति पा०। ७. "निपुणा" इति, "—कुशला" इति च पाठान्तरे"।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहिर्भवन्ति, यतस्ते धूपस्य कृष्णागुरुधूपस्य य उद्‌गार उद्यमः तस्यानुकृतिः सादृश्यं तत्र निपुणाः कुशलाः, धूमवदतिनिभृतरूपा इत्यर्थः। अन्येऽपि सापराधा भयाद् गुप्तरूपेण कयाचिद्दिशा निःसरन्ति इत्येतदुक्तम्। तां ज्ञास्यसे इति सम्बन्धः। अत्र "ये" इत्युक्तत्वात् ते इति गम्यते। अग्रभूमिः शिखरप्रदेश इति च व्याचक्षते। एतेन प्रत्यवायसम्भवत्वेऽपि वाताधीनगतित्वात् ते प्रविष्टाः तद्वत् त्वं चेद् वात-प्रेरितो गमिष्यसि तदा तथैव निःसरिष्यसीति ज्ञापितम्। नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्येति क्वचित् पाठः। अत्रान्येषां व्याख्यान्तरमुपेक्षितमहृद्यत्वात्।

अन्वय

नेत्रा सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीः नीताः त्वादृशाः जलमुचः आलेख्यानां नवजलकणैः दोषम् उत्पाद्य सद्यः शङ्कास्पृष्टा इव धूमोद्‌गारानुकृतिनिपुणाः जर्जराः (सन्तः) जालमार्गैः निष्पतन्ति।

हिन्दीरूपान्तर

ले जानेवाले समीर के द्वारा जिस (अलका) के विमानों की चन्द्रशाला तक पहुँचाए गये हुए और धूम के निकलने की नकल करने में होशियार तुम्हारे-जैसे जलवर्षी भित्तिचित्रों में ताज़े जल की बूदों से धब्बे पैदा करके तुरन्त भयग्रस्त-से होकर झरोखों के रास्ते जर्जर होकर भाग निकलते हैं।

टिप्पणियाँ

(१) **नेत्रा**—'णीञ् प्रापणे' धातु से तृच्' (कर्तरि) प्रत्यय लगाने पर 'नेतृ' शब्द 'ले जानेवाले' 'प्रेरक' या 'पहुँचानेवाले' के अर्थ में बनता है उसी का टान्त रूप 'नेत्रा' है। जैसे किसी ऊँची जगह पर नटखटपना करने के लिए बालक किसी दूसरे पहुं-चानेवाले व्यक्ति का सहारा लेता है और उस ऊँची जगह पर पहुँच कर अपनी बालिशता सम्पादित करके फिर पकड़े जाने के डर से खिड़की आदि से निकलकर भाग जाता है। ठीक वैसे ही नयी बूंदोंवाला बादल भी पहुँचानेवाले पवन के सहारे विमानों की चन्द्रशाला में पहुँच कर चित्र बिगाड़ देता है और फिर इस बदमाशी (mischief) के लिये पकड़े जाने के डर से खिड़कियों के रास्ते निकल भागता है। किसी भी अपराध में 'नेता' या प्रेरक (abettor) का दण्ड वास्तविक अपराधी के तुल्य ही होता है अतः पवन, जो 'सततगति' है, पहले ही चला जाता है; बस, पहुँचाया और भागा। कालिदास ने बादलों के सहारे समासोक्ति से अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युग के अपराधप्रेरकों (abettors of crime) और अपराधियों (criminals) की कारगुज़ारियों और व्यर्थहानि (mischief) के अपराध की स्थिति को अप्रस्तुत रूप से गम्य रख कर व्यक्त किया है।

(२) **सततगतिना**—सम्+√तनु विस्तारे+क्तः 'समो वा हिततततयोः' (वा०६. १-१४४) इत्यनेन समो मलोपः। सततम्। सततं गतिर्यस्य स सततगतिर्वायुः। 'सतत' अव्यय 'सदा' के अर्थ में आता है। और 'सदागति' 'पवन' की संज्ञा है। "शश्वदभीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये" तथा "मातरिश्वा सदागतिः"—ये कोशवाक्य प्रमाण रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। बादलों को ले आने व ले जाने वाला पवन ही हुआ करता है; वही उनका प्रेरक है। पूर्वमेघ में कालिदास ने लिखा है—"मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्।"

(३) **यद्विमानाग्रभूमीः**—'यस्या विमानाः, यद्विमानाः। तेषाम् अग्रभूमिः, यद्विमानाग्रभूमिः। ताः।' जिस अलका के विमानों की अग्रभूमियों तक। 'विमान' शब्द यहाँ विशिष्ट प्रकार के प्रासादों के अर्थ में आया है। सतमंजिले मकानों को विभिन्न कोशकारों के अनुसार 'विमान' कहते थे। "विमानो व्योमयाने च सप्तभूमिगृहेऽपि च। घोटके यानमात्रे च पुन्नपुंसकयोर्मतः" भानुजि ने उद्धृत किया है। हेमचन्द्र के अनेकार्थसंग्रह में—"विमानं देवतायाने सप्तभूमिगृहेऽपि च।" परन्तु 'अमरकोश' में यह शब्द केवल व्योमयान के अर्थ में आया है। पर 'रामायण' की टीका में 'निघण्टु' का एक उद्धरण मिलता है :—"विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमौ च सद्मनि।" मेदिनीकोश 'का पाठ 'हैमकोश' से मिलता है। महामहोपाध्याय डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने 'मानसार' (XVIII. I–422) के आधार पर लिखा है कि 'विमान' इकतल्ली से लेकर बारहतल्ली इमारत तक के लिये आता है: "Vimänas are buildings of one to twelve storeys and are used as residences of gods and men." ये विमान तीन विधियों से बनाये जाते थे—(क) नागर (ख) द्राविड़ और (ग) वेसर। इन तीनों विधियों में स्तूपी, लूपा और मुखभद्र तीनों की दृष्टि से अन्तर हुआ करता था। 'अग्रभूमि' शब्द में 'अग्र' 'ऊपर' के अर्थ में आया है। 'अमरकोश' के अनुसार "पुरोऽधिकमुपर्यग्राणि"। 'मानसार' में 'भूमि' और 'तल' परस्परपर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं। अतः सबसे ऊपरीतल के आवास को 'अग्रभूमि' कहेंगे। उसीको कोशकार 'शिरोगृह' या 'चन्द्रशाला' कहते हैं। 'हलायुधकोश' का कथन है :—"चन्द्रशाला शिरोगृहम्।" इस प्रकार एकतल के मकान से लेकर बारह-तल के प्रासादों तक किसी के भी सबसे ऊपरी मंज़िल के कमरे के लिये 'विमानाग्रभूमि' शब्द आया है। 'अलका' बदरीनारायण से ऊपर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलकनन्दा के उद्‌गमस्थल के निकट करीब १५००० फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित है वहाँ के मकान तीन-चार मंज़िल से अधिक ऊँचे क्या बनेंगे। परन्तु कविकल्पना के अनुसार बारहमंज़िले मानना अधिक समीचीन रहेगा। वहाँ हर तरह के मकान में बादल हर मंज़िल में घसते-निकलते रहते हैं। वैसे सामान्य गृहों के सामने के हिस्से के लिए भी यह शब्द माना जा सकता है। परन्तु तब कविकल्पना की ऊँची उड़ान एवं 'उदात्त' के लिये गुंजाइश न रह जायगी।

(४) **धूमोद्‌गारानुकृतिनिपुणाः**—धूमस्य उद्‌गारः धूमोद्‌गारः। तस्यानुकृतिः धूमोद्‌गारानुकृतिः। तत्र निपुणः। अत्र सप्तमी—"साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः"—इत्यनेन (२.३.४३)। धुएं के निकलने की नक़ल करने में निपुण बादल निकल भागते हैं। यहाँ समास "सप्तमी शौण्डैः" (२.१.४०) से हुआ है। पूर्णसरस्वती ने "धूपोद्‌गारानुकृतिनिपुणाः" पाठ देकर बड़ा ही साहित्यिक अर्थ निकाला है। 'धूम' शब्द साधारण मकानों के महानस के लकड़ी-कोयले के 'धुएँ' की ओर इंगित करता है; परन्तु 'धूप' नागरकों की सभ्य एवं मधुर जीवन-चर्या को प्रस्तुत करता है:—"धूपोद्‌गारानुकृतिनिपुणाः केशाधिवासनधूपनिर्गमानुकरणविदग्धाः, तत्सवर्णत्वाद् धूपजालत्वेनात्मानमपह्नोतुं पटव इत्यर्थः।" परन्तु कालिदास की कल्पना में "धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः" ही तो मेघ है। ऐसी स्थिति में 'धूमोद्‌गारानुकृतिनिपुणता' उसकी सहजसिद्ध है।

अलङ्कार—इस रचना में बड़ी ही सुन्दर समासोक्ति उपलब्ध होती है। समासोक्ति का लक्षण है—"यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषणसाम्यबलाद् अप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्त्तिस्तत्र समासोक्तिरलङ्कारः समासेन सङ्क्षेपेण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोर्वचनात्।" यहाँ प्रस्तुत है मेघ के सदृश मेघ और पवन का वृत्तान्त। गम्य अप्रस्तुतवृत्तान्त है अपराधी और प्रेरक का वृत्तान्त। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने सापह्नवा वस्तु उत्प्रेक्षा मानी है। "शङ्कास्पृष्टाइव" में अपह्नव उक्त कहाँ हैं? यह वस्तूत्प्रेक्षा अधिक से अधिक समासोक्ति का अंगमात्र है।

नीवीबन्धोच्छ्‌वसनशिथिलं[1] यत्र यक्षाङ्गनानां[2]
वासः[3] कामादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।

---

१. "—बन्धोच्छ्‌वसित—" इति पा०। २. "यत्र बिम्बाधराणाम्"-इति पा०। ३. "क्षौमं रागात्" इति, "वासः कायात्" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि[1] प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा[2] चूर्णमुष्टिः ॥६॥

पञ्चिका

यत्र यक्षाङ्गनानां चन्दनादिचूर्णमुष्टिः दीपशान्तिधिया प्रेरितो विफलो भवति निष्फलः सम्पद्यते। प्रद्योतकाप्रशमात्। कदाचिदन्यत्रासौ पतितो भवेदित्याह। अर्चिस्तुङ्गान् महाज्वालान् रत्नप्रदीपान् अभिमुखमासाद्यापि। विफलत्वं त्वनश्वरत्वाद्रत्नार्चिषः। क्षेपस्तु वह्निदीपभ्रान्त्या। कदा विफलः? इत्याह—कामात् सुरतेच्छया चपलपाणिषु प्रियेषु अम्बरमपहरत्सु। कीदृशं वासः? नीवीबन्धस्योच्चयसंयमनस्योच्छ्वसनेन विकासेन शिथिलम् अदृढम्। ततश्चापलात् तदपहारः। अतश्च लज्जाव्याकुलत्वात्तासां चूर्णादिभिर्मणिदीपप्रशमनेच्छा ॥६९॥

सुबोधा

घृततैलप्रदीपवद् रत्नप्रदीपचिह्नमुपदिशन् तथाविधाद्भुतदर्शनेन प्रोत्साहयन्नाह–नीवी। यत्रालकायाम् अनिभृतकरेषु अनिवारितहस्तेषु प्रियेषु कामाद् रतिरागातिशयान्नीवी वस्त्राञ्चलग्रन्थिः तया यो बन्धो गाढत्वं नीव्येव बन्धो बन्धनं वा, तस्योच्छ्वसितं सावकाशत्वं तेन शिथिलं श्लथं वासो वस्त्रम् आक्षिपत्सु सत्सु, ह्रिया लज्जया मूढानां मूर्खाणां कार्याकार्यानभिज्ञानां यक्षस्त्रीणां चूर्णमुष्टिः सुगन्धिद्रव्यक्षोदमुष्टिः, अर्चिषा दीप्त्या तुङ्गान् उच्छ्रितान्, अभिमुखगतान् सम्मुखप्राप्तान्, रत्नप्रदीपान् रत्नान्येव तत्कार्यकारित्वात् प्रदीपान् प्राप्य विफलप्रेरणा निष्प्रयोजनविक्षेपा भवति, तामिति सम्बन्धः। शिथिलं हि वास आक्षिप्तं सद् भ्रश्यतीति नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलमुक्तम्; नीवीबन्धोच्छ्वसनेन वस्त्रशैथिल्य–मङ्गानां सात्त्विकभावोदयात्; तथा च—"भवेच्च शिथिलं वस्त्रं नितम्बानां निबन्धनम्" इति। गुह्यदर्शने हि लज्जा भवतीति वास आक्षिपत्सु इत्युक्तम्। कामादिति प्रियनिष्ठम्; किंवा कामादित्यस्य अनिभृतेत्यनेन सम्बन्धः। कामादेव प्रियकरो न वारितः स्त्रीभिरित्यर्थादित्यर्थः। पश्चाद्वर्तिनि मन्दे च प्रदीपे तथाविधावलोकनाभावाद् न लज्जेत्युक्तम् अर्चिस्तुङ्गानभिमुखगतानिति। शृङ्गा-

१. "विद्युद्दीप्रानभिमुखमपि" इति, "विद्युद्दीप्तानभिमुखमपि" इति च पाठान्तरे।

२. "विफलप्रेरिता" इति, "विफलप्रेरणा" इति, "विफलप्रेरितः" इति, "विफलः प्रेरितः' इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रिभिश्चतुःसमादिचूर्णं घर्मगन्धादिव्यपोहार्थं क्रीडागृहे स्थाप्यते, घर्मात्युपद्रवे देहोपरि तत् क्षिप्यते; तन्मुष्टिभिः लज्जावतीभिः नवोढाभिः अग्निप्रदीपो निर्वाप्यते, ता हि अन्धकार एव सुरतरता भवन्ति। यदाह वात्स्यायनः—

"प्रदोषे निविडध्वान्ते योषितो मन्दसाध्वसाः।
सुखेन व्यवसायिन्यो रागवत्यो भवन्ति च॥" इति

अत एव चूर्णमुष्ट्या दीपो निर्वातीति बुद्ध्यैव रत्नप्रदीपः चूर्णमुष्ट्या न निर्वातीति जानन्त्योऽपि कामवशाद् मुग्धत्वाद्वा तदभिभावनया चूर्णमुष्टिप्रक्षेपं कुर्वन्ति। किञ्च वस्त्रापहरणे दीपनिर्वापणं शास्त्रोक्तम्, तथा च—

"अंशुकाहरणे चूर्णमुष्ट्या कर्णोत्पलेन वा।
ह्रिया प्रदीपान् निर्वाप्य सुखेन रमतेऽङ्गना।" इति

रत्नप्रदीपान् इत्यनेन अलकायाः समृद्धेराधिक्यञ्च सूचितम्। चूर्णमुष्टिरिति मुष्टिरङ्गुलीरचनाविशेषः, तत्परिमितं चूर्णं चूर्णमुष्टिशब्दवाच्यम्। उदारप्राणा रूपकगर्भा जातिरियम्।

अन्वय

यत्र (अलकायाम्) अनिभृतकरेषु प्रियेषु नीवीबन्धोच्छ्वसनशिथिलं वासः रागाद् आक्षिपत्सु (सत्सु) ह्रीमूढानां यक्षाङ्गनानां चूर्णमुष्टिः अर्चिस्तुङ्गान् रत्नप्रदीपान् अभिमुखं प्राप्य अपि विफलप्रेरणः भवति।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में प्रियतमों के द्वारा कामवश नीवी की गाँठ के खुल जाने के कारण ढीले अधोवस्त्र के शरारती हाथों से हटाये जाने पर लाज के मारे घबड़ा उठी हुई यक्षबालाओं की बुझाने के लिए चूर्ण से भरी मुट्ठी किरणों की दृष्टि से तेज़ प्रकाश वाले रत्नदीपों तक पहुँच कर भी विफल-प्रयासवाली हो उठती है।

टिप्पणियाँ

(१) **नीवीबन्धोच्छ्वसनशिथिलम्**—नीवी की गाँठ के खुल जाने से ढीला हो गया हुआ (अधोवस्त्र)। 'नीव्या बन्धः, नीवीबन्धः। तस्य उच्छ्वसनम्, नीवीबन्धोच्छ्वसनम्। तेन शिथिलम् नीवीबन्धोच्छ्वसनशिथिलम्।' 'नीवी' शब्द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के कई अर्थ होते हैं। विश्वप्रकाश कोश के अनुसार —"नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि।" स्त्रियों की कमर के नीचे के कपड़े को 'नीवी' कहते हैं। यह कमर से घुटनों तक का पेटीकोट-जैसा अथवा कच्छा जैसा कोई अधोवस्त्र था। अमरकोश के अनुसार यह शब्द इस अधोवस्त्र की गाँठ को ही कहते थे—"नीविराग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः।" इसका प्राचीनतम संकेत अथर्ववेदसंहिता में प्राप्त होता है। अष्टम काण्ड के दूसरे सूक्त में जहां ब्रह्मकृत आयुःस्तुति है देवपरिधान रूप से 'नीवि' आयी है—"यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्" (—१६)। आगे सावित्री सूर्या की आत्मस्तुति में यह स्त्रीवासस् के रूप में आयी है:—

"या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः। तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम।" (१४—२—५०)

तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में यह पुरुष व स्त्री दोनों के परिधान रूप से इंगित है। डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने "वैदिक इंडेक्स" के आधार पर लिखा है—"नीवि एक निचले वस्त्र का नाम है=न्यौली? इसे पुरुष और स्त्रियाँ दोनों पहनते थे।" इसकी व्युत्पत्ति 'नि'—उपसर्गपूर्वक √व्येञ्-संवरणे (भ्वादि) धातु से होती है। उणादिसूत्र—"नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः" (४. १३६) से इसकी निष्पत्ति होती है और "कृदिकारादक्तिनः (अष्टा० ४—१—४५)" से 'नीवी' बन जाती है। सरकार ने "सम आस्पेक्ट्स ऑफ़ दि अर्लियस्ट सोशल हिस्ट्री आफ़ इंडिया" में इसकी व्युत्पत्ति तमिल धातु 'नइ' से की है जिसका अर्थ बनना होता है। डा० मोतीचन्द्र जी का कथन है:—"नीवि या परिधान शायद तहमत या लुंगी के ऐसा कोई वस्त्र था जिसे स्त्री और पुरुष दोनों समानरूप से व्यवहार में लाते थे। × × जब तक वैदिक काल की कोई मूर्ति हमें नहीं मिलती तब तक हम ठीक तौर से नहीं कह सकते कि वैदिक 'नीवि' का क्या रूप था। लेकिन सिन्धु सभ्यता की मुद्राओं और मृण्मूर्तियों में जो पोशाक दिखलायी गयी है वह तो केवल एक कपड़े का सँकरा-सा टुकड़ा है जिसे स्त्री और पुरुष दोनों लपेट लिया करते थे। इस तरह के वस्त्र पहनने का रिवाज सिन्धु सभ्यता की समकालीन सभ्यताओं में भी था। हो सकता है कि वैदिकयुग में देश का यह पुराना पहरावा बच गया हो और कालान्तर में आर्यों द्वारा अपना लिया गया हो। नीवि से प्रघात लटका करता था। इसका एक बेबुना छोर फूंदनों से सजा होता था और दूसरा सादा छोर एक छोटी झालर से जिसे तूष कहते थे। नीवि में वातपान भी होता था। यह शायद कपड़े में लम्बाई वाला किनारा था जो हवा के झटके से सूत को बाहर निकालने से रोकता था।" आगे चलकर नीवि शकशताब्दी के आसपास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्रियों का ही परिधान रह गया। जैसा कि कोशों व काव्यों के वर्णनों से स्पष्ट है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नीवि' या 'नीवी' का वास्तविक अर्थ ज़नाना कच्छा या छोटा पेटीकोट ही था। लक्षण से उसमें लगने वाली गाँठ को भी 'नीवी' कहने लगे और फिर 'गाँठ के लगे धन' या मूलधन को भी 'नीवी' कहा जाने लगा। श्री भगवतशरण उपाध्याय का यह कथन कि "नीवी नारा थी जो सामने की तहों की शीर्षछोर को गोल गाँठमें बांधती थी" नितान्त ग़लत और भ्रामक है। मथुरासंग्रहालय की 'सप्तमातृका'-मूर्ति सम्भवतः नीवि-धारण किये हुए अंकित है। यह 'नीवि' कामशास्त्र के अनुसार आप से आप उच्छ्वसित-बन्ध हो जाया करती थी। "रतिरहस्य" में कामपरवशा का स्वरूप दिया गया है:—

"प्रच्छन्नौ व्रजतः स्तनौ प्रकटतां श्रोणीतटं दृश्यते
नीवी च स्खलति स्थिताऽपि सुदृढं कामेङ्गितं योषिताम्।"

कवि ने इसी स्वतः उच्छवसन को दिखाने के लिये "उच्छ्वासन" का प्रयोग नहीं किया। हेतु भी तो कवि ने पञ्चम्यन्त "रागात्" या 'कामात्' पद के द्वारा प्रस्तुत किया है। अतः इस अधोवस्त्र-विशेष का बन्ध अपने-आप खुलकर कपड़े को ढीला कर देता है जो स्वतः श्रोणीतट से नीचे खिसक जाता है। कवि की कल्पना का विषय यही पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ काम या अनुराग है। यक्षाङ्गनाओं के प्रियजन स्वतः सिद्धि प्राप्त करते जा रहे हैं।

(२) **यक्षाङ्गनानाम्**—यक्ष का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है (श्लोक २) मदनपरवशेन्द्रियता पुरुषों की तरह ही इन अङ्गनाओं की भी कवि को अभीष्ट है। यहाँ 'अङ्गना'—शब्द कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अङ्गना का अर्थ ही है 'प्रशस्त अङ्गों वाली—"प्रशस्तान्यङ्गान्यस्याः।"अङ्गात् कल्याणे" (ग० ५–२-१००) इति नः।" (रामाश्रमी) पाठान्तर है "बिम्बाधराणाम्"। इसकी मधुरिमा को पूर्णसरस्वती के शब्दों में चर्वणाविषय बनाना अयथेष्ट न होगा—"बिम्बाधराणाम्, पुनः पुनः प्रियैः गाढलीढतया स्फुटोपलब्धबिम्बीफलसाम्यं दन्तवासो यासाम्। अनेन तादृशाम् अधरमणीनामेव रागराज्यनिर्वहणगर्वदुर्धरत्वाद् इतराङ्गनानां कः सहायकावकाशः-इति ध्वन्यते।" इस व्याख्या से तो ज़रूर कुछ-कुछ उपयोगिता "नीवीबन्धोच्छ्वसन" के प्रति "बिम्बाधराणाम्" की प्रकट होती है। परन्तु अन्य सभी दृष्टियों से "यक्षाङ्गनानाम्" पाठ ही ज्यायान् है।

(३) **अनिभृतकरेषु**—'निभृत' का कोशसम्मत अर्थ है 'विनीत'—"निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः"—(अमरकोश)। अतः 'अनिभृत' का अर्थ हुआ 'दुर्वि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीत', 'शरारती', 'नटखट' आदि। 'शरीर हाथ' कुछ-न-कुछ शरारत या चुहलबाज़ी ज़रूर करेंगे। और यही वेतकल्लुफ़ी कवि को नितान्त अभीष्ट है—"अनिभृतौ करौ यस्य सः, तेषु।" ये कौन-कौन-सी और कैसी-कैसी शरारतें हैं ज़रा टीका के शब्दों में पढ़िए—'अनिभृतकरेषु, "छुरितलिखितनाभीमूलवक्षोरुहोरूः श्लथयति धृतधैर्यं च्यावयित्वाऽथ नीवीम्"—इत्युक्तप्रकारेण स्तनादिस्थानप्रसरत्पाणि-पल्लवेषु। अनिभृता न तु व्यापारिताः, इत्यनेन रसावेशवशात् स्वयमेव क्रममनवेक्ष्य कराः प्रवर्तन्ते—इति द्योत्यते। "शास्त्राणां विषयास्तावद् यावन्मन्दरसा नराः। रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः॥" इत्युक्तत्वात्। बिम्बाधराणाम् अनिभृतकरेष्विति च चुम्बनालिङ्गननखविलेखनादिबाह्यरसप्रपञ्चः सूचितः—"अभ्यर्चिता बाह्यरतेन भूयो या देशकालप्रकृतीरवेक्ष्य। श्लथास्तरुण्यः प्रबलानुरागा द्रवन्ति तृप्यन्ति च शीघ्रमेव।"—इति मदनतन्त्रोक्तेः"—(विद्युल्लता)

(४) **आक्षिपत्सु**—"हटाये जाने पर' न कि 'हटा दिये जाने पर' या 'हटवाये जाने पर'। यदि यहाँ कार्यसमाप्ति इंगित कर दी जाती तब तो शायद उन स्वतः उच्छ्वसित होते हुए बन्धनोंवाली कामिनियों को आत्मस्मरण ही न रह जाता इतनी रसविभोर हो उठतीं। कौन भला तब चूर्णमुष्टियाँ फेंकती? ज़रा विद्युल्लता के शब्दों को देखें—"आक्षिपत्सु, अपहरत्सु न तु-आक्षिप्तवत्सु—इति वर्तमान-निर्देशः। हरणे निवृत्ते तासां स्वात्मनोऽपि स्मरणासम्भवाद् चूर्णमुष्टिप्रेरणादीनां स्मरणदशाभाविनां दूरनिरस्ततां द्योतयितुम्। यथामरुकः—'धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु। नीवीम्प्रति प्रणिहिते हि करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि॥"हटवाने का क्या प्रश्न जब स्वयं खिसक पड़ा हो?

(५) **ह्रीमूढानाम्**—दुराव-छिपाव और सभ्यता की लक्ष्मणारेखाओं के मिट जाने पर लाज से यक्षाङ्गनाएँ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो उठती हैं। इसीलिये वे फेंकती हैं रत्नप्रदीप पर, पर पता नहीं उस मनोदशा में वह पड़ता कहाँ है? ग़लत जगह पर उस मुट्ठी भर चूर्ण के पड़ने के कारण अथवा रोशनी के न बुझने की वजह से अथवा सारी कोशिश बेकार जाने की वजह से लाज के मारे गड़ी जा रही हैं, मोहपरवश हैं, बुद्धि कुछ काम करती नहीं दिखाई देती। 'मूढ' शब्द की व्युत्पत्ति ही है:—'मुह्यतिस्म। "√मुह वैचित्त्ये" (दिवादिः)। ततो "गत्यर्था-(३-४-७२) इति क्तः। (रामाश्रमी)" फिर है भी मूढ बालार्थक—"मूढस्तन्त्रितबालयोः" (विश्वप्रकाश)। रत्नप्रदीपों पर मुट्ठी भर चूर्ण फेंकना बालता नहीं तो और क्या है?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) **चूर्णमुष्टिः**—चूर्णेन पूर्णः चूर्णपूर्णः, चूर्णपूर्णो मुष्टिः; चूर्णमुष्टिः। "समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च।" यहाँ कैसे चूर्णों से भरी मुट्ठी से आशय है इसे पूर्णसरस्वती के शब्दों में देखें "चूर्णमुष्टिः मुखवासाद्यर्थानां घनसारादिसुरभिद्रव्याणां करकमलमुष्टिप्रमाणगृहीतं चूर्णम्। "चूर्णानि वासयोगाः स्युः"—इति वैजयन्ती।"

अलङ्कार—यहाँ पर विशेषोक्ति अलङ्कार की ही विशेष चारुता दिखायी देती है। चूर्णमुष्टि के फेंके जाने पर भी रत्नप्रदीपों का न बुझना—हेतु के होते फलाभाव—ही यहाँ विशेषोक्ति का कारण है।

[1]गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
क्लृप्तच्छेद्यैः[2] कनककमलैः[3] कर्णविभ्रंशिभिश्च।[4]
[5]मुक्तालग्नस्तनपरिमलैश्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥७॥

पञ्चिका

यत्राभिसारिकाणां नैशो मार्गः प्रभातेऽमीभिः सूच्यते कथ्यते अनुमीयते वा कैः? स्तनजघनभरेण गत्युत्कम्पात् केशच्युतैः मन्दारकुसुमैः। कर्णभ्रष्टैश्च कनकनलिनैः क्लृप्तच्छेद्यैः रचितविच्छित्तिविशेषैः। तथा मुक्तामणिषु लग्नः स्तनपरिमलः कुचामोदो येषां तैः छिन्नसूत्रैः मुक्ताहारैश्च। तदेतेन भ्रष्टाभरणाग्रहणेन समृद्धिरुक्ता। छेदनीयं छेद्यं पत्रलतादि। क्लृप्तशब्दे 'कृपो रो लः' (८।२।१८पा०)।

सुबोधा

इदानीं मर्त्यासम्भवमन्दारपुष्पकनककमलचिह्नमुपदिशन् कामिनीसन्दर्शनेन

---

१. "गत्यौत्कम्पात्"—इति पा०। २. "पत्रच्छेदैः" इति, "क्लृप्तच्छेदैः" इति, "लुप्तच्छायः" इति, "पत्रच्छेद्यैः" इति च पाठान्तराणि। ३. "कनकनलिनैः" इति पा०। ४. "—विस्रंसिभिश्च" इति पा०।

५. "मुक्ताजालैः स्तनपरिचितच्छिन्न०" इति, "मुक्तालग्नस्तनपरिसर—" इति, "मुक्ताजालस्तनपरिचय—" इति, "मुक्तालग्नस्तनपरिमलच्छिन्न—" इति, "—स्तनपरिसरैश्छिन्न—" इति, "—परिमलैर्भिन्नसूत्रैः" इति, "परिच्छितच्छिन्नसूत्रैः" इति, "परिचयच्छिन्नसूत्रैः" इति, "मुक्ताजालस्तनपरिसरच्छिन्न—" इति "मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्न"—इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रोत्साहयन्नाह—गत्युत्। यत्रालकायां सवितुः सूर्यस्य उदये प्रत्यूषे मन्दारस्य सुरतरोः पुष्पैः तथा कनकनलिनैः स्वर्णपद्मैः तथा मुक्ताजालैः मुक्तानां जालैः आभूरणभेदैः जालसूत्रावलीन्यायेन परिहितैः मौक्तिकैः तथा हारैः स्वनामख्यातैः मुक्ताकलापालङ्कारैश्च चतुर्भिः कर्तृभिः कामिनीनाम् अतिशयितकामानां नैशो रात्रिसम्बन्धी मार्गः पन्थाः सूच्यते प्रकाश्यते। किंवा मन्दारपुष्पादिभिः हेतुभिः कारणैर्वा सूच्यतेऽर्थाज्जनैः, अनेन पथा अभिसारिका गता इति तत्तत्सन्दर्शनाद् विज्ञायते इत्यर्थः। तामिति सम्बन्धः। कीदृशैर्मन्दारपुष्पैः? गत्युत्कम्पाद् गतौ य उत्कम्प उत्फालनं शीघ्रता, किंवा कदाचित् काचिद् जानातीति शङ्कया य उत्कम्प उद्गतवेपथुः तस्माद् हेतोः अलकपतितैः चूर्णकुन्तलाद् गलितैः, तथा क्लृप्तं विरचितं छेद्यं छेदार्हं पत्रं येषां तैः। छेद्यमिति भावे ण्यत् वा। क्लृप्तच्छेदैरिति क्वचित् पाठः। इदं कनकनलिनैः इत्यस्यापि विशेषणम्। गत्युत्कम्पोऽयं भ्रंशे छेदे च हेतुः। कीदृशैः कनकनलिनैः? कर्णाद् विभ्रंशिभिः च्युतैः। कीदृशैर्मुक्ताजालैः? स्तनयोः परिसरैः वेष्टनैः। पुनः किम्भूतैः? छिन्नानि सूत्राणि ग्रन्थनतन्तवो येषां तैः। इदं हारैः-इत्यस्यापि विशेषणम्।

"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥" इत्यमरः।

"आनायः पुंसि जालं स्यात्" इति च। मुक्ताजालं मुक्तासर इति प्रसिद्धं मण्डनम्। तथा च "मुक्तासरं परिदध्याद्गुर्वोः कण्ठे पयोधरे" इति, "वेष्टनं स्यात् परिसर" इति शर्वः। पुरुषोत्तमस्त्वाह—मुक्ताजालैर्मुक्तासमूहैः हारैः हाराकारैः स्तनं परिसरन्तीति स्तनपरिसराः तैः पचादित्वादजिति। केचित्तु मुक्ताजालैर्मुक्तासमूहैः अर्थाद् धम्मिल्लादिमण्डनोपयुक्तैः तथा स्तनपरिसरैः कञ्चुलिकाभिः तथा हारैः छिन्नसूत्रैः इति त्रयाणामेव विशेषणमित्याहुः। स्तनपरिसरः स्तनभरः तेन स्तनपरिसरे स्तनपर्यन्ते वा छिन्नं सूत्रं येषां तादृशैः। स्तनपरिसरैः इत्यपपाठः, अप्रयोजकदोषापाताद् अन्वयाभावाच्चेति बृहस्पतिः। किन्त्वयमस्य प्रमादः, पूर्वटीकाकारैः स्तनपरिसरैः इत्यस्यैव व्याख्यातत्वात्, प्राचीनबहुपुस्तकेषु तत्पाठस्य दृश्यमानत्वाच्च। निशाया अयं नैशः। मार्गः कर्टिरिति ग्राम्यतया नैशः पन्था इति केचित् पठन्ति। कामोऽतिशयेन अस्ति आसामिति कामिन्यः, ताश्च भयमपहाय अभिसरन्त्येव। तथा च—

'प्राकारभित्तिदृढपञ्जररक्षिवर्गैस्तिष्ठन्ति बद्धगतयो हर्यसिहनागाः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्रीणान्तु चित्तशयसारथिनोदितानां नालङ्घ्यमस्ति भुवनत्रितयेऽपि किञ्चित्।' इति। उदारमाधुर्यप्राणा स्वभावोक्तिः॥

अन्वय

यत्र (अलकायां) कामिनीनां नैशो मार्गः सवितुः उदये (सति) गत्युत्कम्पाद् अलकपतितैः मन्दारपुष्पैः कर्णविभ्रंशिभिश्च कनककमलैः क्लृप्तच्छेद्यैश्च मुक्तालग्नस्तनपरिमलैः छिन्नसूत्रैः हारैश्च सूच्यते।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में कामिनियों की रात की राह सूर्य के निकल आने पर गति के कारण ज़ोर से हिल-डुल उठने से घुँघराले बालों से, खिसक पड़े हुए मंदार के फूलों से, कानों से सरक पड़े हुए स्वर्णपद्मों से बनी रचनाविशेषों से, और मोती के दानों में लगी हुई वक्षःस्थल की सुगन्धियों से एवं टूट गये हुए डोरेवाले हारों से ज़ाहिर हो उठती है।

टिप्पणियां

(१) **कामिनीनाम्**—जिस स्त्री के अन्दर कामभावना अत्यधिक बढ़ जाती है उसे कामिनी कहते हैं। भानुजि दीक्षित ने लिखा है—"भूयान् कामोऽस्याः। इनिः (५.२-११५)।" अर्थात् 'काम' शब्द से "अत इनिठिनौ" सूत्र से 'कामिन्' बनेगा और उससे 'ङीप्' लगाने पर 'कामिनी'। यहाँ 'कामिनी' 'अभिसारिका' के अर्थ में प्रयुक्त है। मल्लिनाथ ने तो 'कामिनी' का यहाँ अर्थ ही 'अभिसारिका' दिया है। 'अभिसारिका' का लक्षण हैः—"अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशङ्गता। स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका॥ (सा० द०)" इस लक्षण में सारा प्रभाव 'मन्मथ' का है। उसी के परवश होकर कामिनी या तो स्वयं प्रियतम के पास जाती है या उसको अपने पास बुलाती है। इसी कारणवश 'कामिनी' और 'अभिसारिका' टीकाकारों की दृष्टि में पर्याय हो गये। 'ऋतुसंहार' में कालिदास ने ऐसी स्त्रियों को 'प्रकामा' कहा हैः—

"निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान् प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः।
स्त्रियः प्रकामा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम्॥" (२-७)

शुभङ्कर के लक्षण में 'अभिसारिका' और 'कामिनी' का सामानाधिकरण्य एवं उद्दाममन्मथा होने का भाव काफ़ी स्पष्ट हैः—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"उद्दाममन्मथमहाज्वरवेपमाना रोमाञ्चकण्टकितलोकतलं वहन्ती।
निःशङ्किनी व्रजति या प्रियसङ्गमोत्का सा कामिनी किल भवेदभिसारिकेति ॥"

(२) **गत्युत्कम्पात्**—'गतेरुत्कम्पः, गत्युत्कम्पः। तस्मात् (हेतौ पञ्चमी)। उत्+√कपि चलने (भ्वादि)+घञ् = उत्कम्पः।' मदनवशंवदा होने के नाते कामिनियाँ ज़रा झपट कर चली जा रही थीं। झपट कर चलने के कारण अङ्ग-अङ्ग ज़ोर से झटके खाते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि उनमें खुँसे हुए पुष्पादि सरक-सरक कर गिर-गिर जायं। यही नहीं उनका रास्ते में पड़ा रह जाना भी स्वाभाविक है क्योंकि शीघ्रतावश उस अभिसारिका को अवकाश ही कहाँ गिरे हुए पुष्पादि को उठा कर फिर से अङ्गविन्यस्त करने का। काम की प्रबलता से वेग की तीव्रता की ध्वनि 'गत्युत्कम्प' में 'उत्कम्प' शब्द से होती है। 'ऋतुसंहार' में अभिसरण करने वाली 'प्रकामा', जिसकी तुलना व्युत्पत्ति के आधार पर 'कामिनी' से बड़ी ही सरलता से की जा सकती है, बाढ़ पर आयी हुई बरसाती नदी की गति से चलती दिखायी गयी है। यह बात और भी ध्यान देने की है कि उपमान 'प्रकामा' है न कि बरसाती नदी। उपमान में धर्म उपमेय की अपेक्षा असंदिग्धरूप से अतिशायी माना जाता है। इससे कालिदास की कल्पना की कामिनी के 'गत्युत्कम्प' का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

(३) **अलकपतितैः**—'अलकेभ्यः पतितैः। "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः"। घुँघराले बालों के छल्लों में फँसे हुए फूल झपट कर चलने के कारण लटों के उठने-गिरने से झड़ गये। 'पतित' शब्द पाणिनि के सूत्र—"द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः (२-१-२४)" के आधार पर निपातित किया जाता है। तत्त्वबोधिनीकार ने गत्यर्थक चुरादिगणी √पत-धातु से सिद्ध करने का प्रयास किया है:—"यद्यपि 'तनि-पति-दरिद्रातिभ्यः सनो वा इड् वाच्यः" (वा०) इति विकल्पितेट्कत्वाद् "यस्य विभाषा (७-२-१५)" इतीण्निषेधेन भाव्यम् तथाप्यत एव निपातनाद् इडित्याहुः। वस्तुतस्तु—चुरादावदन्तेषु पठितस्य 'पत गतौ च'—इत्यस्याश्रयणेन पतितः सिध्यति 'यस्य विभाषा'—इत्यत्रैकाच इति अनुवृत्तेः सर्वसम्मतत्वात्।" इस प्रकार यथा-कथञ्चित् 'पतित' बना लेने पर भी उसका अर्थ 'गिरा हुआ' न होकर 'गया हुआ' या 'जाना हुआ' होगा। अतः निपातन का पक्ष ही साधीयान् है।

(४) **मन्दारपुष्पैः**—'मन्दार' को 'अमरकोश' में पाँच देवपुष्पों में से एक के रूप में प्रस्तुत किया गया है:—"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥" परन्तु मन्दाकिनी और अलकनन्दा के किनारे टिहरी गढ़वाल और पौड़ी गढ़वाल ज़िलों में लगभग ४००० फ़ीट की ऊँचाई पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन्दार के बड़े बड़े कुसुमवृक्ष उत्पन्न होते हैं। अलका के मार्ग पर तमाम मन्दारवृक्ष रुद्रप्रयाग के आगे मिलते हैं। कवि की कल्पना का 'मन्दार' सुगन्धि का आकर है। इसकी पोषक इसकी व्युत्पत्ति स्वयम् है—"मन्दयते मोदयति। 'मदि स्तुतिमोद-मदस्वप्नकान्तिगतिषु' (भ्वादि०)। 'अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन् (उणादि० ३-१३४)।" भानुजि दीक्षित की उक्त व्युत्पत्ति के आधार पर अलकों की सुरभि का समृद्ध रूप एवं उनका मादक सौन्दर्य कालिदास की कल्पना का वास्तविक स्वरूप सामने प्रस्तुत कर देते हैं। बहुवचन से प्रसाधन की सामग्री का बाहुल्य एवं मादकसुगन्धा-तिशय द्योतित होता है, क्योंकि जब गिर पड़े हुए मन्दारपुष्पों की बहुलता है तो केशपाशनिवेशित की तो गणना ही नहीं की जा सकती। इससे गति के वेग एवं त्वरा का भी अतिशय ध्वनित होता है।

(५) **क्लृप्तच्छेद्यैः**—इस पाठ को प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव ने दिया है। 'क्लृप्तं छेद्यं येषां तैः।' 'क्लृप्त' शब्द 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वादि) धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। पाणिनि का सूत्र है "कृपो रो लः" (अष्टा० ८-२-१८) जिसके कारण रूप 'क्लृप्त' हो जाता है। 'छेद्य' का अर्थ है छेदनीय अर्थात् पत्र, लता आदि। 'छेदमर्हन्तीति छेद्यानि।' 'छँटाव' या 'विच्छित्ति' के अर्थ में 'छेद्य'। समस्तपद का अर्थ होगा "बनी हुई विच्छित्ति-विशेष'। वल्लभदेव का आशय है कि मानसरोवर के कनककमलों से बने हुए छँटावदार कर्णोत्पल। उन कनक कमलों को सुन्दर ढंग से काट-छाँट कर कर्णोत्पल-नुमा बनाया गया है और कनककमलों की उन विशिष्ट रचनाओं को इन अभि-सारिकाओं ने धारण कर रखा था। दूसरा पाठ है "पत्रच्छेदैः"। मल्लिनाथ ने उसका अर्थ किया है "पत्राणां पत्रलतानां छेदैः खण्डैः।" परन्तु चरित्रवर्धन और भरत-मल्लिक दोनों ने 'क्लृप्तच्छेद्यैः' पाठ मानते हुए उसे "कनककमलैः" का विशेषण माना है। चरित्रवर्धन ने लिखा है:—"क्लृप्तं रचितं छेद्यं छेदो येषान्तैः कनक-कमलैः हेमपद्मैः।" परन्तु 'छेद्यं' का भरतमल्लिक द्वारा किया हुआ 'छेदार्ह' अर्थ ही समीचीन है। इस पक्ष में हिन्दी अर्थ होगा "किये गये हुये (सुन्दर) छँटाववाले कनककमलों से।" वल्लभदेव के अनुसार कनककमल की पंखुड़ियों आदि को लेकर कर्णोत्पल बनाया गया है, जबकि भरतमल्लिक व चरित्रवर्धन के अनुसार थोड़ा-बहुत नोंचनाच कर कनककमलों को ही कानों में खोंस लिया गया था। प्रातःकाल राहों में पड़े यत्किञ्चित् छिन्न कनककमल से कोई कभी भी अभिसारिका का अनुमान नहीं कर सकता। हाथ में लिये गये हुये विलासकमल भी आघ्रात होकर दो-चार पंखु-ड़ियों से हीन हो जाते हैं और शाम को आते-जाते फेंक दिये जाने पर राहों पर पड़े

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिखेंगे। परन्तु यदि कनककमलों से एक विच्छित्तिविशेष, जो कर्णोत्पल का काम दे सके, बनाई जाय और वह राहों पर पड़ी मिले तो अवश्य अभिसारिका का अनुमान हो सकेगा। यहाँ पर 'अनुमानालङ्कार' की स्फूर्ति इसी से होती है।

(६) **मुक्तालग्नस्तनपरिमलैः**---इसी पाठ को चरित्रवर्धन ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार---"मुक्तासु मौक्तिकेषु लग्नः स्तनानां कुचानां परिमलः सौगन्ध्यं येभ्यस्तैः। छिन्नानि त्रुटितानि सूत्राणि तन्तवो येषां तैः।" केवल मुक्ता के पड़ी रहने से अभिसारिका का अनुमान नहीं किया जा सकता; परन्तु वक्षःस्थल पर लगाये जानेवाले सुरभित लेप, जैसे चन्दनद्रव, केशर या कुङ्कुम और मृगमद आदि, यदि उन मोती के दानों पर कहीं लगे हों तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह किसी अभिसारिका के ही हार का है। अतः 'मोती के दानों में चिपके हुए वक्षःस्थल के सुगन्धवाले' यही अभीष्ट अर्थ प्रतीत होता है। भानुजी दीक्षित के द्वारा उद्धृत कोश के अनुसार---"स्यात् परिमलो विमर्दातिमनोहरगन्धयोश्चापि। सुरतोपमर्दविकसच्छरीरसङ्गादिसौरभे पुंसि।" और तीसरे अर्थ की रमणीयता का आस्वाद और भी सहृदयहृदयहारी सिद्ध होगा। "मुक्ताजालैः स्तनपरिसरैः" पाठ तो सर्वथा निराकरणीय है। भरतमल्लिक ने बृहस्पति का खण्डन उद्धृत किया है---"अपपाठः, अप्रयोजकदोषापाताद् अन्वयाभावाच्च"। इसके विरोध में उनका समर्थन निरर्थक है क्योंकि प्राचीनतम पाठ वल्लभदेव का है जो इस पाठान्तर के अनुकूल नहीं है। यहाँ पर 'रसाकर' के अनुसार चारों भूषणों को प्रस्तुत किया गया है:---

"कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्। चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणां मन्मथदैशिकम्॥"

मत्वा[1] देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति[2] भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
[3]सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुर[4]वनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥८॥

पञ्चिका

यत्र पुर्यां साक्षादासीनं हरमवेत्य स्मरः षट्पदज्यं षट्पदमौर्वीकं धनुः प्रायेण

---

१. "दृष्ट्वा देवम्" इति पा०। २. "भयात् त्वामपि प्रेक्ष्य कामः" इति पा०। ३. "सभ्रूभङ्गम्" इति पा०। ४. "चटुलवनिता—" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रासान्नादत्ते। स्वव्यापारान् न कुरुत इत्यर्थः। कथं तर्हि मिथुनेषु अन्योऽन्यं प्रेम ? इत्याह। तस्य कामचापस्य आरम्भो व्यापारः प्रवीणाङ्गनाविलासैरेव सम्पद्यते। कीदृशैः ? कामिलक्ष्येषु सभ्रूभङ्गानि प्रहितानि क्षिप्तानि नयनानि येषु। तथा अमोघैः अवन्ध्यैः कार्यकारिभिः। तदेतेन युवतिप्रावीण्यमुक्तम् ॥७१॥

सुबोधा

शिवसन्दर्शनपुण्येन विलासिनीचेष्टाकामसम्पत्त्या च प्रोत्साहयन् आह—मत्वा। यत्रालकायां धनपतिसखं कुबेरमित्रं देवं महादेवं साक्षात् प्रत्यक्षरूपेण न तु प्रतिमादिरूपेण वसन्तं तिष्ठन्तं मत्वा ज्ञात्वा, प्राय उत्प्रेक्षे, भयात् पूर्वभस्मीकृतत्वेन त्रासात्, मन्मथः कामः चापं धनुः न वहति न धारयति, तामिति सम्बन्धः। धनुरेव किं न वहति इति न, गुणशून्यत्वात् किं न वहति इति च नेत्याह, कीदृशं चापम् ? षट्पदज्यं भृङ्गगुणं पौष्पमित्यर्थः, तेनैव पूर्वं कृतापराधत्वात्। यद्येवं तर्हि कथं कामित्वमित्याह—तस्य कामस्य कामिलक्ष्येषु कामिष्वेव शरव्येषु आरम्भ उद्यमः चटुलानां मनोहराणां वनितानां स्त्रीणां विभ्रमैर्विलासैरेव सिद्धो निष्पन्नः। तस्य चापस्य आरम्भः कार्यमित्यन्ये। कीदृशैः ? सभ्रूभङ्गं यथा स्यात्तथा, प्रहितानि नयनानि यत्र तैः; तथा अमोघैः अव्यर्थैः। एतेन भ्रूवल्ली चापः कटाक्षाः शराः कामिनो लक्ष्याणीति ध्वनितम्। एतच्च कामकारणम् अन्येनाप्युक्तम्। यथा—

"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति।" इति।

देवमिति, अन्योऽपि कुबेरस्य सखा सम्भाव्यते इत्युक्तम्। प्रायः-शब्द उत्प्रेक्षा-द्योतने। तथा च दण्डी—

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥" इति।

इह तु उद्यमस्य सिद्धत्वाद् यच्चापं न वहति तद्भयादिति कविना उत्प्रेक्षितम्। अन्ये तु प्रायो बाहुल्येन; यदा धनपतिर्मित्रं महादेवम् अभ्यर्थयति तदा स महादेवो मित्रानुरोधादाज्ञापयति तथा कामः चापं वहति, अतएव प्राय इत्युक्तम्; धनपति-पदेन धनाधिकारिमित्रवचनमलङ्घ्यमिति ध्वन्यते इत्याहुः। कामिलक्ष्येषु इत्यनेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि कामश्चापं न वहति तर्हि स्त्रीणामेव कथं तद्विकार इति निरस्तम्। कामिनो युवानः पुरुषा एव लक्ष्याणि तेषु विषये चापं न वहति इत्यर्थः। रूपकगर्भोत्प्रेक्षेयम्।

अन्वय

यत्र (अलकायाम्) मन्मथः धनपतिसखं देवं (शिवं) साक्षाद् वसन्तं मत्वा भयात् षट्पदज्यं चापं प्रायः न वहति। तस्य आरम्भः सभ्रूभङ्गं प्रहितनयनैः कामिलक्ष्येषु अमोघैः चतुरवनिताविभ्रमैः एव सिद्धः।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में कामदेव कुबेर के मित्र महादेवजी को साक्षात् निवास करने वाला समझ कर डर के मारे भँवरों की प्रत्यंचावाला धनुष् प्रायः नहीं धारण करता। उसका उद्यम तो कामी-रूपी लक्ष्यों पर भ्रूभङ्ग के साथ चलाये गये कटाक्षों वाले चतुर कामिनियों के अचूक विभ्रमों से ही सिद्ध हो जाया करता है।

टिप्पणियाँ

(१) **मत्वा**—'√मन ज्ञाने (दिवादि०)' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय लगने पर 'मत्वा' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है 'जानकर'। इसकी व्यञ्जना यह है कि 'लोगों से ही जानकर' यानी शब्दप्रमाण के आधार पर ही मन्मथ भय से घबड़ाया हुआ है। इस जनोक्ति की सत्यासत्य-परीक्षा करने का भी उसका साहस नहीं हो पाता। जैसी विपत्ति एक बार दृष्टिगत हो जाने पर उस पर आ गयी थी उसकी सम्भावना करके प्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षा करना उसके वश की बात नहीं। दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में —"मत्वा न तु दृष्ट्वा, तत्तादृशकोपाटोपदुःसहतया निरूप्येत्यर्थः"।

(२) **धनपतिसखम्**—"धनपतेः कुबेरस्य सखेति धनपतिसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ४-५-९१)"—(मल्लिनाथ)। निधिपति राजराज कुबेर को अनुगृहीत करने के लिए शिवजी वहाँ पर निवास करते हैं। अलकाधिपति कुबेर हैं, अलका में शिवजी का वास कुबेर को नाना प्रकार के भयों से बचाने के उद्देश्य से ही होता है। कालिदास ने लिखा भी है—"बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या"। इस अलकावास और धनपतिसखता की व्यञ्जनाएँ 'विद्युल्लता' में बहुत अच्छी तरह दी हैं—"धनपतिसखं निधिपते-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वश्रवणस्य सखायम्। तदनुग्रहार्थं तत्र वास इत्यर्थः। अनेन बलवदरिनिवहभय-चकितचेतसां धनवतां बलीयांसं सुहृदमनाश्रित्य कुतः सुखासिकेति व्यज्यते।"

(३) **साक्षाद् वसन्तम्**—देवाधिदेव महादेव जी अलका में प्रत्यक्षरूप से विराजमान हैं, न कि प्रतिमारूप से। प्रतिमारूप से ही विद्यमान होते तो कोई बात न थी मन्मथ अपने धनुष् को डाल न देता। पर यहाँ पर तो विग्रहधारी स्वयं कामारि वर्तमान हैं जिन्होंने कि—

"तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥७२॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनञ्चकार॥७३॥

(कुमारसम्भव-३)

'वसन्तम्' से तात्पर्य है गृहस्थ की तरह रहने वाले न कि आते-जाते रुक जाने वाले। इन सारे अर्थों की व्यञ्जनाएँ बड़े ही निपुण ढंग से पूर्णसरस्वती ने स्पष्ट की हैं:—"साक्षाद्भक्तजनध्यानपूजनार्थमवलम्बितेन पञ्चकृत्योपयुक्तपञ्चब्रह्मात्मकेन वपुषा न तु प्रतिमारूपेणेत्यर्थः।" 'साधकस्य तु लक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्। तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः'॥ इति। 'ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिकम्' इति चागमात्। वसन्तन्न तु चरन्तम्; गृहाभिमानेन सदा निषीदन्तमित्यर्थः। अनेन तादृशे देशे किञ्चिदप्यपराध्यतः प्रचण्डदण्डापत्तिर्द्योत्यते।"

(४) **षट्पदज्यम्**—'षट् पदानि येषान्ते षट्पदाः। ते एव ज्या यस्य तत्।' कामदेव का धनुष् पौष्प है और उसकी प्रत्यञ्चा भ्रमरनिर्मिता है। रति अपने विलाप में इसकी ओर बड़ा ही कारुणिक इंगित करती है:—"अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषे नियोजिता। विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम्॥" (कुमारसम्भव-४-१५) इसके पाँच फूलों के ही बाण भी हैं—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" किसी के पास ऐसा धनुष् हो जिसमें कोई शब्द न हो तो वह उसे छिपाए भी रख सकता है। परन्तु यहाँ तो सबसे बड़ी आपत्ति है झाङ्कारमय गुञ्जार करते हुए भ्रमरों का धनुष्। इसीसे भय भी अमित है। इस वस्तुध्वनि को पूर्णसरस्वती के शब्दों में देखें—"षट्पदज्यम् मधुकरमालामौर्वीकम्। अनेन झङ्कारमुखरभृङ्गावलिकोलाहलशङ्काकुलितत्वादिति व्यज्यते।" इसके स्थान पर दक्षिणावर्तनाथ ने "त्वामपि प्रेक्ष्य कामः" पाठ सही माना है। उनका कहना है—"त्वामपि प्रेक्ष्येत्यनेन मेघसम्बन्ध उक्तः। मन्मथः षट्पदज्यमिति पाठे पूर्वश्लोकेष्विव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेघसम्बन्धो न स्यात्।" इसके विरुद्ध इतना ही कहना है कि पूर्वश्लोक की तरह का यह भी एक श्लोक है। अतः 'त्वाम्' की कोई अपेक्षा नहीं है।

(५) **तस्यारम्भः**—'तस्य' का यहां दोनों अर्थ लिया जा सकता है—मन्मथ का और धनुष् का। विद्युल्लताकार का कहना समीचीन है—"तस्य मन्मथस्य चापस्य वा।" 'आरम्भ' शब्द का अर्थ पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथ और चरित्रवर्धन ने 'प्रवृत्ति' दिया है। वल्लभदेव ने 'व्यापार' और मल्लिनाथ ने 'कामिजनविजय-व्यापार' दिया है। भरतमल्लिक ने 'उद्यम' दिया है और वह कोशसम्मत भी है। विश्वप्रकाश में लिखा है—"आरम्भस्तु त्वरायां स्यादुद्यमे वधदर्पयोः।" और अनेकार्थसङ्ग्रह में—"आरम्भो वधदर्पयोः त्वरायाम् उद्यमे वाऽपि।" यहाँ आरम्भ का उद्यम अर्थ ही समीचीन है। अन्य अर्थ लाक्षणिक हो सकते थे यदि वाच्यार्थ अन्वयानुपन्न होता।

(६) **विभ्रमैः**—यहाँ कामियों पर लक्ष्यत्व का, भ्रूभङ्ग पर धनुर्लतात्व का, नयन और विभ्रम पर अस्त्रशस्त्रत्व का रूपण किया गया है वाच्य एवं गम्य रूप से। 'प्रायः' टीकोक्त ढंग से उत्प्रेक्षावाचक है। स्त्रियों के यौवनविकार को विभ्रम कहते हैं-(ना. ल. र.)। तुलनार्थ विभ्रम का स्वरूप देखें:—

"साङ्गभङ्गविकारेण सकटाक्षविलोकनैः। केशसंयमनव्याजाद् बाहुमूलप्रदर्शनैः॥
मेखलोरुप्रकटनैः स्तननाभिप्रदर्शनैः। अभिलाषप्रकटनैर्विभ्रमः परिकीर्तितः॥ (शिणेः)"

अलङ्कार—पञ्चम प्रतीप और एकदेशविवर्ति रूपक का सङ्कर; सङ्कर और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि।

तत्रागारं[१] धनपतिगृहानुत्तरेणा[२]स्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं [३]तदमरधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते[४] कृतकतनयः कान्तया[५] वर्धितो मे
हस्तप्राच्यस्तबकनमितो[६] बालमन्दारवृक्षः॥९॥

पञ्चिका

तत्रैवंविधायामलकायां धनपतिगृहानुत्तरेण राजराजवेश्मान्युत्तरेण तदस्माकम-

१. "अत्रागारम्" इति पा०। २. "गृहादुत्तरेण" इति पा०। ३. "त्वदमरधनुः" इति, "सुरपतिधनुः" इति च पाठान्तरे। ४. "यस्योद्याने" इति पा०। ५. "वर्धितः कान्तया" इति पा०। ६. "—स्तवकविनतो" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गारं गृहम्। अभिज्ञानान्याह—शक्रचापरम्येण तोरणेन दूरादपि दृश्यम्। यस्य चोपान्ते निकटे बालो मन्दारवृक्षोऽस्ति। कीदृशः ? मदीयया प्रियया सेकाद्दिना पोषितः। यतः कृतकतनयः पुत्रीकृतः। बालत्वाच्च करग्राह्यैः गुच्छैः नम्रीभूतः। उत्तरेणेत्येनबन्तः। तद्योगे च गृहानित्येनपा द्वितीया। पञ्चम्यन्तः पाठस्त्वनार्यः ॥७२॥

सुबोधा

इदानीं षड्भिः श्लोकैर्गृहचिह्नं प्रतिपादयन् प्रोत्साहयितुमाह—तत्रा। तत्रालकायां धनपतेः कुबेरस्य गृहान् उत्तरेण मनागुत्तरे अस्मदीयम् आगारं गृहं सुरपतिधनुश्चारुणा नानारत्नमयत्वाद् इन्द्रायुधवद् सुन्दरेण तोरणेन बहिर्द्वारेण दूराल्लक्ष्यं विदूरत एव ज्ञातव्यम्। अपरमपि चिह्नमाह—यस्य आगारस्य उद्याने मे मम कृतकतनयः कृत्रिमपुत्रो बालमन्दारवृक्षो नूतनदेवतरुविशेषोऽस्ति। कीदृशः ? मम कान्तया प्रियया वर्धितः पयोदानादिना वृद्धि प्रापितः प्रतिपालितः इत्यर्थः। प्रेमाविष्कृतिरियम्। अत एवोद्यानप्रशंसायां प्रथममेव तत्स्मरणम्। एवं तद्वर्धितत्वाद् हस्तप्राप्येन स्तबकेन गुच्छेन नमितो नम्रतां प्रापितः; चिह्नध्वनिना रम्यत्वेन प्रोत्साहनमिदम्। धनपतिगृहानिति एनप्प्रत्ययान्तोत्तरशब्देन योगे द्वितीया। "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव" इत्यमरः। गृहादुत्तरेणेति पाठे विशेषेऽपि क्वचित् सामान्यप्रवृत्तेर्दिक्शब्देन योगे पञ्चमी। गृह-शब्द एकवचनान्तोऽपि नपुंसकमस्ति, "गृहगेहोदवसितम्" इत्यमरः। कान्तप्राणोपमेयम्।

अन्वय

तत्र (अलकायां) धनपतिगृहान् उत्तरेण सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन दूराद् लक्ष्यम् अस्मदीयम् अगारम्; यस्य उपान्ते मे कान्तया वर्धितः कृतकतनयः हस्तप्राप्यस्तवकनमितः बालमन्दारवृक्षः।

हिन्दीरूपान्तर

उस (अलका) में कुबेर के भवन से उत्तर की ओर इन्द्र-धनुष् की तरह रंग-बिरंगे तोरण के कारण दूर से ही पहचान में आनेवाला हमारा घर है जिसके अहाते के अन्दर ही मेरी प्रियतमा द्वारा पाला-पोसा गया दत्तकपुत्ररूपी हाथ से चुन लेने योग्य पुष्पगुच्छों से झुक आया हुआ एक मन्दार का पौदा है।

टिप्पणियाँ

(१) **धनपतिगृहान्**—'धनपतेर्गृहाः धनपतिगृहाः, तान्।' आगे अन्वित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होनेवाले पद 'उत्तरेण' में 'एनप्' प्रत्यय होने के नाते 'धनपतिगृहाः' में द्वितीया हुई। पाणिनि का सूत्र है "एनपा द्वितीया (५-३-३५)" और 'उत्तरेण' पद में 'एनप' प्रत्यय हुआ है अष्टाध्यायी के सूत्र "एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः" (२-३-३१) के अनुसार। 'गृहाः' में बहुवचन 'अमरकोश' के "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव" के अनुसार है। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ ने एक और समर्थन दिया है कि 'उत्तरेण' तृतीयान्त है 'तोरणेन' का विशेषण होने के नाते। परन्तु इस अवस्था में 'धनपतिगृहान्' की जगह पाठ को 'धनपतिगृहात्' करना पड़ेगा। क्योंकि तब द्वितीया-विधायक कोई तत्त्व न रह जायगा। यहाँ 'एनप्' प्रत्यय 'अदूर' के अर्थ में होता है अर्थात् 'ईषद्दूरे' 'बहुत थोड़ी दूर पर उत्तर की ओर'। यानी राजराज कुबेर के वैभवसम्भृत महाप्रासाद के पास ही उत्तर की ओर वक्ता यक्ष का अपना मकान है। इसके द्वारा कवि ने यक्ष का कुबेर का प्रसादभाजन होना एवं अधिकारगौरव ध्वनित किया है—"अनेन राजवाल्लभ्यमधिकारगौरवञ्च द्योत्यते।"—(पूर्णसरस्वती)।

(२) **अस्मदीयम्**—हम लोगों का। 'अस्मद्+छ (वृद्धाच्छः ४-२-१४४) अस्मदीय।' यहाँ कवि आसानी से 'मदीय' लिख सकता था परन्तु उसने 'अस्मदीय' एक विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए लिखा है। 'मदीय' का अर्थ होता 'मेरा'; यहाँ 'अस्मदीय' कहने से 'बाप-दादा का यानी पुश्तैनी' मकान द्योतित होता है। इस व्यंजना की ओर भी पूर्ण सरस्वती के शब्दों में ध्यान दें—"अस्मदीयं न तु मदीयम्, पितृपितामहपरम्परापतितम्—इत्यर्थः।"

(३) **अगारम्**—पहाड़ों के मकान के लिए सबसे उपयुक्त शब्द 'अगार' ही है। ज़रा इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें—"अगान् पर्वतान् ऋच्छतीति। ऋगताविति धातोः "कर्मण्यण्" (३-२-१) (—रामाश्रमी)।" द्विरूपकोश के अनुसार 'अगार' और 'आगार' दोनों ही शुद्ध हैं—"विद्यादगारमागारमपगामापगामपि।"

(४) **दूराल्लक्ष्यम्**—बहुत ऊँचा होने के कारण दूर से ही दिखाई देता था। 'दूरात्' में पञ्चमी "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस वार्तिक से हुई है—'दूरे समास्थाय लक्ष्यमिति।' यदि 'उत्तरेण' को 'तोरणेन' का विशेषण बना दिया जाय तो 'दूरात्' के कारण 'धनपतिगृहात्' में पंचमी मानी जा सकती है। "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च (२-३-३५)" इस सूत्र से 'दूरात्' में पंचमी और "दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (२-३-३४)" इस सूत्र से 'धनपतिगृहात्' में पंचमी होगी। 'लक्ष्यम्' का अन्वय तब 'सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन' से करेंगे। इस प्रकार अन्वय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने पर अर्थ होगा—"उस (अलका) में हमारा मकान कुवेर जी के प्रासाद से दूर इन्द्रधनुष् की तरह सुन्दर अत्युत्कृष्ट तोरण से पहचान में आनेवाला है। 'लक्ष्य' शब्द "√लक्ष आलोचने (चुरादि)" या "√लक्ष दर्शनाङ्कनयोः" (चुरादि) से यत्प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।

(५) **उत्तरेण**—एनप्-प्रत्ययान्त दिशावाची 'उत्तर' शब्द। अथवा टा-विभक्त्यन्त प्रवरवाची 'उत्तर' शब्द। ये दोनों नपुंसकलिंग हैं। "उत्तरं प्रवरोर्ध्वयोः। उदीच्यप्रतिवचसोरुत्तरस्तु विराटजे। उत्तरा दिगुदीच्यां स्यात् स्नुषायामर्जुनस्य च।"—अनेकार्थसंग्रह।

(६) **सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन**—'सुराणाम्पतिः सुरपतिः। तस्य धनुः सुरपतिधनुः। तदिव चारु सुरपतिधनुश्चारु, तेन। "उपमानानि सामान्यवचनैः (२–१–५५)"। इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इव शब्दः प्रयुज्यते।' इन्द्र के धनुष् की तरह रमणीय तोरण से। इन्द्रधनुष् में सात रंग होते हैं—नीललोहित, नील, गाढ़नील, हरित, पीत, कपिश और रक्त। उसके प्रासाद के तोरण में भी गोमेद, नीलम, मरकत, माणिक्य, पोखराज आदि मणि लगे हैं जिसके कारण वह भी सतरंगा हो रहा है। अथवा यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि तोरण इन्द्रधनुष् के कारण अर्थात् उसका प्रतिविम्ब पड़ने की वजह से सुन्दर लग रहा है (सुरपतिधनुषा चारु सुरपतिधनुश्चारु)। अथवा सुरपति का धनुष् उसके तोरण में उत्कीर्ण है जिसकी वजह से वह चारु हो उठा है। इनके भाव 'विद्युल्लता' में अच्छी तरह स्पष्ट किए गए हैं:—"इन्द्रचापवत् सुन्दरेण प्रत्युप्तविविधरत्नद्युतिशबलोज्ज्वलत्वात्। अथवा त्वदीयेनेन्द्रचापेन लिखितेन रत्नप्रभाजनितेन वा योगाच्चारुणा। 'इन्द्रायधद्योतिततोरणाङ्कमितिवत्।" यहाँ 'तोरण' का अर्थ है बाहरी दरवाज़ा, अहाते का फाटक। यह शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों है। अमरसिंह का कथन है—"तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्।" शारदारञ्जन राय के अनुसार यहाँ "इत्थम्भूतलक्षणे" से तृतीया हुई है। परन्तु यह पक्ष उचित नहीं जँचता। जहाँ पर लक्षणभूत तत्त्व प्रकारप्राप्त से पृथक् दिखाई देता है वहीं वह तृतीया का विधान करता है। इसीसे 'जटाभिस्तापसः' में 'जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट' होने के नाते तृतीया का प्रयोग होता है। यहाँ 'तोरणज्ञाप्यलक्ष्यत्वविशिष्ट' अगार होने से रहा, क्योंकि तोरण यहाँ ज्ञापक नहीं। यहाँ पर लक्षणभूत लक्ष्यत्व का तत्त्व प्रकारप्राप्त अर्थात् तोरणवत्त्व से पृथक् है ही नहीं। 'जटाभिर्ज्ञाप्यं यत् तापसत्वं तद्विशिष्टः' की तरह यहाँ 'तोरणेन ज्ञाप्यं यल्लक्ष्यत्वं तद्विशिष्टम्' के लिए गुंजाइश नहीं है। यहाँ तो हेतुत्व का विषय तोरणहेतुक अगार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की लक्ष्यता है। ठीक उसी तरह जिस तरह कि पुण्यहेतुक हरि की दृष्टता है। यहाँ यह निर्व्यापारसाधारण द्रव्यादिसाधारण होने से "हेतौ (२-३—२३)" का विषय है।

(७) कृतकतनयः—यहाँ 'कृतक' का पूर्वनिपात "वाऽहिताग्न्यादिषु (२-२-३७)" से वैभाषिक है अतः 'तनयकृतकः' भी बन सकता है। 'शाकुन्तल' में "सोऽयन्न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते" है। वृक्षों की पुत्रनिर्विशेषता भास के प्रतिमानाटक में "आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च" में और 'कुमारसम्भव' (५-१४) और 'रघुवंश' (२—३६ तथा ५—६) में उपलब्ध होता है। इसमें स्पष्ट ही दत्तकपुत्रत्व का आरोप प्राप्त होने से रूपक अलंकार है।

वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैः स्यूता[1] कमलमुकुलैः[2] स्निग्धवैदूर्यनालैः[3]।
यस्यास्तोये[4] कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
न ध्यास्यन्ति[5] व्यपगतशुचस्त्वामपि[6] प्रेक्ष्य[7] हंसाः ॥१०॥

पञ्चिका

अस्मिन्नस्मद्गृहे वापी पद्मिनी विद्यते। कीदृशी? मरकतमणिशिलाभिः बद्धो रचितः सोपानमार्गो यस्याः। तथा स्निग्धैः वैडूर्यमणिभिरेव नालो दण्डो येषां तैर्हैमैः सौवर्णैः पद्ममुकुलैः स्यूता प्रोता सम्बद्धा। वाप्यां हि पद्मैर्भाव्यम्। यस्याश्च तोये कृतवसतयो हंसाः त्वामपि प्रेक्ष्य वर्षासमयेऽपि निकटमपि मानसं सरो न ध्यास्यन्ति न स्मरिष्यन्ति। यतो व्यपगतशुचः। तत्रैव उपद्रवाभावाद् निर्दुःखाः। हेमशब्दो रजतादिः ॥७३॥

सुबोधा

अपरमपि चिह्नं रम्यताञ्चाह—वापी। अस्मिन् आगारस्योद्याने वापी

---

१. "हेमैः स्फीता" इति। "हेमैश्छन्ना" इति च पाठान्तरे। २. "विकचकमलैः" इति, "कनककमलैः" इति, "कमलकुसुमैः" इति च पाठान्तराणि। ३. "दीर्घवैडूर्य" इति, "वैदूर्य" इति च पाठान्तरे। ४. "यस्यास्तीरे" इति पा०। ५. "नाध्यास्यन्ति" इति, "न ध्यायन्ति" इति च पाठान्तरे। ६. "त्वामलम्" इति पा०। ७. "प्राप्य हंसाः" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दीर्घिका च अस्ति। च-शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये। न केवलं बालमन्दारवृक्षोऽस्ति वापी अपीत्यर्थः। कीदृशी? मरकतशिलाभिः इन्द्रनीलमणिभिः बद्धो विरचितः सोपानमार्ग आरोहणपथः यस्याः सा तथा। तथा हैमैः सौवर्णैः स्निग्धवैदूर्यनालैः स्निग्धं चिक्कणं वैदूर्यवत् प्रवालमणिवद् नालं येषां तादृशैः कमलमुकुलैः पद्मकुड्मलैश्छन्ना व्याप्ता। यस्या वाप्यास्तोये जले कृता वसतिः निवासो यैस्ते हंसाः त्वामपि प्रेक्ष्य दृष्ट्वा सन्निकृष्टं समीपमपि मानस सरो न ध्यास्यन्ति न चिन्तयिष्यन्ति यतः व्यपगतशुचः विशेषेण अपगता पलायिता शुक् शोकः क्लेशो येषां तादृशाः घनारवोद्विग्ना हि हंसा मानसं गच्छन्तीति मानसस्मरणे यद्यपि त्वद्दर्शनमेव हेतुस्तथापि न स्मरिष्यन्ति। वाप्यामपि हेमपद्मादियोगोऽस्ति किं मानसगमनेन फलमिति हंसानामाशयः। मानसादप्यधिका वापीति टीकाकृतः। कमलकुसुमैरिति क्वचित् पाठः, विकचकमलैरिति च क्वचित्।

अन्वय

अस्मिन् (अगारे) मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा स्निग्धवैदूर्यनालैः हैमैः कमलमुकुलैः स्यूता वापी यस्याश्च तोये कृतवसतयः हंसाः त्वाम् प्रेक्ष्य अपि व्यपगतशुचः (सन्तः) सन्निकृष्टं मानसं न ध्यास्यन्ति।

हिन्दीरूपान्तर

इस (घर) में पन्ने की पटियों (slabs) से बने हुए ज़ीने के रास्तेवाली वापी चिकने बिल्लौर के नालोंवाले एवं सोने के कमलकुड्मलों से ओत-प्रोत है जिसके जल में निवास करने वाले हंस तुम्हें देखकर भी विगलितशोकवाले होने से पड़ोस के मानसरोवर का ध्यान भी न करेंगे।

टिप्पणियाँ

(१) **वापी**—यहाँ यह शब्द 'दीर्घिका' के अर्थ में आया है। 'अमरकोश' में "वापी तु दीर्घिका" लिखा है। वापी की व्युत्पत्ति है—"उप्यते पद्माद्यस्याम्। '√डुवप् बीजतन्तुसन्ताने (भ्वादि०), धातोः 'वसिवपियजिराजिव्रजिसादिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ्" (उणादि ४–१२५) इत्यनेनेञ्। "कृदिकारादक्तिनः" —इत्यतः ङीष्।" इस प्रकार "वापी" और "वापि" दोनों शब्द पर्यायरूप से निष्पन्न होते हैं। 'द्विरूपकोश' का कथन है कि "वाप्यां वापिरपि स्मृता।" मतलब उस 'सगरा' से है जिसमें चारों तरफ़ जल में उतरने के लिये सीढ़ियाँ या ज़ीने बने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होते हैं बीच में कमल आदि जल में रोपित-पोषित होते हैं। यह बावड़ी नहीं है। वैसे महामहोपाध्याय डा० आचार्य के अनुसार 'अमरकोश' की माहेश्वरी टीका में 'वापी' का अर्थ 'बावड़ी' अर्थात् 'ज़ीनेदार कुँआ' दिया हुआ है। लल्लछिन्द की देवल-प्रशस्ति में यह शब्द 'सगरा' या 'दीर्घिका' के लिए आया है (Epigraphia Indica Vol. I pp. 79,83)। डा० आचार्य की "एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर" के अनुसार 'वापी' शब्द के अर्थ 'बावड़ी', 'सेचन-कूप', और 'सर्वसामान्य तडाग' भी होते हैं। कवि की इस रचना की कल्पना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि उसे 'वापी' शब्द से बँधा हुआ वह सगरा अभीष्ट है जिसमें ज़ीने वगैरह बने होते हैं और कमलादि उप्त होते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—"हमारा अनुमान है कि रहट और बावड़ी दो प्रकार के विशेष कुएँ शकों के द्वारा यहाँ लाये गये। ['बावड़ी' (गुजराती 'वाव') के लिए प्राचीन शब्द 'शकन्धु' (शक देश का कुँआ) और 'रहट' के लिए 'कर्कन्धु' (कर्क देश का कुँआ, कर्क ईरान के दक्षिणपश्चिम में था) ये नाम व्याकरणसाहित्य में सुरक्षित मिलते हैं]"।

(२) **मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा**—'मरकतस्य शिलाः, मरकतशिलाः। ताभिर्बद्धाः मरकतशिलाबद्धाः। सोपानानाम् मार्गाः सोपानमार्गाः। मरकत-शिलाबद्धाः सोपानमार्गा यस्यां सा।' आजकल भी पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों को चौकोर गढ़ कर एक ख़ास मुटाई की शिलाएँ बना ली जाती हैं और फिर उनको जमाते चले जाते हैं इस प्रकार पत्थर की पटियों से छत, कार्निश आदि बनाते हैं। घाटों पर भी पत्थर की या सीमेंट को जमा करके बनायी गयी पटियों के द्वारा उतरने चढ़ने की सीढ़ियाँ बनायी जाती हैं। इसी विधा से कालिदास के यक्ष के सगरे में भी चारों ओर ज़ीनों के रास्ते मरकत अर्थात् पन्ने की चौकोर पटियों से बनाये गये थे। गाढ़े हरे रंग की इन शिलाओं से घटित सोपान-पंक्तियों की नयनसुभगता एवं गहरे जल के हरे रंग से तादात्म्य होने के नाते एक ज़बरदस्त एकरूपता (symetry) की कल्पना कालिदास ने की है।

(३) **हैमैः. . .कमलमुकुलैः**—यह पाठ वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती, भरत-मल्लिक आदि को अभीष्ट है। —"विकचकमलैः" पाठ मल्लिनाथ, चरित्रवर्धन, आदि को इष्ट है। परन्तु 'कमलमुकुल' का एक साहित्यिक वैशिष्ट्य है जिसे 'विकचकमल' प्रस्तुत करने में असमर्थ है। "बलिव्याकुला" पद के द्वारा कालिदास ने जिस प्रोषितपतिका प्रियतमा की पतिस्वास्थ्यविषयक निरन्तर अर्चना, मान-मनौतियों आदि की कल्पना की है उसके कारण राशि-राशि विकसित कुसुमों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यय होते रहने के कारण केवल कलियाँ ही वापी की शोभा बढ़ाने के लिए बच पाती थीं इस वस्तु-ध्वनि को देने में "विकचकमलैः" पाठ असमर्थ और "कमलमुकुलैः" पाठ परमसमर्थ है। विद्युल्लताकार के शब्दों में—"मुकुलोपादानमनुदिन-विकासिनां कमलानां विच्छेदध्वननार्थम्। मत्प्रियया मत्समागमफलसिद्धये देवतार्चनाय नित्यमेव विकसितमात्रेषु कमलेष्वाक्षिप्तेषु मुकुलमात्रावशिष्टत्वं मुकुलशब्देन द्योत्यते 'वलिव्याकुला वे'—त्युपर्युक्तेः। अवशिष्टमुकुलबाहुल्यादेव समृद्धिर्द्योत्यते।" "हैमैः" में 'हेम' शब्द से अण्-प्रत्यय किया गया है तद्विकार द्योतित करने के लिये। इस पद के प्रयोग के द्वारा भी 'उदात्तालंकार' स्फुट हो उठता है।

(४) **स्निग्धवैदूर्यनालैः**—'स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि येषान्तैः।' पूर्णसरस्वती आदि 'दीर्घवैदूर्यनालैः' पाठ मानते हैं। प्राचीनतम होने एवं स्वाभाविक अर्थ देने के कारण 'स्निग्ध' पाठ उत्कृष्टतर है। कृतकनालों में दीर्घता-अदीर्घता से क्या लाभ-हानि? 'स्निग्धता' वैदूर्यमणि की प्राकृतिक विशेषता है। इस विशेषण से भी 'उदात्त' प्रकाशित होता है। 'वैदूर्य' शब्द 'विदूर' से 'ञ्य'-प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'वैदूर्य' से 'अण्' करके 'वैदूर्यविकार' का अर्थ यहाँ लिया गया है। विदूर-पर्वत को 'वैदूर्यमणि' का उत्पत्तिस्थान माना गया है। मार्कण्डेयपुराण के रूपान्तर के प्रसंग से एफ़० ई० पार्जिटर ने विदूर-पर्वत को 'सतपुड़ा' ठहराया है। "विदूराञ्ञ्यः (४-३—८४)" पर पतञ्जलि ने लिखा है कि वैदूर्यमणि की खान वालवाय पर्वत में थीं जहाँ से लाकर वैकटिक, जो विदूर के रहनेवाले थे, कांटते-बींधते थे। इसीसे उसे वैदूर्य कहते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत है —"सम्भव है कि दक्षिण का बीदर विदूर हो।" परन्तु पतंजलि के मत से काशिकाकार सह-मत नहीं हैं—"विदूरशब्दाद् ञ्यः प्रत्ययो भवति ततः प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः। ननु च वालवायादसौ प्रभवति न विदूरात् तत्र तु संस्क्रियते, एवं तर्हि—'वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा। न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत्।"

(५) **मानसम्**—ब्रह्मा के 'मनस्' से निर्मित दिव्य सरोवर को 'मानस' कहते हैं। "कैलासशिखरे राम मनसा निर्मितं सरः। ब्रह्मणा प्रागिदं तस्मात्तदभून्मानसं सरः॥"—रामायणे।

अलङ्कार—वर्षारम्भ के कारण मानस जाने का हेतु होने पर भी फलाभाववश विशेषोक्ति तथा "हैमैः" "मरकतशिलाबद्ध—" तथा "—वैदूर्यनालैः" इन पदों के कारण उपन्यस्त उदात्त की संसृष्टि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

[1]यस्यास्तीरे [2]निचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीय[3]ः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं[4] त्वां तमेव स्मरामि ॥११॥

पञ्चिका

यस्या वाप्यास्तीर एवंविधः क्रीडाशैलोऽस्ति। कीदृशः? पेशलैर्मनोज्ञैः इन्द्रनीलमणिभिः निचितशिखरो बद्धशृङ्गः। कनकमयीनाञ्च कदलीलतानां वेष्टनेन परिवलनेन प्रेक्षणीयो रम्यः अतश्च मत्प्रियायाः कान्त इति निकटोल्लसितशतह्लदं भवन्तमालोक्य सादृश्यात् तमेवाद्रिं कातरेण अधीरेण मनसा स्मरामि। सादृश्यात् प्रियत्वाच्च स्मरणम्। कातरत्वं तु विरहवशात्। शेषत्वाविवक्षया तमित्यधीगर्थेति षष्ठ्यभावः ॥७४॥

सुबोधा

एतन्मेघसदृशं क्रीडापर्वतं चिह्नमुपदिशन् रम्यतामाह—तस्या। तस्या वाप्यास्तीरे तटे क्रीडाशैलो विहारगिरिरस्ति। कीदृशः? पेशलैर्मनोहरैः इन्द्रनीलैः मणिविशेषैः रचितशिखरः निर्मितशृङ्गः, तथा कनककदली सुवर्णरम्भा तस्या यद् वेष्टनम् आवरणं तेन प्रेक्षणीयो दृश्यः सुन्दरः, मद्गेहिन्या मम प्रियायाः प्रियः क्रीडापर्वतत्वात् प्रीतिविषय इति कृत्वा तत्तुल्यत्वाद् हे सखे मित्र कातरेण व्याकुलेन चेतसा चित्तेन त्वां तमेव स्मरामि चिन्तयामि, स एवायं क्रीडाशैलः साक्षाद्भूत इति मन्ये इत्यर्थः। साम्यमाह—कीदृशं त्वाम्? प्रेक्ष्या दर्शनीया उपान्ते समीपे स्फुरिता दीपिता तडिद् विद्युद् यस्य तादृशम्; किंवा उपान्तस्फुरिततडितं त्वां प्रेक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा तमेव देशान्तरगतं स्मरामि, सदृशवस्तुदर्शनेन पूर्वानुभूतस्य हि स्मृतिर्जायते। कनककदलीवेष्टनस्य विद्युदुपमानम्, गिरेर्मेघः। "चारौ दक्षे च पेशलः" इत्यमरः। पेलवैरिति पाठेऽपि स एवार्थः। इन्द्रनीललक्षणं रत्नपरीक्षायामुक्तं यथा—

---

१. "तस्यास्तीरे" इति पा०। २. "रचितशिखरः" इति "विहितशिखरः" इति च पाठान्तरे। ३. "वेष्टनः प्रेक्षणीयः" इति, "वेष्टितप्रेक्षणीयः" इति च पाठान्तरे। ४. "—स्फुटित—" इति, "स्फुटिततटितम्" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णस्यातिमहत्त्वेन क्षीरे शतगुणे स्थितः।
नीलतां तन्नयेत् क्षीरमिन्द्रनीलः स उच्यते॥" इति।

कान्तोदारप्राणान्वितोपमेयम्।

अन्वय

तस्याः (वाप्याः) तीरे पेशलैः इन्द्रनीलैः निचितशिखरः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः क्रीडाशैलः (अस्ति)। (हें) सखे! उपान्तस्फुरिततडितं त्वां प्रेक्ष्य मद्गेहिन्याः प्रिय इति कातरेण चेतसा तम् एव स्मरामि।

हिन्दीरूपान्तर

उस (दीर्घिका) के तट पर सुन्दर नीलम से निर्मित-शिखरोंवाला क्रीडागिरि है जो स्वर्णकदली के घेरे के कारण दर्शनीय है। ऐ मित्र! अपनी घरवाली का प्यारा होने के नाते किनारों पर जगमगाती हुई बिजुलीवाले तुम्हें देखकर उसी (क्रीडागिरि) की याद अधीर चित्त से करने लगा हूँ।

टिप्पणियाँ

(१) **तस्यास्तीरे**—उस सगरे के किनारे। यहाँ 'तीर' शब्द से 'क्रीडाशैल' की अनेकानेक विशेषतायें ध्वनित होती हैं। उस दीर्घिका की चंचल लहरों के संगीत को जगानेवाली सुनहले कमलों की सुरभि को पाने के कारण दृप्त हो उठी हुई और विविध यौवनविलासों के श्रम को दूर करनेवाली वायु का सेवन करने के लिये, मीठी चहचह से मदन को जगा देनेवाली, वसन्त के नशे से उन्मत्त हो उठी हुई विविध चिड़ियों के विहारावलोकन के विनोदार्थ तीर पर क्रीडाशैल की रचना की गयी है। इन व्यंजनाओं को 'विद्युल्लता' के शब्दों में देखें—"तीरे तरलतरङ्गसङ्घातसङ्गीतलीलागुरोः कनककमलपरिमलमिलनदुर्ललितस्य रतिखेदनोदिनस्तदीयवायोरुपसेवनाय मधुरकूजितोत्तेजितमदनानां मधुमदचपलानां हंससारसकादम्बकोकलोलम्बप्रभृतीनां विहगानां विहारविलोकनविनोदनाय च तत्तटनिकटे निवेशित इत्यर्थः।"

(२) **पेशलैः**—दोषहीन होने तथा रत्न के तात्त्विक गुणों की उपस्थिति के कारण मनोहर। यहाँ 'पेशल' का कोशसम्मत अर्थ है 'चारु'। इन्द्रनील का लक्षण भी भरतमल्लिक की टीका में दिया हुआ है। इस जगह बहुवचन भी व्यंजक है। शिखरों की बहुलता और उनका रचनावैविध्य ध्वनित करने के लिए बहुवचन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आया है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में—"वहुवचनेन च शिखरवाहुल्यं निर्माणवैविध्यञ्च प्रतीयते।"

(३) **निचितशिखरः**—'निचितानि शिखराणि यस्य सः।' 'शिखर' को एकवचन रखने से पूर्णसरस्वती के द्वारा उद्भावित साहित्यिक वैशिष्ट्य विनष्ट हो जायगा। 'विहितशिखरः' पाठ प्रायः टीकाओं में मिलता है। परन्तु 'निचित-शिखरः' में शुद्ध नीलम की कनियों को इकट्ठा कर-कर के जो रमणीयता संचित की गयी है वह अन्य पाठों में रह नहीं जाती। 'नीलम' कोई संगमूसा तो है नहीं कि उसकी बड़ी-बड़ी चट्टानें होती हों जिससे एक-एक शिला से एक एक शिखर बना दिया जाय।

(४) **कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः**—'कनकस्य कदली कनककदली। तासां वेष्टनं कनककदलीवेष्टनम्। तेन प्रेक्षणीयः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।' कदली तो अलका में १५००० फ़ीट से ऊपर की ऊँचाई पर पैदा हो नहीं सकती। अतः स्वर्ण से बनी कदली है। पूरे क्रीडाशैल के शिखरभाग के चारों ओर कदलीवेष्टन है। नीलम की चोटियाँ और सोने के केलों का घेरा—यही कवि का इष्ट चित्र है। ऐसी कल्पना महाकवि श्रीहर्ष ने भी 'नैषधीयचरित' में प्रस्तुत की है। क्रीडाशैल वहाँ भी है। वह वैदर्भी का है और यह है यक्षिणी का। वह मरकत-मणि से विरचित है और यह इन्द्रनीलों से निचित। उसके अंशुदर्भ ब्रह्माण्ड से टकराकर उत्तानगा देवसुरभियों के मुख में सीधे पड़ते हैं और निरन्तर गोग्रासदान का पुण्य प्रदान कराते हैं। ऐसी उन्मत्त कल्पना कालिदास की नहीं है; वह यक्ष को सदृशदर्शनवश पुरानी अनुभूतियों को स्मरण करता हुआ अंकित करके मानवमन की स्वाभाविक अवस्था का वर्णन करते हुए कोटि-कोटि विरही हृदयों को अभिव्यक्ति दे देता है। "वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैः" (नैषध २—११५)

(५) **मद्गेहिन्याः प्रिय इति**— 'मम गेहिनी मद्गेहिनी। तस्याः। गेह-मस्याः अस्तीति गेहशब्दाद् इनिः, ततश्च ङीप्।' 'गेह' शब्द पुंल्लिंग और नपुंसक दोनों है—"गेहमस्त्री शालासभे स्त्रियाम्" —(वाचस्पति)। कालिदास ने अज से भी इन्दुमती के विषय में जो सर्वप्रथम उद्गार कराया है वह है "गृहिणी" और उसके बाद "सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।" कहा भी जाता है—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।" यहाँ इस 'गेहिनी' की बड़ी व्यंजनायें हैं। 'गृहस्वामिनी' को 'गेहिनी' या 'गृहिणी' कहते हैं। और गृहस्थ गृहस्थ है 'गृह' के ही कारण; अतः जिस पर गृहस्वामिनी की कृपादृष्टि है उसकी देख-रेख, स्वच्छता-पवित्रता, चमक-दमक सदा बनी रहेगी। उसके सम्बन्ध में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृहस्वामी को वीतचिन्त रहने का पूर्ण अवसर है। इसी से प्रोषित यक्ष यह समझता है कि मेरे आठ मासों के विप्रयोग के बावजूद वह 'क्रीडाशैल' पूरी तरह से अनुपहृत-कामनीयक होगा। क्योंकि वह 'गृहस्वामिनी' का 'प्रिय' है। 'प्रिय' का यहाँ अर्थ है 'हृद्य'—"प्रियो वृद्धचौषधौ हृद्ये धवे" (अनेकार्थसंग्रह)। यह शब्द ही '√प्रीञ् तर्पणे' से "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३-१—१३५)" के द्वारा क-प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। अतः 'तृप्त करनेवाला' अर्थ होगा। इसके बाद आनेवाला 'इति' अव्यय यहाँ हेतु के अर्थ में आया है। 'इति' इन-इन अर्थों में आता है—"इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु। निदर्शने प्रकारे स्यादनुत्कर्षे च सम्मतम्।"—विश्व।

(६) **चेतसा कातरेण**—अत्यन्त स्नेहाविष्ट होने के कारण अशनिपात, तूफ़ान, आदि अनिष्टों की आशंका से कातर हृदय से मैं उसीकी याद कर रहा हूँ। मेघ ठहरे तुम, वज्र भी गिरा सकते हो और तूफ़ान से उसे तहस-नहस भी कर सकते हो। इस अधीर चित्त की आवाज़ को पूर्ण-सरस्वती के शब्दों में पढ़िए—"कातरेण अतिस्नेहाविष्टत्वात् तत्तदनिष्टमशनिपातचण्डवातादिकमुत्प्रेक्ष्य सभयेनेत्यर्थः।×× तमेव स्मरामि तादृशं क्रीडाशैलमेव भावयामि, न पुनरन्यत्र मनो धावति। ततश्च पुनर्गृहगमने तमक्षतं तथाविधमेव तया सहापि नाम पश्येयम्? इत्यौत्सुक्यं ध्वन्यते।" मल्लिनाथ की सहृदयता उन्हें 'कातर मन' में **सानन्द भय** की कल्पना करने को विवश कर रही है क्योंकि उन्होंने 'रसाकर' से रट रखा था कि—"वस्तूनामनुभूतानां तुल्यश्रवणदर्शनात्। श्रवणात् कीर्तनाद् वापि सानन्दा भीर्यथा भवेत्॥" शारदारञ्जन राय ने तो अपने वैयाकरण तार्किक को जगाकर कहा है कि यहाँ 'चेतस्' शब्द अधिक है क्योंकि सभी स्मरण 'चेतस्' से ही होता है। यहाँ 'स्मरणालंकार' की अद्भुत विच्छित्ति है।

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र[1] कान्तः
प्रत्यासन्नौ[2] [3]कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो[4] वदनमदिरां [5]दोहदच्छद्मनास्याः॥१२॥

---

१. "केसरस्तत्र" इति पा०। २. "प्रत्यासन्नः" इति पा०। ३. "कुरुवक—" इति, "कुरुवक—" इति च पाठान्तरे। ४. "वाञ्छत्यन्यो" इति पा०। ५. "दौहृद—" इति, "दोहल—" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

अत्र केलिपर्वते रक्ताशोककेसरतरू पल्लवितौ स्तः। कुरवकवृक्षैर्वृत्तिर्वणिका कण्ठी यस्य तस्य माधवीलतामण्डपस्य प्रत्यासन्नौ सविधौ। ययोश्चैकोऽशोकस्तव सख्या मद्गेहिन्या वामपादाभिलाषी। चरणप्रहारानुग्रहेण तस्य विकासात्। मया सह। अहमपि सापराधस्तदीयं पादप्रहारमभिलषामि इत्यर्थः। अपरो बकुलो दोहदच्छद्मना सेकाभिलाषव्याजेनास्या मत्प्रेयस्या वदनमदिरां काङ्क्षति। तरुणीमुखासवसेकेन तस्य विकासात्। मया सह। अहमपि तदीयां वदनमदिरां काङ्क्षामीत्यर्थः। अशोकादीनां प्रशस्तत्वादुपादानम्॥७५॥

सुबोधा

अग्रतो रक्ताशोकबकुलवृक्षमाधवीलतामण्डपं चिह्नमुपदिशन् रम्यतामाह— रक्ता। अत्र क्रीडाशैले रक्ताशोको लोहिताशोकतरुः केशरो बकुलवृक्षश्चास्ति। कीदृशोऽशोको बकुलश्च? चलकिसलयः स्फुरत्पल्लवः तथा कान्तः कमनीयः तथा कुरुबकेण रक्ताम्लानेन झिण्ट्या वा वृतिर्वेष्टनं यस्य तादृशस्य माधवीमण्डपस्य वासन्तीलतागृहस्य प्रत्यासन्नः समीपवर्ती पार्श्वस्थितः। किञ्च तयोर्मध्ये एकः प्रथमो रक्ताशोकस्तव मन्मित्रस्य सख्या मत्प्रियायाः मया सह वामपादाभिलाषी यथा पुष्पार्थं स वामचरणमभिलषति तथाऽहमपि ऊरुस्फोटादिबन्धार्थमभिलषामीत्यर्थः। उक्तञ्च वृक्षायुर्वेदे—

"अशोकः प्रमदापादघातप्रणयबोधितः।
उन्मीलति विलासीव स्फुटैः कुड्मलकण्टकैः॥" इति।

अन्यो बकुलः, दोहदच्छद्मना अकालफलपुष्पाभिव्यक्तिहेतुव्याजेन, अस्याः कीर्तन-स्मरण-प्रत्यक्षायास्तव सख्या वदनमदिरां मुखासवं काङ्क्षति अभिलषति। अत्रापि मया सहेति योज्यम्। अहमपि स्वभावरागितया अस्या वदनमदिरामभिलषामीत्यर्थः। रक्तेति नवपल्लवैरेवाशोकस्य रक्तत्वम्, नीलपुष्पोऽप्यशोकोऽस्ति, तद्व्यावृत्त्यर्थं रक्तत्वम्। चलेति चलत्वेन पल्लवानामभिनवत्वम्। तथा तत्र सर्वदा मृदुपवनो वहतीति च ध्वनितम्। "अथ केसरे बकुल" इति, "अम्लानन्तु महासहा। तत्र शोणे कुरुबक" इति, "सैरीयकन्तु झिण्टी स्यात्तस्मिन् कुरुबकोऽरुणे" इति; "वासन्ती माधवी लतेति" चामरः।

ननु बकुलस्य वक्त्रासव एव दोहदम्? यदुक्तम्—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"मुखचन्द्रजलक्रीडा सदा शीकरवर्षिणी।
योषा मुखासवोपेतं प्रतिगर्जति केशरम्॥" इति।
"अशोकः पद्मिनीपादघातैरेव च पुष्प्यति।
बकुलस्तु तदीयास्यमद्यस्पर्शेन पुष्प्यति॥" इति च॥

तत् कथं छद्मनेति ? उच्यते, व्याजमात्रं दोहदमिति यक्षस्योत्प्रेक्षा; छद्मना स्वरूपेणेत्यर्थः। वदनमदिरादोहदच्छद्मनास्यमिति पाठे वक्त्रासवव्याजेन तव सख्याश्चास्यं वदनं काङ्क्षति परम्परास्पर्शेन तन्मुखमाकाङ्क्षतीत्यर्थः। ननु एकः सख्या इत्यादेः किं फलम्, नहीदमपि चिह्नम् ? उच्यते, षण्णामृतूनाम् अवस्थानाद् अलकायाम् अन्ये सर्वे वृक्षाः फलपुष्पान्विताः, तौ तु अशोककेशरौ दोहदाभावाद् न पुष्पिताविति चिह्नमेवेदम्।

उक्तञ्च--

"शक्त्या ये दोहदादीनां प्रसूताश्चित्रकर्म्मणाम्।
प्रसूतिः स्यात् पुनस्तेषां न विना चित्रकर्मभिः॥" इति।

उद्वेगातिशयेनोक्तमिदम् इत्यन्ये। अत्रान्येषां व्याख्यान्तरमहृद्यत्वादुपेक्षितम्। सहोक्तिरलङ्कारः, तथा च दण्डी—

"सहोक्तिः सहभावेन कीर्तनं गुणसम्पदाम्।
सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः॥" इति।

अन्वय

अत्र (क्रीडाशैले) कुरबकवृतेः माधवीमण्डपस्य प्रत्यासन्नौ चलकिसलयः रक्ताशोकः कान्तः केसरः च (स्तः)। मया सह एकः दोहदच्छद्मना तव सख्याः वामपादाभिलाषी, अन्यः अस्याः वदनमदिरां काङ्क्षति।

हिन्दीरूपान्तर

उस (क्रीडाशैल) पर कुरबक की बाढ़ से घिरे हुए मोतिये के मण्डप के पार्श्वस्थ चंचल पल्लवोंवाला लालफूलों का अशोक और सुहावना मौलसिरी है। मेरे साथ-साथ पहला तो दोहद के बहाने तुम्हारी सहेली के बायें पैर को चाहता है और दूसरा उसकी जूठी मदिरा।

टिप्पणियां

(१) कुरबकवृतेः—झिंटी या कटसरय्या के लिये 'महासहा' और 'कुरबक' शब्द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आते हैं। 'महासहा' और 'कुरबक' में अन्तर यह है कि 'कुरबक' लाल कटसंरय्या को कहते हैं और अम्लान को 'महासहा'। 'अमर कोश' में लिखा है—"अम्लानस्तु महासहा। तत्र शोणे कुरबकः"। इसमें मकरंद बहुत थोड़ा होता है। पीली झिंटी को 'कुरुण्टक', नीली को 'वाणा' या 'दासी' और सामान्य को 'सैरीयक' या 'झिंटी' कहते हैं। इस 'कुरवक' को कालिदास ने लाल, सफ़ेद व नीले रंग की शबलता से युक्त फूल बताया है। और विक्रमोर्वशीय में सामने से कामिनी के नखों की तरह गुलाबी रंग का और दोनों पार्श्वों में नीले वर्ण का बताया है—"अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयोः।" यह वसन्तविकासी पुष्प है। यह रमणियों की स्निग्ध चितवन को पाकर फूल उठता है ऐसा कविसमय है। यह एक बाढ़ है जैसी कि मेहँदी या चाँदनी आदि हुआ करती हैं। इसी से इसे कवि ने माधवी के मण्डप को घेर लेता दिखाया है। समासविग्रह इस प्रकार करेंगे—'कुरवकाः एव वृतिर्यस्य तस्य कुरबकवृतेः।' पूरा पद 'माधवीमण्डपस्य' का विशेषण है। 'व्रियते अनयेति करणे क्तिन्' (√वृ + क्तिन्)।' स्तम्भों की जगह माधवी का निम्नांश और मण्डप के ऊपरी आच्छादन की जगह माधवी की लतरें तथा दीवारों की जगह कुरवक की बाढ़; यह है कालिदास की कल्पना का 'कुरबकवृति माधवीमण्डप।' पूर्णसरस्वती ने कहा है—"कुरबकरूपं भित्तिस्थानीयमावरणं यस्य।"

(२) **माधवीमण्डपस्य**—'माधवी' की व्युत्पत्ति है 'मधु' यानी वसन्त में खिलनेवाली 'मधु + अण् + ङीप्' (मधौ वसन्ते भवा माधव्यः—मल्लिनाथ)। यहाँ यह संज्ञाशब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'हलायुध' में पर्याय दिये गये हैं—"अतिमुक्तकमिच्छन्ती वासन्ती माधवीलता।" 'अमरकोश' में 'पुण्ड्रकः' भी एक पर्याय बताया गया है। 'अतिमुक्तक' मोतिया की लता को कहा जाता है। इसके फूल भानुजी दीक्षित के अनुसार सफ़ेद होते हैं और क्षीरस्वामी के अनुसार लाल। हो सकता है कि ये दोनों इसकी क़िस्में हों। यहां समासविग्रह इस प्रकार करना होगा—'माधवीभिः निर्मितः माधवीनिर्मितः मण्डपो माधवीमण्डपः।' 'समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च'—इस वार्तिक के अनुसार 'निर्मित' का लोप हो गया है। यहाँ 'माधवीमण्डप' से आशय है मोतिये के 'लतामण्डप' या 'लीलागृह' से जहाँ धूप और बारिश का असर न हो सके और यौवन की उद्दाम लीलाएँ तथा क्रीडासर की सुषमाओं की आकण्ठ पानक्रियाएँ चलती रहें। ज़रा व्युत्पत्ति पर ध्यान दें—'√मडि भूषायाम्' से 'करणे घञ्' और 'मण्डं पातीति कः।' अर्थात् जिस जगह प्रसाधनों और भूषाओं की सुरक्षा रह सके उसे 'मण्डप' कहेंगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) **प्रत्यासन्नौ**--'प्रति+आङ√षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु+क्त।' माधवी मंडप के बिल्कुल क़रीब दो वृक्ष लगे हैं--एक है लालफूलोंवाला अशोक और दूसरा है मौलसिरी। सम्भवतः कवि को एक बाईं ओर और दूसरा दाईं ओर इष्ट था--यह भी शायद 'वामपादाभिलाषी' के द्वारा सङ्केतित हो कि वामाङ्गस्थापिता यक्षिणी के वामपाद के पास अशोक पड़े मण्डप के बायीं ओर और जूठी मदिरा की कांक्षा करनेवाला बकुल पतिदेव की तरफ़ जिधर वह मुख किये हुए बैठी हो और आसानी से 'गण्डूषसेक' देने में समर्थ हो सके।

(४) **रक्ताशोकश्चलकिसलयः**--'रक्तानि कुसुमान्यस्येति रक्तकुसुमः। रक्त-कुसुमः अशोकः, रक्ताशोकः।' "समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च"--इस वार्तिक से--'कुसुम' का लोप हो जायगा। 'शाकपार्थिवादिगण' आकृतिगण है। अशोक दो प्रकार का होता है--एक श्वेत और दूसरा रक्त। सफ़ेद फूलोंवाले अशोक को श्वेताशोक और लालफूलोंवाले को रक्ताशोक कहा जाता है। श्वेताशोक एक सिद्धिदायी वृक्ष माना जाता है। रक्ताशोक अपने कमनीय कुसुमों के कारण कामोद्दीपक है। रतिभाव के उद्दीपन के रूप में कविगण ने इसका प्रायशः वर्णन किया है। 'अशोककल्प' की बात इस सम्बन्ध में मल्लिनाथ ने उद्धृत की है--"प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा। बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मरवर्द्धनः॥" वैसे कवि ने 'अविद्यमानशोक' की व्यञ्जना 'अशोक' से और 'अनुरक्त' की 'रक्त' से की है। 'रक्त' के अर्थ हैं "रक्तं नील्यादिरञ्जिते। कुङ्कुमेऽसृज्यनुरक्ते प्राचीनामलकेऽरुणे।"--अनेकार्थसंग्रह। 'वामपादाभिलाषी' साथी निश्चितरूप से अनुरक्त और शोकहीन होगा।' यही यहाँ कवि की संरब्ध वस्तुध्वनि है। उपमाध्वनि अनौचित्यसम्पोषिका होने से यहाँ नहीं मानी जा सकती। औचिती ही व्यंजनाओं की परा उपनिषद् है। 'चलकिसलयः' का समासविग्रह है--'चलानि किसलयानि यस्य स चलकिसलयः।' किसलय शब्द में रूपकातिशयोक्ति मानने पर 'वस्तुध्वनि' पक्ष में 'अनिभृतकर' की अर्थविच्छित्तियाँ स्वयं सहृदयहृदय में समुल्लसित होने लगती हैं। अशोकपक्ष में भी इसकी व्यञ्जना मल्लिनाथ ने 'प्राञ्जलिता' में मानी है--"अनेन वृक्षस्य पादताडनेषु प्राञ्जलित्वं व्यज्यते।" अशोकपक्ष में ऐसी सहृदयता "अकाण्डे पाण्डित्यम्" ही मानी जायगी। साथ ही 'आर्द्रापराधता' और 'मानिनीसमनुरञ्जन' से पतिप्राणा यक्षिणी की खण्डितचरित्रता ही तो माननी पड़ेगी! अतः यह व्यञ्जना एकदम अनौचित्यबाधित है। पूर्णसरस्वती ने इसकी समीचीन व्यञ्जनायें इस प्रकार स्पष्ट की हैं--"चलकिसलय इति मृदुपवनतरललिततरुणपल्लवत्वेन नयनहारिता-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिशयः प्रियतमाकर्णपूराद्युपभोगयोग्यत्वं च ध्वन्यते।" आशय यह कि हल्की हवा से हिलते, सुन्दर और पूरे निकल आये हुए पल्लवोंवाला होने के नाते अशोक की यहाँ पर नयनहारिता का अतिशय तथा यक्षिणी के कर्णपूरादि बनाये जाने की योग्यता व्यंग्य हैं।

(५) **वामपादाभिलाषी**--'वामश्चासौ पादश्च वामपादः। तमभिलषतीति-एवंशीलः वामपादाभिलाषी। ताच्छील्ये णिनिः।' [श्री संसारचन्द्र ने यहाँ 'इन्' प्रत्यय बताया है; वह 'इनि' की ओर इंगित कर रहे हैं या 'णिनि' की कुछ पता नहीं। ऐसी भ्रमपूर्ण व्याख्याओं से बालमन पर बड़ा ही ग़लत संस्कार पड़ जाता है।] 'अशोक' का 'वामपादाभिलाषित्व' उसके दोहद से स्पष्ट है। महिमसिंह गणि का कथन है—"पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः।" 'अलङ्कारशेखर' में इन दोनों कविसमयों को साथ-साथ प्रस्तुत करके 'असन्निबन्ध' सिद्ध किया गया है--"केसराशोकयोः सत्स्त्रीगण्डूषात् पादघाततः। मासान्तरेऽपि पुष्पाणि।" यह 'कविसमय' कितना पुराना है कहना कठिन है। काव्यों में तो पौर्वापर्य विवादग्रस्त होने से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है परन्तु 'मूर्तिकला' के नमूनों में इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि यक्षिणियों के 'वामपाद' का स्पर्श अशोक को लगभग २५० शकपूर्व में भी अत्यन्त अभीष्ट था। भारहुत की यक्षिणी ('कामशिल्प'-चि० सं० ९) एक अशोक से लिपटी खड़ी है। उसका वामपाद अशोकसङ्गत है। अशोक पुष्पगुच्छों से लद गया है। इस पादाघात का ढंग भी अजीब है; बाएँ हाथ से अशोक को वेष्टित करके और फिर बाएं पैर से भी पेड़ को लपेटते हुए पंजों को वृक्ष से सङ्गत किया गया है। यहाँ कालिदास का 'वाम' शब्द-प्रयोग बड़ा ही उपयोगी प्रतीत होता है। वैसे 'कविसमय' बतानेवाली किसी भी उक्ति में 'वाम' शब्द नहीं मिलता। 'सह मया' की विच्छित्ति भी कम मानसासेचन नहीं होता है। महाराज हर्ष ने लिखा है "कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममापि"। 'वाम' को इस प्रकार अर्थ लेने पर श्लिष्ट माना जा सकता है। 'वामाय पादाभिलाषी'—समासविग्रह को दृष्टिपथ में रखने पर 'वाम' का अर्थ 'काम' होगा—'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे। पयोधरे हरे कामे विद्याद्'–'विश्वप्रकाश'। 'वाम' का बायाँ अर्थ लेने पर भी उसके कामायतन होने के विशेषार्थ को ध्यान में रखा जा सकता है। "स्त्रीणां वामपादस्य कामनिकेतनत्वेन प्राधान्यम्"—"विद्युल्लता"। लगभग ५०० शकाब्द के बदामि की तृतीय गुफा में एक आम्र के नीचे यक्ष को यक्षिणी के वामपादाभिलाषी के रूप में उत्कीर्ण किया गया है ("कामशिल्प"—चि० सं० ३९)। इसी प्रकार लगभग सातवीं शकशताब्दी की मिथुनमूर्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को, जो हुच्चिपन मठ मैसूर में स्थित है, देखा जा सकता है ("कामशिल्प"—चि० संख्या ४०)। इसी वामपादाभिलाषिता के भाव को खजुराहो के विश्वनाथ-मन्दिर में भी देखा जा सकता है ("कामशिल्प"—चि० सं० ७३)। कालिदास की इस कल्पना का अमित प्रभाव इन वास्तुगत मूर्तियों पर पाया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में बड़ी ही ग़लत बातें शारदारञ्जनराय और उनके अनुयायी श्री संसारचन्द्र ने की हैं। जब पादसंवाहन ही करना है तो दाएँ-बाएँ का कैसा भेद? इसे वे ही बता सकेंगे।

(६) दोहदच्छद्मना—'दोहदमेव छद्म दोहदच्छद्म, तेन। दोहमाकर्षन्द-दाति। "आतोऽनुपसर्गे कः (३—२—३)" इति कः। अयमिच्छामात्रवाच्यपि विशेषेण गर्भिणीच्छायाम् प्रयुज्यते।'—"रामाश्रमी"। मल्लिनाथ ने यहाँ 'दोहद' का विशेषलक्षण "शब्दार्णव" से दिया है—"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया॥" और ये दोहद भी उन्होंने गिनाए हैं—"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्। मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदु—हसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः।" इसी रचना में मौलसिरी का सीधुगण्डूषदोहद भी दिखाया गया है।

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले नद्धा[1] मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जद्[2]वलयसुभगैर्नर्तितः कान्त[3]या मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥१३॥

पञ्चिका

तयोरशोककेशरयोर्मध्ये क्रीडाबर्हिणः सौवर्णी वासार्थं यष्टिर्दण्डोऽस्ति। कीदृशी? स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्याः सा। मूलभागे च मणिभिर्नद्धा सम्बद्धा। कैः? अनतिप्रौढा नातिपक्वा ये वंशा वेणवः तद्वत्प्रकाशैः द्योतमानैः तत्सवर्णैः, मरकतैरित्यर्थः। ते हि वंशवर्णाः। यां च यष्टिं दिनान्ते युष्माकं सुहृन्नीलकण्ठो मयूरः अध्यास्ते श्रयते। कीदृशः? मत्कान्तया शिञ्जानकनककटकमनोहरैः तालैः

---

१. "मूले बद्धा" इति पा०। २. "शिञ्जावलय—" इति पा०। ३. "कान्तया नर्तितो" इति पा०। "सभ्रूभङ्गं करतललयैर्नर्तितः" इत्यपि पाठान्तरम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाद्यैः नर्तितः। शिञ्जेरात्मनेपदित्वात् शिञ्जदिति प्रयोगः प्रमादजः। अनित्यो वानुदात्तेदात्मनेपदविधिः ॥७६॥

सुबोधा

बकुलाशोकमध्यवर्तिवक्ष्यमाणरूपमयूरावासयष्टिं चिह्नमुद्भावयन्नाह-तन्मध्ये। तयो रक्ताशोककेशरयोर्मध्ये अन्तराले, वासयष्टिर्निवासस्तम्भश्च अस्ति। कीदृशी? स्फटिकस्य फलकम् आधारभूतं चतुरस्रखण्डं यस्याः तादृशी, तथा काञ्चनी हिरण्मयी तथा अनतिप्रौढा अचिरोत्पन्ना ये वंशा वेणवः करीरास्तद्वत् प्रकाश उद्योतो वर्णो येषां तैः अर्थान्मरकतैर्मणिभिः मूले बद्धा कृतपिण्डिका। यां वासयष्टिं, दिवसविगमे सन्ध्यायाम्, वो युष्माकं मेघजातीयानां सुहृन्मित्रम्, नीलकण्ठो मयूरोऽध्यास्ते अधिवसति। पूर्वानुभूतस्मरणादुद्वेगमाह, कीदृशो मयूरः? मे मम कान्तया प्रेयस्या, शिञ्जद्वलयसुभगैः क्वणत्कङ्कणमनोहरैः तालैः हस्ततालिकाभिः नर्तितः नृत्यं कारितः, मत्सन्निधावित्यर्थात्। "फलकं वर्मशस्त्रात्रं यष्टेरुपरि पीठिका" इति शर्वः। काञ्चनस्येयं काञ्चनी। अण्। काञ्चनान्मयडेव न तु अञ्।

तथा च---

"पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव सः।
तेनेदं काञ्चनमयं निर्मितं पुरमुत्तमम्॥" इति,

रामायणमिति केचित्। तत्र प्रमाणम्, "पुरीं द्रक्ष्यसि काञ्चनीम्" इति भट्टिः। "स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया" इति माघः। उष्यतेऽस्मिन्निति वासः, वसनं वा वासः। "यष्टिर्हारलताशस्त्रभेदयोर्बद्धदण्डके"-ति विश्वः। "तालः कालक्रियामानं तालः करतलध्वनिः" इति बलः। शिञ्जदिति क्वचिदात्मनेपदिनोऽपि परस्मैपदं स्यादिति शतृः। "परिष्वजति पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम्" इत्यादयो बहवः प्रयोगा दृश्यन्ते। शिञ्जेर्घञर्थे कः, ततः क्विप्, ततः शतृरित्यन्ये। यामिति अधिपूर्वास आधारे द्वितीया। सुहृद इति तत्र तव मित्रदर्शनमपि भावीति ध्वनितम्। कान्तप्राणा स्वभावोक्तिरियम्॥

अन्वय

तन्मध्ये च अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः मणिभिः मूले बद्धा स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिः (अस्ति) यां शिञ्जावलयसुभगैः तालैः मे कान्तया नर्तितः वः सुहृद् नीलकण्ठः अध्यास्ते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दीरूपान्तर

उस (माधवीमण्डप) में अधपके बाँस के सदृश चमकवाले पन्नों से निचले भाग में जड़ी हुई और बिल्लौर से बने ऊपरी भाग वाली सोने की वासयष्टि (अड्डा) है जिस पर कि मेरी प्रियतमा के द्वारा बजती हुई चूड़ियों की खनक से मनोहर तालियों से नचाया गया हुआ तुम्हारा मित्र मयूर बैठा करता है।

विशेष

इस रचना के उत्तरदल को आलंकारिकमतव्यवस्थापनाचार्य आनन्दवर्धन ने बड़ी ही प्रशस्ति के साथ सुबन्त की व्यञ्जकता के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है—"एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानाञ्च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते। सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया वर्धितो मे"—इत्यादौ। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पर 'लोचन' में लिखा है—"तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनद् विप्रलम्भोद्दीपकताम् एति।"

टिप्पणियाँ

(१) **अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः**—'अतिशयेन प्रौढः अतिप्रौढः। न अतिप्रौढः, अनतिप्रौढः। अनतिप्रौढश्चासौ वंशश्च अनतिप्रौढवंशः। तेषां प्रकाशइव प्रकाशो येषां तैः।' "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" के अनुसार 'प्रकाश' उत्तरपद का लोप हो गया है। 'प्रकाश' से यहाँ 'द्योत' या चमक का अर्थ लिया गया है—"प्रकाशो द्योत आतपः"—(अमरकोश)। यहाँ कवि का आशय यह है कि एकदम पक जाने पर बाँस पीला हो जाता है और अनपका या कच्चा बाँस एकदम गाढ़े हरे रंग का होता है। जो बाँस खूब पका हुआ नहीं होता यानी अधपका होता है वह चमकीले हल्के हरे रंग का होता है उसमें पीतिमा प्रविष्ट तो होती है परन्तु पूर्णतः नहीं। पन्ने का रंग भी गाढ़ा हरा न होकर हल्का और चमकीला होता है। यहाँ कवि ने 'मरकत' शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया कि जिससे हल्की पीतिमा से संवलित मरकत का ही ग्रहण हो अन्य का नहीं और इस वर्ण के अन्य मणि भी ग्राह्य हो सकें।

(२) **मूले नद्धा**—'मूल' शब्द से यहाँ अभिप्राय वासयष्टि के निचले भाग से है। 'अमरकोश' में लिखा है—"मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः।" अङ्घ्रि से यहाँ तात्पर्य 'पाए' से है जिसपर कि ऊपरी फलक जकड़ा रहता है। सोने की वासयष्टि का पाया जो सामान्यतः एक ही हुआ करता है और फलक के बीच में खुँपा होता है अधपके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाँस के रंग की मणियों से जड़ा हुआ है। यहाँ पाया भी सोने का है और उसमें पन्ना आदि जड़ा है।

(३) **स्फटिकफलका**—'फलक' शब्द का कोश भरतमल्लिक ने दे रखा है। यहाँ 'पीठिका' अर्थ ग्राह्य है। 'पाए' के ऊपर छोटी-सी स्फटिक की 'चौकी' या 'पिढ़िया' अर्थात् 'पटरी' है। उसी को 'फलक' कहा गया है। उसी पर मयूर बैठा करता था। 'पाया' नीचे की ओर तो भूनिविष्ट है और ऊपर इसी 'फलक' में लगा है। 'स्फटिक' का आशय बिल्लौर पत्थर से है। स्फटिक की पटियाँ ही यहाँ पीठिका का काम दे रही हैं। समासविग्रह—'स्फटिकस्य शिला स्फटिकशिला। स्फटिकशिला फलकं यस्याः सा स्फटिकफलका। "समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्।" इति वार्तिकेन शिलालोपः समासश्च।'

(४) **काञ्चनी वासयष्टिः**—'काञ्चनस्येयमिति काञ्चनी [काञ्चन + अण् + ङीप्]'। यहाँ विकार को सूचित करने के लिए 'अण्' और स्त्रीलिंगार्थ 'ङीप्' आया है। 'वासाय यष्टिः वासयष्टिः।' बसेरा लेने के लिए बने अड्डे को 'वासयष्टि' कहेंगे। 'यष्टि' का कोश यहाँ भरतमल्लिक ने दिया है। 'वास' से यहां आशय 'अवस्थान' या 'टिकना' अथवा बसेरा लेना है—"वासो वेश्मन्यवस्थाने" (अनेकार्थसंग्रह)। यह अंग्रेजी के 'टी' (T) के आकार का बना 'अड्डा' है। यहाँ 'उदात्त' अलंकार है और उसके प्रयोजक 'काञ्चनी' 'मणिभिः' व 'स्फटिकफलका' पद हैं।

(५) **तालैः**—भरतमल्लिक के द्वारा उद्धृत कोश के अनुसार इसका अर्थ यहाँ पर 'करतलध्वनि' है। स्त्रियों के द्वारा पालतू मोरों का ताली बजा-बजाकर नचाया जाना कवियों का प्रिय विषय रहा है। सबसे पहले इस कल्पना को जन्म कालिदास ने ही दिया है। भवभूति ने भगवती सीता को भी पुत्रकृतक मयूर को करतलध्वनि से नचाते दिखाया है—

"भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि॥"
(उत्तर० ३–१८)

भवभूति की दृष्टि 'नर्त्यमान' की सूक्ष्म मुद्राओं पर अधिक है, चित्र बड़ी ही बारीकी से उभारा गया है, प्रायः प्रत्येक रेखा व रंग को निखारने की कोशिश की गई है; परन्तु नचानेवाली मुग्धा (?) की ओर से उसने जाने क्यों अपनी प्रतिभापूर्ण आँखें फेर ली हैं। साथ ही इस वात्सल्यभरे पुत्रविषयक रतिभाव के गुणीभाव के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसङ्ग में 'मुग्धा' का क्या प्रयोजन? वात्सल्य के प्रसङ्ग में प्रथमावतीर्णमदन-विकारा, रतिवामा, मानमृद्वी या समधिकलज्जावती मुग्धा की चरचा करना ही "परिपन्थिरसाङ्गपरिग्रहमात्र" है। कालिदास की कल्पना का नीलकण्ठ सन्देश-हर वारिद का मित्र है और यक्ष की कान्ता की चूड़ियों की मधुर झनकार से आप्यायित करतलध्वनियों पर नाच उठा करता है कभी संयोग के मादक क्षणों में, पर अब तो उन दिनों के चले जाने पर बस वासयष्टि पर बैठा रहता है।

(६) **शिञ्जद्वलयसुभगैः**––व्याकरण की दृष्टि से इस पाठ की अपेक्षा "शिञ्जावलयसुभगैः" ही ठीक है। दोनों का समासविग्रह––(क) 'शिञ्जन्ति च तानि वलयानि च शिञ्जद्वलयानि; तैः सुभगाः तैः शिञ्जद्वलयसुभगैः।' (ख) 'शिञ्जाप्रधानानि वलयानि शिञ्जावलयानि। "समानाधिकरणाधिकारे शाक-पार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च"––इति वार्त्तिकेन प्रधानलोपः। तैः सुभगास्तैः शिञ्जावलयसुभगैः।' यहाँ पर '√शिजि' आत्मनेपद धातु है अतः शत्रन्त रूप को टीकाकारों ने प्रमादज या च्युतसंस्कृतिपूर्ण माना है। क्योंकि '√शिजि अव्यक्ते शब्दे' और "पृच्यन्ता अनुदात्तेतः" के आधार पर आत्मनेपद है और इसी से उसका शानजन्त रूप होना चाहिए न कि शत्रन्त। वल्लभदेव ने अनुदात्तेत् की आत्मनेपद-विधि को अनित्य मानकर समाधान देने का प्रयास किया है। सारोद्धारिणी में '√शिजि' से अच् करके 'शिञ्जः' बनाया है फिर तत्तुल्याचार के अर्थ में क्विप् करके नामधातु बनाकर वर्तमान में शतृ प्रत्यय को उचित ठहराया है। भरतमल्लिक ने घञ्–प्रत्ययान्त शिजि से 'शिञ्जः' बनाकर क्विप्––प्रत्यय करके शतृ से 'शिञ्जद्' सिद्ध किया है। चरित्रवर्धन ने लिखा है––"घञर्थे कविधानम्। सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके। आचारे क्विप्। तदन्ताद् शतृप्रत्ययः।" भूषणों की आवाज़ को शिञ्जा कहते हैं––"भूषणानान्तु शिञ्जितम्।"

(७) **नीलकण्ठः**––अमरकोश का कथन है––"मयूरो बर्हिणो वर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्।"

एभिः साधो हृदय[1]निहितैर्लक्षणैर्लक्षणीयं[2]
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षाम[3]च्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्॥१४॥

---

१. "मनसि निहितैः" इति पा०। २. "––लक्षणैर्लक्षणीयम्" इति, "––लक्षयेथास्तत्" इति च पाठान्तरे। ३. "मन्दच्छायम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

हे साधो पूर्वोक्तैः एतैश्चिह्नैः चित्तस्थापितैर्मद्वेश्म त्वया लक्षणीयं बोद्धव्यम्। किञ्च द्वारपार्श्वे शङ्खपद्मौ निधी लिखितवपुषौ दृष्ट्वा लक्ष्यम्। कीदृशम्? इदानीं मद्विरहेण क्षामच्छायं कृशशोभम्। यस्माद्रवेरस्तसमये नलिनं नैव निजां श्रियं पुष्णाति वर्धयति।।७७।।

सुबोधा

उक्तचिह्नं द्रढयन् चित्रलिखितशङ्खपद्मं गृहमन्दशोभात्वञ्च चिह्नमाह—एभिः। हे साधो शुद्धबुद्धे, हृदये मनसि निहितैः संस्थापितैः एभिः उक्तैस्तोरणादिभिः लक्षणैश्चिह्नैः एवं द्वारस्य उपान्ते समीपे पक्षद्वये, लिखितवपुषौ चित्रन्यस्तशरीरौ, शङ्खपद्मौ निधी दृष्ट्वा च, नूनं शङ्के, अधुना सम्प्रति, मद्वियोगेन मम विरहेण स्वाम्यभावाद् मन्दच्छायं स्वल्पशोभम्, भवनं गृहम्, लक्षयेथा ज्ञास्यसि। कथं मन्दच्छायम्? इत्यर्थान्तरं न्यस्यति। खलु यस्मात् सूर्यस्य अपाये अदर्शने, कमलं पद्मं स्वामात्मीयाम् अभिख्यां शोभां न पुष्यति न धारयति। साधो इत्यनेन परहितपरत्वं सूचितम्। हृदयनिहितैरित्यनेन यद्यल्लक्षणमुक्तं तत् स्मर्तव्यम्, न विस्मर्तव्यमिति सूचितम्। हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा इति यथा अन्यो वैयाकरणादिः हृदिस्थैः लक्षणैः सूत्रैर्लक्ष्यं लक्षयतीत्युक्तिश्लेषः। दृढीकरणमिदम्, अन्यैरपि मङ्गलाचारत्वात् कुत्रचित् शङ्खपद्मौ लिख्येते, मम तु धनादेरनुभावाद् द्वारोपान्ते लिखितौ इत्युत्कर्षो व्यज्यते। लिखितवपुषौ चित्रनिर्मितकुम्भाकारमुखोपरिन्यस्तौ इत्यर्थः। तदुक्तं विष्णुधर्मोत्तरे चित्रसूत्रप्रस्तावे—

"कुम्भाकारान्निधीन् सर्वान् विलिखेच्चित्रवित्तमः।
निजाख्याख्यापकांस्तत्र विशेषांश्च निवेशयेत्।।" इति।

इमौ तु पापनाशार्थं दुष्टसत्त्वनिवृत्त्यर्थञ्च लिख्येते। तथा च तत्रैवोक्तम्—

"शङ्खपद्मौ निधी यत्र सुरभिर्मत्तकासिनी।
वृषभैराचिता चित्रे तद्गृहं कल्मषं त्यजेत्।।" इति।

अन्यत्र चोक्तम्—

"शङ्खपद्मौ निधी चित्रे दृष्ट्वा दुष्टैर्विमुच्यते।।" इति।

अन्ये तु यो यस्य सेवकः स तदीयचिह्नं शोभार्थं चाट्वर्थञ्च लिखतीति कुबेरचिह्ने लिखितवानित्याहुः। च-शब्दः समुच्चये, न केवलमेभिरिमौ च दृष्ट्वा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनयोर्दर्शनेन चेत्यर्थः। अधुना नूनं मद्वियोगेन मन्दच्छायमित्यनेन पूर्वमलकायां मद्गृहं सर्वोत्तममासीदिति सूचितम्। एतदेवार्थन्यासेन दृढीकृतम्। खलु यस्मादित्यर्थे। वाक्यालङ्कारे इत्यन्ये। "अभिख्या नामशोभयोः" इत्यमरः। हेतुस्वभावाख्यानसङ्कीर्णार्थान्तरन्यासः।

अन्वय

साधो! हृदयनिहितैः एभिः लक्षणैः द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ दृष्ट्वा च नूनम् अधुना मद्वियोगेन क्षामच्छायं भवनं लक्षयेथाः (यतः) सूर्यापाये खलु कमलं स्वाम् अभिख्यां न पुष्यति।

हिन्दीरूपान्तर

ऐ महाशय! इन (कहे गए हुये) मनोनिवेशित लक्षणों से तथा दरवाज़े के साह-वाजू पर उत्कीर्ण आकृतिवाले शङ्ख और पद्म को देखकर निश्चय ही अब मेरे वियोग के कारण क्षीण हो उठी हुई शोभावाले मकान को तुम जान लोगे क्योंकि सूर्य के दूर हो जाने पर कमल अपनी शोभा नहीं निखार पाता।

टिप्पणियाँ

(१) **साधो**—'साधु' शब्द कई अर्थों में आता है—"साधुर्जैने मुनौ वार्द्धुषिके सज्जनरम्ययोः" (अनेकार्थसंग्रहः)। इस शब्द का बड़ा ही उपयोगी विग्रह "सिद्धान्तकौमदी" में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम उणादि-सूत्र है—"कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्"। इसके अनुसार '√साध संसिद्धौ (स्वादि०)' धातु से 'उण्' प्रत्यय करने पर 'साध' शब्द निष्पन्न होता है। भट्टोजि दीक्षित का कहना है—"साध्नोति परकार्यं साधुः।" यहाँ मेघ के परकार्यसाधन में लगे होने के कारण कवि ने उसे यक्ष से 'साधु' सम्बोधन प्रदान कराया है। कवि ने घर की पहचानें बता कर यक्षसंदेशप्रापणरूपी परकार्य के साधन की दृष्टि से 'साधु' शब्द का सम्बोधन बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रयुक्त किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ऐसे ही शब्दों को दृष्टिपथ में रखकर कहा था—"यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।"

(२) **लक्षणैः**—कोश के अनुसार 'लक्षण' शब्द नाम और चिह्न के अर्थ में आता है—"लक्षणं नामचिह्नयोः (अनेकार्थसंग्रह)।" यहाँ सामान्येन 'लक्षण' शब्द 'चिह्न' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। पूर्णसरस्वती ने यहाँ लक्षण शब्द को पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण किया है और 'इतरव्यावर्तक' माना है—"लक्षणैः इतरे-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्यो व्यावर्तकैर्धर्मैः।" इस अर्थ में प्रयोग स्वीकार करना यहाँ उचित नहीं लगता। कवि ने यक्षालय के विशिष्ट चिह्न ही बताए हैं भवनान्तरव्यावर्तकधर्म नहीं।

(३) **द्वारोपान्ते**--'द्वार' का यहाँ पर आशय 'निर्गम' से है—"द्वारं निर्गमेऽभ्युपाये" (अनेकार्थसंग्रह)। मकान से बाहर निकलने के दरवाज़े के 'उपान्त' अर्थात् निकट शङ्ख और पद्म बने थे। यहाँ उपान्त का अर्थ वल्लभदेव और चरित्रवर्धन के अनुसार 'निकट' या 'समीप' है। परन्तु मल्लिनाथ ने अच्छी सूझ दिखाई है। उनका कहना है कि 'द्वारोपान्ते' पद में एकवचन विवक्षित नहीं है। कवि का आशय द्वार के दोनों पार्श्वों से है जहाँ पर कि एक ओर शङ्ख और दूसरी ओर पद्म उत्कीर्ण हैं—"द्वारोपान्ते; एकवचनमविवक्षितम्, द्वारपार्श्वयोरित्यर्थः।" भरतमल्लिक ने भी 'पक्षद्वयोः' लिखकर इसी का पोषण किया है। कवि की कल्पना ऐसी प्रतीत होती है कि द्वारों की शाखाओं (साह) अर्थात् दोनों बगल के स्तम्भों पर शङ्खपद्म अङ्कित थे। पूर्णसरस्वती ने भी लिखा है—"अर्थाद् उभयतः।"

(४) **लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ**--यहाँ 'शङ्ख' और 'पद्म' का बजायी जानेवाली शंख या कमल के फूल से आशय नहीं है। बल्कि 'शङ्ख' और 'पद्म' नामक निधियों से तात्पर्य है। वल्लभदेव से लेकर भरतमल्लिक तक सभी प्राचीन टीकाकारों ने यही अभिप्राय किया है। चूंकि निधियाँ निराकार हुआ करती हैं अतः कवि ने 'लिखितवपुषौ' यह विशेषण रखा है। 'लिखिते वपुषी ययोस्तौ लिखितवपुषौ'—यह समासविग्रह है। 'वपुष्' का अर्थ यहाँ 'प्रशस्त आकार' अभीष्ट है--"वपुः शस्ताकृतौ देहे (अनेकार्थसंग्रह)।" नव निधियाँ हैं—"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥"—शब्दार्णव के इस कथन के अनुसार 'पद्म' और 'शङ्ख' दो निधियों को कवि ने यक्ष के आवास की द्वारशाखाओं पर उत्कीर्ण दिखलाया है। 'सारोद्धारिणी' टीका में इन्हें पुरुषाकार अङ्कित बताया गया है—"तौ हि अधोभागे पुरुषरूपौ गृहद्वारशाखासु मङ्गलार्थमालिख्येते।" श्री एच० एच० विल्सन ने लिखा है:—

"Agreeably to the system of the Tāntrikas the Nidhis are personified and upon certain occasions, as the worship of Lakshmi, the goddess of prosperity &c., come in for a share of religious veneration. They have also their peculiar Mantras or mystical verses". पूर्णसरस्वती के अनुसार भी वे पुरुषाकार हैं पर उनके शीर्ष पर 'पद्म' या 'शङ्ख' का आकार बना दिया जाता है—"लिखितवपुषौ द्वारपालत्वेन चित्रनिवेशितनिजलक्षणविशिष्टशरीरौ। शङ्खपद्मौ शिरसि शङ्खेन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लाञ्छितो निधिदेवताविशेषः शङ्खनिधिः; पद्मेन तु पद्मनिधिः।" भरतमल्लिक ने दूसरी परम्परा की ओर विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इंगित किया है। उनके अनुसार सारी निधियों को कुम्भाकार चित्रित किया जाता है और उस कुम्भ के मुख पर 'शङ्ख' या 'पद्म' बना दिया जाता था। इसके अङ्कित करने से सारे पाप और दुरित दूर हो जाते थे। आजतक प्राचीन शैली के गृहद्वारों की शाखाओं पर पुरुषाकृतियाँ और उनके शीर्ष पर कमल व शंख अङ्कित करने की परम्परा है। पुराने मन्दिरों में ऐसे कुम्भ भी दिखाई देते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी दोनों का स्पष्टीकरण पूर्णतः परम्परा ग्राह्य है।

(५) कमलम्—यहाँ पर इस पद से प्रसिद्धकान्त्यादिधर्मान्तरपरिणत-धर्मिविशेष की व्यञ्जना होती है। जैसे इस रचना में—"ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति। रविकिरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥" दूसरा 'कमल' शब्द।

अलङ्कार—यहाँ विशेष से विशेष का समर्थन माननेवालों की दृष्टि में अर्थान्तरन्यास अन्यथा प्रतिवस्तूपमा है।

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः[1]
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ[2] निषण्णः।
[3]अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसि[4]तनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥१५॥

पञ्चिका

ततस्त्वं पूर्वोक्ते रम्यसानौ क्रीडाद्रौ अवस्थितः सन् अस्मद्वेश्माभ्यन्तरपतितां विद्युदुन्मेषदृष्टिं तडिदुद्द्योतनमेव दृशं कर्तुमर्हसि। यथा तां पश्यसीति भावः। किं कृत्वा? तत्क्षणं कलभतनुतामिभशिशुपेलवत्वं क्षिप्रगमनार्थं प्राप्य। महति हि देहे व्यथा जायते। कीदृशीं दृष्टिम्? अल्पाल्पा कृशप्राया भाः कान्तिर्यस्यास्ताम्। अतएव च खद्योताल्या ज्योतिर्मालिश्रेण्या यद् विलसितं स्फुरणं तत्सदृशीम्॥७८॥

सुबोधा

इदानीं विदितगृहस्त्वं तदीयत्राणाय अल्पशरीरीभूय ज्योतिरिङ्गणाकार-

---

१. "तत्परित्राणहेतोः" इति पा०। २. "रत्नसानौ" इति पा०।
३. "अर्हस्येनं भवन—" इति पा०। ४. "विलसन—" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्युद्दृष्टया तां निरीक्षसे इति प्रयोजनवदनुष्ठानमाह—गत्वा। प्रथमकथिते पूर्वमुक्ते, रम्यसानौ इन्द्रनीलादिखचितत्वाद् रमणीयप्रस्थप्रदेशे क्रीडाशैले मम त्वत्सख्याश्च लीलापर्वते निषण्णो विश्रामार्थमवस्थितः सन् सद्यस्तत्क्षणं गमनमात्रमेव तस्यास्त्वत्सख्याः परित्राणहेतोः रक्षाकारणात् कलभतनुतां करिपोतशरीरत्वं गत्वा प्राप्य खद्योताल्या ज्योतिरिङ्गणपङ्क्तेर्यद् विलसितं सखेलभ्रमणे उन्मेषस्तन्निभां तत्सदृशीं तद्वत् शोभमानां वा अतएव अल्पाल्पभासम् अल्पा अल्पा भाः प्रभा यस्यास्तादृशीं विद्युदुन्मेषदृष्टिं विद्युदुन्मेष एव तडित्प्रकाश एव दृष्टिस्ताम्, अन्तर्भवनपतितां गृहमध्यगतां कर्तुं सम्पादयितुं त्वमर्हसि युज्यसे, द्रष्टुमिति प्रकरणात्। केचित्तु प्रकरणादावासं गत्वा सद्यः कलभतनुतां विद्युदुन्मेषदृष्टिञ्च अन्तर्भवनपतितां कर्तुमर्हसीति योजयन्ति। कलभस्य करिपोतस्य तनुः शरीरं तस्य भावः कलभतनुता तां कलभस्येव तनुर्यस्य तद्भावमिति वा, कलभ इव तनुः क्षुद्रः तस्य भावः कलभतनुतेत्यन्ये। ईदृशस्य महाशरीरस्य भवतो दर्शनेन सा मूर्च्छिता स्यादित्याशङ्क्य एतदुक्तम्। "करभः करिशावकः" इत्यमरः। तत्परित्राणहेतोरिति अन्तर्भवनपतितां कर्तुमित्यत्रापि योज्यम्। रम्यसानाविति वासयोग्यत्वमुक्तम्। त्वयि करिशावकबुद्ध्या विद्युति प्रदीपबुद्ध्या सा भयादिरहिता स्वच्छन्दं स्थास्यतीति पर्यवसितोऽर्थः। समाधिप्राणरूपकोपमासङ्कीर्णमिदम्।

अन्वय

(हे साधो!) शीघ्रसम्पातहेतोः सद्यः कलभतनुतां गत्वा प्रथमकथिते रम्यसानौ क्रीडाशैले निषण्णः (त्वम्) अल्पाल्पभासं खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् अन्तर्भवनपतितां कर्त्तुम् अर्हसि।

हिन्दीरूपान्तर

शीघ्र प्रवेश करने के निमित्त तुरन्त हाथी के बच्चे का रूप धारण करके पहले कहे हुए सुन्दर सानुवाले क्रीडाशैल पर बैठकर तुम थोड़ी-थोड़ी टिमटिमाती हुई जुगनुओं की पांति की चमक की भाँति बिजुली की कौंध रूपी दृष्टि को घर के अन्दर पहुँची हुई बना दे सकोगे।

टिप्पणियां

(१) **शीघ्रसम्पातहेतोः**—"शीघ्रं सम्पातः शीघ्रसम्पातः [अत्र "सह सुपा" (२-१-४) इत्यनेन सुप् सुपेति समासः]। 'शीघ्रसम्पातस्य हेतोः'—इति प्रयोगस्थाने समस्तः प्रयोगः कृतः कविना। शीघ्रसम्पात एव हेतुरिति शीघ्रसम्पातहेतु-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तस्य। शीघ्रसम्पातहेतोः।' यहाँ पर षष्ठी मल्लिनाथ के अनुसार "षष्ठी हेतु-प्रयोगे" सूत्र के अनुसार है। परन्तु इस पर शारदारञ्जन राय ने कुछ कटाक्ष करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि यह नियम यहाँ लगता ही नहीं और विस्तरार्थ "विश्रामहेतोः" की टिप्पणी की ओर निर्देश किया है। उनके द्वारा वहाँ दिया गया हेतु यह है—"Here the rule षष्ठी हेतुप्रयोगे does not at all apply. For this rule does not regulate the षष्ठी in हेतुशब्द but that in the word of which the हेतुत्व is implied (द्योत्य)". परन्तु यह कथन नितान्त भ्रामक है। काशिकावृत्ति में सूत्र को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"हेतोः प्रयोगो हेतुप्रयोगः। हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति। अन्नस्य हेतोर्वसति।" यहाँ पर हेतुशब्द का प्रयोग और हेतु की द्योत्यता अर्थात् सूचनीयता दोनों अभीष्ट है। भट्टोजि दीक्षित ने काशिका के अनुसार लिखा है—"हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।" इसी पर ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने दो मत उद्धृत किये हैं—एक के अनुसार अन्नशब्द में षष्ठी 'हेतौ द्योत्ये' के कारण होती है और दूसरे के अनुसार अन्य शब्दों से षष्ठी न हो इसलिये 'हेतौ द्योत्ये' कहा गया है। यहाँ हेतुशब्द में भी षष्ठी इसी सूत्र से होती है। ज्ञापक है "सर्वनाम्नस्तृतीया च" की वृत्ति। अपेक्षित उक्तियाँ हैं—"अत्र 'हेतौ'—इत्यनुवर्तते तदाह हेतौ द्योत्य इति। अन्नस्येति। 'हेतौ'—इति तृतीयायां प्राप्तायामनेन षष्ठी। हेतुप्रयोगे किम्? अन्नेन वसति। हेतौ द्योत्ये किम्? अन्नशब्दात् षष्ठी यथा स्यादित्येके। अन्नस्य हेतोस्तुभ्यं नम इत्यत्र युष्मच्छब्दान्मा भूदित्यन्ये।××× पञ्चम्यां तु हेतुशब्दात् षष्ठीतृतीये न स्याता-मित्याशयेनाह—सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य चेति।" अतः स्पष्ट है 'पदान्त' में षष्ठी इसी सूत्र से हुई है न कि शारदाञ्जन राय के अनुसार यहाँ षष्ठी "शेषे षष्ठी" से है (पृ० १०३)। श्रीशारदारञ्जन जी को ज्ञात होना चाहिए कि सूत्र "षष्ठी शेषे (२ ३-५०)" है न कि 'शेषे षष्ठी' जैसा कि वे उद्धृत करते हैं। यहाँ कारक और प्रातिपदिकार्थ से व्यतिरिक्त स्व-स्वामिभावादि सम्बन्ध है ही नहीं। यहाँ तो हेत्वर्थक षष्ठी होने से कारकता का विषय है। इस प्रकार यह 'षष्ठी शेषे' का विषय नहीं है और यहाँ मल्लिनाथ ने शास्त्रानुसार लिखा है। 'सम्पात' का यहाँ पर 'प्रवेश' अर्थ अभीष्ट है—"सम्पातः पतने वेगे प्रवेशे वेदसंविदे" (शब्दार्णव)। जिस प्रकार मल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है समास में भी कोई बाधा नहीं है अतः शारदारंजन जी का समासक्षेप भी अनुचित ही है। भरतमल्लिक के अनुसार यहाँ पर "तत्परित्राणहेतोः" पाठ है और वहां भी षष्ठी उक्त सूत्र से ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **कलभतनुताम्**—अमरकोश के अनुसार 'कलभ' हाथी के बच्चे को कहते हैं—"कलभः करिशावकः।" 'अभिधानचिन्तामणि' में उसकी अवस्था का भी निर्देश किया गया है—"कलभो द्वात्रिंशदब्दः।" हाथी की लम्बी चौड़ी उम्र होती है इसीसे बत्तीस साल का हाथी बच्चा ही समझा जाता है। जवान या 'मद-कल' वह पचास की अवस्था के बाद होता है। ऐसे हाथी के शरीर के तुल्य शरीरवाले के अर्थ में 'कलभतनुः' पद बनेगा—'कलभस्य तनुरिव तनुर्यस्य सः कलभतनुः'। "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः"—इस वार्त्तिक से उत्तरपद का लोप होता है और बहुव्रीहिसमास बनता है। इसी शब्द से भावार्थक 'तल्'—प्रत्यय के लगने पर द्वितीया एकवचन में 'कलभतनुताम्' निष्पन्न होगा। कुछ लोगों ने लघ्वर्थक 'तनु' शब्द से इसे निष्पन्न करने का दुःसाहस किया है परन्तु उक्त वयःपरिमाण इस बात का प्रमाण है कि बत्तीस साल का हाथी जवान भले न हो पर छोटा नहीं होता। भारी दिखाने में ही कविसंरम्भ है क्योंकि तभी तो 'शीघ्र-सम्पात' होगा। साथ ही दन्तारे मदकल से भी आशय नहीं है क्योंकि वह 'परिणत-गज' तो 'आश्लिष्टसानु' होकर 'वप्रक्रीडा' में लग जायगा और यक्षाङ्गना को भय-भीत कर देगा।

(३) **रम्यसानौ निषण्णः**—'रम्यः सानुर्यस्य तस्मिन्।' सानु शब्द पर्वत के ऊपर समतल भूभाग को कहते हैं। गढ़वाली में इसे अब भी 'सैंण' कहते हैं जो 'सान' का ही अपभ्रंश रूप लगता है। अमर ने तीन पर्याय दिये हैं—"स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियौ।" सर्वश्री संसारचन्द्र व श्रीरंजनसूरि ने 'चोटी' या 'शिखर' अर्थ दिया है वह नितान्त अनुचित है। 'निषण्ण' शब्द यहाँ बहुत ही व्यञ्जक है वह विस्रब्धता व सुखासीनता द्योतित करता है और वह भी थोड़ी देर तक। पूर्ण-सरस्वती के शब्दों में—"निषण्णः न तु स्थितः स्वत्वाद् विस्रब्धमेव सुखासीन इत्यर्थः। निषण्णः न तु निषीदन्—इति भूतनिर्देशेन कञ्चित् कालं स्थित्वा लब्ध-विश्रान्तिसुख इति द्योत्यते।" साथ ही रम्यसानुवाले क्रीडाशैल रूपी आधार से इस लम्बे चौड़े रास्ते के चलने से उत्पन्न सारी थकावट को दूर कर देने की क्षमता ध्वनित होती है।

(४) **अल्पाल्पभासम्**—'अल्पाल्पा भा यस्यास्ताम्। "प्रकारे गुणवचनस्य (८-१-१२)" इति द्विरुक्तिः।' प्रियतमा की भीति एवं नयनोपघातकता का परिहार करने के लिए यह विशेषण रखा है।

(५) **खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्**—'खद्योतानामाली खद्योताली। तस्या विलसितं खद्योतालीविलसितम्। तेन निभा खद्योतालीविलसित—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निभा, ताम्। विद्युत उन्मेषः विद्युदुन्मेषः। स एव दृष्टिः विद्युदुन्मेषदृष्टिः, ताम्।' सानु पर हाथी के पास जुगुनुओं की टिमटिमाहट के उपमान के द्वारा उपमा प्रस्तुत की गई है और विद्युदुन्मेषदृष्टि में निरङ्गरूपक है। दोनों की संसृष्टि है।

तन्वी श्यामा शिखरदशना[1] पक्वबिम्बाधरौ[2]ष्ठी
मध्ये-क्षामा चकितहरिणप्रेक्षणी[3] निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र[4] स्याद् युवतिविषये[5] सृष्टिराद्येव[6] धातुः॥१६॥
तां जानीयाः[7] परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्क[8]ण्ठागुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बा[9]लां
जातां मन्ये शिशिरमथितां[10] पद्मिनीं वान्यरूपा[11]म्॥१७॥

पञ्चिका

तत्र वेश्मनि यैवंविधाऽङ्गना भवेत्तां त्वं मम जीवितं द्वितीयं बहिश्चरं जानीयाः। मद्भार्यां बुध्येथाः। कीदृशी? या तन्वी कृशाङ्गी। श्यामा एकवारप्रसूता। तरुणीत्यर्थः। शिखरदशना तीक्ष्णदन्ता। पक्वं यद्बिम्बफलं तद्वदधरो यस्याः सा। मध्येक्षामा कृशोदरी। चकितहरिणप्रेक्षणी त्रस्तकुरङ्गनयना। निम्ननाभिः अतुन्दिला। श्रोणीभारान्नितम्बभाराद् अलसगमना मन्थरयाता। स्तनाभोगेन च स्तोकं मनाङ्नम्रा नता। किं बहुना। युवतिविषये नारीमध्ये वेधस आद्या सृष्टिरिव आदौ ह्यनुद्वेगाद्रम्यं निर्माणं भवति। तां कीदृशीम्? परिमितकथां पेशलभाषिणीम्। मयि सहचरे पत्यौ दूरीभूते दूरस्थिते सति चक्रवाकीमिवैकां केवलाम्। यां च बालामनीषु गाढोत्कण्ठादुःसहेष्वहःसु व्रजत्सु शिशिरदग्धां कमलिनीमिव

---

१. "शिखरिदशना" इति पा०। २. "बिम्बाधरोष्ठी" इति पा०। ३. "हरिणीप्रेक्षणा" इति,—"हरिणीप्रेक्षणी" इति, "हरिणीप्रेक्षिता" इति च पाठान्तराणि। ४. "तत्रास्ते" इति पा०। ५. "युवतिविषया" इति पा०। ६. "आद्यैव" इति पा०। ७. "जानीथाः" इति पा०। ८. "गाढोत्कण्ठाम्" इति, "गाढोत्कण्ठा" इति च पाठान्तरे। ९. "बाला" इति पा०। १०. "तुहिनमथिताम्" इति पा०। ११. "जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विरूपां सम्पन्नां मन्ये जाने। वा शब्द इवार्थे। तां जानीया इत्येतदपेक्षयाऽत्र सर्वत्र द्वितीया ॥७९–८०॥

सुबोधा

तत्र गृहान्तर्गतदृष्टिस्त्वं सखीसमाजसङ्गतां तां तनुत्वादिना ज्ञास्यसीति चिह्नमुपदिशन्नाह––युग्मकम्। तन्वी। तत्र मद्गृहे या एवम्भूता स्यात् सम्भाव्यते तिष्ठति तां मे मम द्वितीयं जीवितं बहिश्चरान् प्राणान् प्राणभूतां त्वं जानीयाः, मत्प्रियां तां ज्ञास्यसीत्यर्थः इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। किम्भूता? तन्वी स्वभावात् कृशाङ्गी विरहेणातितरां कृशेत्यर्थः, तथा श्यामा सौकुमार्यादिगुणवती। यदुक्तम्––

"शीते या चोष्णगात्री स्याद् उष्णे च स्पर्शशीतला।
प्रकृत्या सुकुमाराङ्गी सा श्यामा कथिता बुधैः॥" इति

श्यामा प्रियङ्गुमञ्जरीवत्, श्यामदेहा वा। श्यामा प्रियङ्गुकलिकेव श्यामवर्णेति केचित्। श्यामा षोडशवार्षिकी; तथा च, "द्व्यष्टवर्षा भवेच्छ्यामा" इति केचित्। अप्रसूतेति केचित्। तथा शिखरदशना शिखरवत् कुन्दकुट्मलवत् दशना दन्ता यस्यास्तादृशी; "शिखरं शृङ्गमग्रञ्च शिखरं कुन्दकुट्मल" इतिबलः। केचित्तु 'शिखरमग्रं तदतिशयेन अत्रास्तीति अतिशयेऽर्शादित्वादच्। शिखरा अतिशयिताग्रा दशना यस्याः सा तथा दशनानां तीक्ष्णाग्रत्वेन शुभलक्षणं सूचितम्; तदुक्तं पराशरसंहितायां स्त्रीशुभलक्षणे, "समशितशिखरदशना चेति", इत्याहुः। अन्ये तु 'शिखरदशना पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्यसमदन्ता; तथा च विश्वः––

"शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्ष्यापुलककोटिषु।
पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्यशकलेऽपि च॥" इति।
"पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः" इत्यनेकार्थकोषश्च।

अत एवात्र शिखरशब्दो लोहितमाणिक्यवाची, इत्याहुः। किन्तु दन्तस्य शुभ्रत्वमेव कविभिर्वर्ण्यते। तथा, पक्वबिम्बाधरौष्ठी पक्वबिम्बवत् परिणतबिम्बीफलवत् अधरश्च ओष्ठश्च यस्यास्तादृशी, अतिलोहिताधरौष्ठी इत्यर्थः। बिम्बी तेलाकुचा इति––ख्याता लता, तस्याः फलं बिम्बम्। तथा मध्येक्षामा क्षीणा तुच्छोदरीत्वात् कृशमध्या। चकितहरिणीप्रेक्षणा चकिता त्रस्ता भयसङ्क्रान्ता या हरिणी कुरङ्गी तस्या इव प्रेक्षणे नयने यस्यास्तादृशी, एतेन चक्षुषोरतिदैर्घ्यं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सविशेषचाञ्चल्यं कालिमबहुलगोलकत्वञ्च सूचितम्। तथा निम्ननाभिः निम्ना नता गभीरा नाभिर्यस्यास्तादृशी। तथा श्रोणीभारादलसगमना श्रोणी एव नितम्ब एव भारस्तस्माद् अलसं मन्दं गमनं गतिर्यस्याः तादृशी श्रोणीभारादतिगुरुत्वाद् रूपकं श्रोणीभारभरादिव मन्दगमना इत्युत्प्रेक्षेयम्। किंवा भार एव भरः स्वार्थेऽण। तथा स्तनाभ्यां कुचाभ्यां स्तोकनम्रा स्तोकमल्पं यथा स्यात्तथा नम्रा स्तनगौरवान्नमनशीला नताङ्गीत्यर्थः। यत एतादृशी अतएव युवतिविषये तरुणीनिर्माणगोचरे, स्त्रीणां मध्ये धातुर्विश्वसृज आद्यैव प्रथमैव सृष्टिर्निर्माणम्, प्रथमनिर्माणं हि तात्पर्येण भवति। सृष्टिरिति कर्मणि क्तः। ब्रह्मणा दैवात् सा निर्मिता न पुनरन्या तादृशीति भावः। आद्येव सृष्टिरिति पाठे प्राथमिकी सृष्टिरित्युत्प्रेक्षेत्यर्थः। तन्वीत्यादिना स्त्रीणां सर्वं शुभलक्षणं सूचितम्। तथा च——

"नातिस्थूलकृशाङ्गी न चातिह्रस्वायता स्मितमुखी।
सरसिजपरागगौरी प्रियङ्गुतरुमञ्जरी सवर्णा वा॥
शस्ता नारी सुतनुस्तनुमध्या मन्दगतिश्च नताङ्गी।
सन्त्रासितमृगनेत्रा पुलिननितम्बा सुकेशी च॥"

तथा —— "बन्धूकजीवकुसुमोपमममांसलातिरक्ताधरौष्ठजितबिम्बरुचिः कृशाङ्गी।
इन्दीवरच्छदकुरङ्गविलोचनाभनेत्रा करीन्द्रगमना वनिता प्रशस्ता॥"

तथा —— "नाभी गभीरा विपुलाङ्गनानां प्रदक्षिणावर्तगता च शस्ता।
विस्तीर्णमांसोपचितो नितम्बो गुरुश्च धत्ते रसनाकलापम्॥"

तथा —— "शार्दूलद्विपहंसगोपतिगतिः कुन्दाभदन्तावलिः
शस्ता वेदिविलग्नमध्यविलसच्चारुप्रभाङ्गी वधूः।
आवर्ताभगभीरनाभिसुभगा पीनोच्चवृत्तस्तनी
स्निग्धश्यामलगौरवर्णरुचिरा पुण्यात्मना लभ्यते॥"

तथा —— "शीतोष्णकालयोरुष्णशीता मधुरभाषिणी।
सर्वाङ्गे सुन्दरी नारी नाल्पपुण्येन लभ्यते॥"

स्तनाभ्यां स्तोकनम्रेत्यनेन स्तनयोः सुवृत्तघनपीनता सूचिता, उक्तञ्च—— "वृत्तौ घनावविषमौ कठिनावुरस्यौ"——इति। "अप्रसूताङ्गनायाश्च श्यामा श्यामलतौषधौ। प्रियङ्गौ यमुनायाञ्च त्रियामायां त्रिवृत्यपीति। हेममाली।" "बिम्बं फले बिम्बिकायाः प्रतिबिम्बे च मण्डले"——इति विश्वः। "अलसः पादरोगे स्यात् क्रमे मन्दे द्रुमान्तरे"——इति च। तां कीदृशीम्? परिमिता अल्पा कथा वचनं यस्यास्तादृशीं मितभाषिणीमित्यर्थः। अयञ्च स्त्रीणां गुणातिशयः, विरहवेदनया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वा बहु वक्तुमक्षमत्वात् परिमितकथाम्। जीवितमिति स्नेहाविष्कृतिः। सहचरे प्रिये मयि दूरीभूते विप्रकृष्टे सति चक्रवाकीमिव चक्रवाकपक्षिवधूमिव एकाम् अद्वितीयाम्। चक्रवाक्या विरहस्य सुप्रसिद्धत्वात्तस्या साम्यमुक्तम्। यत्तु चक्रवाकीमिवेत्यनेन यथा रामस्य शापेन चक्रवाकयोर्विरहस्तथा यक्षेश्वरशापेनावयोरिति ध्वनितम्। सीताविरहकाले हि रामेण चक्रवाकयोः शापो दत्त इति लोकवार्तेति व्याचक्षते। तत्तु कालिदासस्यासम्मतत्वान्न न साधु मन्यन्ते। तथा हि—

"शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम्।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः॥" इत्यजविलापः।

अजराजकाले हि रामो न जातः। तस्मात् स्वभावादेव रात्रौ चक्रवाकयोर्विरहः। एषु आषाढश्रावणीयेषु गुरुषु महत्सु दिवसेषु गच्छत्सु सत्सु गाढोत्कण्ठां प्रबलकामत्वाद् गुरुतरस्मराम्, यतो बालाम् अभिनवयौवनां षोडशवर्षीयाम्। "बाला षोडशवार्षिकी" ति बलः; "बालेति गीयते नारी यावत् षोडशवत्सरम्" इति—नागरसर्वस्वम्। मन्ये शङ्के इदानीन्तनावस्थाया अदृष्टत्वात्। शिशिरमथितां हिमविलोडितां पद्मिनीं वा नलिनीमिव अन्यरूपां पूर्वरूपाद् भिन्नाकारां स्वाभाविकरूपविपरीतरूपां जाताम् उत्पन्नाम्। वा-शब्द इवार्थे। "वा विकल्पोपमानयोः" इति रन्तिः। व-शब्दो वा, "व-शब्द उपमायां स्याद् वरुणे स्यादनव्यय"—इति विश्वः। केचित्तु गाढोत्कण्ठागुरुष्विति पठित्वा प्रबलोत्कलिकया दुःसहेष्विति व्याचक्षते। युग्मकम्॥

अन्वय

तत्र (भवने) या तन्वी, श्यामा, शिखरदशना, पक्वबिम्बाफलोष्ठी, मध्ये क्षामा, चकितहरिणीप्रेक्षणा, निम्ननाभिः, श्रोणीभाराद् अलसगमना, स्तनाभ्यां स्तोकनम्रा, युवतिविषये धातुः आद्येव सृष्टिः स्यात् ताम् परिमितकथां मयि सहचरे दूरीभूते (सति) चक्रवाकीमिव एकाम् (अतः) मे द्वितीयं जीवितं जानीयाः। (अथ तां) गाढोत्कण्ठां बालाम् एषु गुरुषु दिवसेषु गच्छत्सु (सत्सु) शिशिरमथितां पद्मिनीं वा अन्यरूपां जातां मन्ये।

हिन्दीरूपान्तर

वहाँ जो छरहरी, साँवली, शिखरसरीखे दाँतोंवाली, पके चेरी के फल की तरह होठोंवाली, पतली कमरवाली, अकचकाई हिरनी की-सी चितवनवाली, नितम्बों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बोझ से मन्थर चाल वाली उरोजों से थोड़ी झुकी हुई, (और जो) युवतिसम्बन्धिनी ब्रह्मा की पहली सृष्टि-सी हो उस स्वल्पभाषिणी को मुझ जीवनसाथी के दूर हो जाने पर अकेली पड़ी हुई चक्रवाकी-सी मेरी दूसरी आत्मा ही समझना। मैं समझता हूँ कि (वह) गाढ़ी व्यथाओंवाली वाला इन बोझिल दिनों के बीत जाने पर पाले की मारी हुई कमलिनी-सी कुछ-और ही स्वरूप वाली हो उठी होगी।

टिप्पणियाँ

(१) **तन्वी**—मेदिनीकोश का कथन है—"तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे।" यहां 'तन्वी' विशेषण रूप से प्रयुक्त है और इसका अर्थ 'कृशाङ्गी' है। भरतमल्लिक ने कहा है कि वह प्रकृति से ही कृशाङ्गी थी विरह के कारण तो और भी दुबली पड़ गई। परन्तु यहाँ इस शब्द की रमणीयता 'अतितरां कृशा' से नहीं प्रत्युत पूर्णसरस्वती की उद्भावना से अभिव्यक्त होती है। कवि ने 'तन्वी' शब्द का प्रयोग किया है 'तनुतरा' का नहीं इससे अभिप्रेत यह है कि न तो वह अतिस्थूल है और न अतिकृश। छरहरी है। वर्जित स्त्रियों की गणना में ऐसी ही स्त्री नहीं आती। 'विद्युल्लता' में उद्धृत सामुद्रिक की उक्ति है—"अतिदीर्घा भृशं ह्रस्वा अतिस्थूला भृशं कृशा। अतिगौरी भृशं काली षडेता वर्जिताः स्त्रियः।"

(२) **श्यामा**—इस शब्द के विभिन्न टीकाकारों ने छः अर्थ माने हैं। १. सौकुमार्यादिगुणवती; २. षोडशवर्षीया; ३. अप्रसूताङ्गना; ४. मधुरभाषिणी; ५. प्रियङ्गुतुल्यश्यामवर्णा; और ६. यौवनमध्यस्था। सब ने अपने-अपने मत की साखियाँ भी दी हैं। पहले अर्थ के पक्ष में भरतमल्लिक ने 'शीते या'—आदि श्लोक उद्धृत किया है। इसी का दूसरा पाठ अन्यत्र मिलता है—"शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥" (भट्टिकाव्यटीका) श्री काळे ने एक उद्धरण दिया है उससे सभी अन्य चार अर्थों को समर्थन मिलता है—

"अप्रसूता भवेच्छ्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी।
श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामा मधुरभाषिणी॥"

अन्तिम अर्थ मल्लिनाथ को अभीष्ट है और वे प्रमाणतः 'उत्पलमाला' का कथन "श्यामा यौवनमध्यस्था" प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अर्थ पूर्णतः असमीचीन है क्योंकि यह एक असम्भावित वस्तु किंवा सर्वगत सत्य है। यदि यह स्त्रीगत वास्तविक वैशिष्ट्य के रूप में माना जाय तो असम्भव है और यदि कान्त के हृदय की आत्मानुभूति के रूप में माना जाय तो समस्त प्रियतमाओं में प्राप्त होनेवाला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्व है। दूसरा अर्थ लेने पर इसी युग्मक में आया हुआ 'बाला' शब्द पुनरुक्ति का घटक अथच अधिकपद हो जायगा क्योंकि 'रतिरहस्य' का कथन है—"बाला त्वा षोडशाब्दात् तदुपरि तरुणी त्रिंशतं यावत्।" तीसरा अर्थ मुग्धा, प्रौढा, वृद्धा सबका वाचक हो सकता है बशर्ते कि सन्तान न हुई हो; साथ ही यह अमङ्गलव्यञ्जक भी होगा। क्योंकि कवि का अभीष्ट 'अपुत्रप्रसवा' या प्रौढादि नहीं। यहां 'परिमितकथाम्' के होने से चौथे अर्थ से भी कवि का आशय नहीं हो सकता। मल्लिनाथ का अर्थ तो कवि की कल्पना के एकदम विरुद्ध है। एक तरफ़ कवि उसे 'बाला' कह रहा है दूसरी ओर महान् टीकाकार की सहृदयता उसे आधी जवानी के पार बैठाये दे रही है। 'तन्वी' में उद्धृत षड् वर्जिताओं में 'अतिगौरी' और 'अतिकाली' आ जाती हैं। अतः इसमें तनिक भी अनौचित्य नहीं यदि कालिदास की कल्पना में कुवलय के दलों की तरह अथवा प्रियङ्गु की मंजरी या कलिका की तरह साँवली कामिनी का निवास हो। सीता, द्रौपदी आदि श्यामा एवं कृष्णा वर्णित थी हीं। दक्षिणावर्तनाथ ने लिखा है—"श्यामा श्यामवर्णा हरितवर्णेत्यर्थः।" पूर्णसरस्वती बड़ा ही मनोरम विवेचन है। प्रमाण स्वरूप "श्यामास्वङ्गम्" की मेघदूत की उक्ति स्वयं प्रस्तुत है। प्रियङ्गुलता, उसकी मञ्जरी और उसकी कलिकाएँ सभी तो श्यामल होती हैं। "श्यामा कुवलयदलश्यामवर्णा। × × × श्यामा यौवनमध्यस्थेत्यर्थोऽत्र न वक्तव्यः, वर्णस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्। 'बाला' इति चानन्तरमेवावस्थाया वक्ष्यमाणत्वात्।" कालिदास जैसे मानवतावादी महाकवि की दृष्टि यदि श्यामा के सौन्दर्य की प्रशस्ति करती है तो सर्वथा उचित ही है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार भी यक्षाङ्गना का श्लेष्मप्रकृतिक तथा श्यामा होना सर्वथा समीचीन है।

"श्यामा कफप्रकृतिका वडवा मृगी वा गन्धर्वयक्षसुरकिन्नरसात्त्विका या।
बालाऽथवाऽभिनवयौवनभूषिताङ्गी सा भामिनी भवमुदां परमं रहस्यम्॥"

जिस श्लेष्मप्रकृति युवतिजन की आयुर्वेद में प्रशंसा है उसका स्वरूप भी श्यामा माना गया है—

"स्निग्धनखदशननयना निरनुशया मानिनी स्थिरस्नेहा।
सुस्पर्शशिशिरमांसलवराङ्गविवराऽङ्गना श्यामा॥"

(३) **शिखरदशना**—मल्लिनाथ ने 'शिखरिदशना' पाठ माना है और 'शिखरिन्' का अर्थ 'कोटिमान्'। 'शिखर' का अर्थ 'विश्वप्रकाश' के अनुसार 'कोटि' भी होता है—"शिखरं शैल-वृक्षाग्र-कक्षा-पुलक-कोटिषु।" सामुद्रिक का कथन भी नुकीले दाँतों के पक्ष में है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"स्निग्धाः समानरूपाः सुपङ्क्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः।
दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत् सर्वम्॥
ताम्बूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासः समोदयाः।
दन्ताः शिखरिणो यस्या दीर्घं जीवति तत्प्रियः॥"

सारोद्धारिणीकार ने 'अशिखरिदशना' पाठ मान कर 'अविषमदशना' यानी 'मिले हुए बराबर-बराबर दाँतोंवाली' अर्थ किया है। परन्तु ये दोनों ही पाठ असमीचीन हैं। प्राचीनतम पाठ वल्लभदेव का है और उन्होंने 'शिखरदशना' ही दिया है। दूसरे इसके बड़े ही सुन्दर और साहित्यिक अर्थ निकलते हैं। भरतमल्लिक ने उन अर्थों को प्रस्तुत किया है। 'शिखर' शब्द 'कुन्दकुड्मल' के अर्थ में बलकोश के आधार पर आता है। कुन्दकुड्मल से दाँतों की तुलना प्रायशः प्रस्तुत की जाती है। दूसरा अर्थ 'अत्यन्त तीक्ष्णनोकवाले' का है। साथ ही पराशरसंहिता में इस प्रकार के दाँतों की प्रशंसा भी की गयी है। 'विश्वप्रकाश' के अनुसार पके हुए अनार के दानों के तुल्य माणिक्य के टुकड़ों को 'शिखर' कहते हैं। 'अनेकार्थकोश' में भी यह अर्थ दिया हुआ है। यह तीसरा अर्थ और भी अधिक हृदयग्राही है। पूर्णसरस्वती ने हलायुधकोश को उद्धृत करके इसी तीसरे अर्थ की पुष्टि की है और 'शिखरदशना' पाठ माना है—"शिखरदशना। 'पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः।' इति हलायुधः। शिखराख्यमाणिक्यविशेषवत् स्निग्धधवलारुणदन्तीत्यर्थः। 'श्लक्ष्णैः स्निग्धैः सितैर्दन्तैः शोभनत्वं च गच्छति'—इति सामुद्रोक्तेः।"

(४) **पक्वबिम्बाफलोष्ठी**—'बिम्बायाः फलम् बिम्बाफलम्। पक्वं च तद् बिम्बाफलञ्च पक्वबिम्बाफलम्। पक्वबिम्बाफले इव ओष्ठौ यस्याः सा पक्वबिम्बाफलोष्ठी।' "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" इति (वार्त्तिकात्) "नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च" (४. १. ६५) इत्यतश्च सिद्धम्।

अमरकोश में इसके पर्याय हैं "तुण्डिकेरी रक्तफला बिम्बिका पीलुपर्ण्यपि।" कुछ लोग बिम्बा का अर्थ करौंदा बताते हैं पर वह गलत है क्योंकि करौंदे के फल लाल ही नहीं अपितु हरे और मिश्रित भी होते हैं। यह शब्द मेरे विचार से 'चेरी' के लिये आता है वह आरम्भ से ही 'रक्तफला' तथा 'पीलुपर्णी' भी होती है। (तुण्डि) 'केरी' और 'चेरी' का शब्दसाम्य भी पर्याप्त है। पाश्चात्यकवियों ने भी 'चेरीलिप्स' (Cherrylips) का रमणीय वर्णन किया है। इसकी महिमा सामुद्रिक में भी है—"ओष्ठौ च निर्व्रणौ स्निग्धौ नातिस्थूलौ न रोमशौ। रक्तौ बिम्बफलाकारौ धनपुत्रसुखप्रदौ।" मल्लिनाथ ने "पक्वबिम्बाधरोष्ठी" पाठ माना है और उसमें वामन के अनुसार मध्यमपदलोपी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समास। पर तब उत्तरोष्ठ का क्या होगा? यह प्राचीनतर पाठ होने सें भी ग्राह्य नहीं है।

(५) **मध्येक्षामा**—यह एक पद है और यहाँ 'अलुक्समास' है। इसका विग्रह है—'मध्ये क्षामोऽस्याः इति मध्येक्षामा।' यहाँ पाणिनि का सूत्र, जो लगता है, यह है—"अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे (६।३।१२)"। दक्षिणावर्तनाथ ने लिखा है—"मध्येक्षामा, "अमूर्धमस्तकाद्"-इत्यलुक्।" यही अलुक्समास पूर्णसरस्वती ने भी माना है। मध्य की क्षामता अपने उपहसनीय छोर पर श्रीहर्ष की कल्पनाओं में पहुँच गई जहाँ उसने "सदसत्संशयगोचरोदरी" और "ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये" जैसी उद्भावनाओं को जन्म दिया।

(६) **चकितहरिणीप्रेक्षणा**—'चकिता च सा हरिणी च चकितहरिणी। तस्याः प्रेक्षणे इव प्रेक्षणे यस्याः सा चकितहरिणीप्रेक्षणा—"सप्तम्युपमानपूर्व पदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः"।' 'चकित' का अर्थ है डरी हुई—"दरितश्चकितो भीतस्त्रस्तो भीरुश्च कातरः क्षुभितः शङ्कितश्चेति"—हलायुधकोश। 'प्रेक्षण' का अर्थ है 'उत्कृष्ट नेत्र'। 'प्रेक्षणम्' पद "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" इस वार्त्तिक से निष्पन्न होनेवाला तत्पुरुष है (प्रकृष्टमीक्षणम्)। 'ईक्षण' से दर्शन और नेत्र दोनों ही अर्थ निष्पन्न होते हैं—"ईक्षणं दर्शने दृशि"—मेदिनीकोश। डरी हुई या अकचकाई हुई हिरणी की आँखें भयहेतु की जिज्ञासा से और भी विस्फारित हो उठती हैं। किसी विशाललोचना के नयनों की सुदीर्घता द्योतित करने का इससे अधिक अच्छा उपमान और क्या हो सकता है? साथ ही नन्दीश्वर के अनुसार 'पद्मिनी' का लक्षण भी तो यही है:—

"कमलमुकुलमृद्वी फुल्लराजीवगन्धः सुरतपयसि यस्याः सौरभं दिव्यमङ्गं।
चकितमृगदृगाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे स्तनयुगलमनर्घं श्रीफलश्रीविडम्बि॥
तिलकुसुमसमानां बिभ्रती नासिकाञ्च द्विजगुरुसुरपूजाः श्रद्दधाना सदैव।
कुवलयदलकान्तिः काऽपि चाम्पेयगौरी विकचकमलकोशाकारकामातपत्रा॥
व्रजति मृदु सलीलं राजहंसीव तन्वी त्रिवलिवलितमध्या हंसवाणी सुवेषा।
मृदु शुचि लघु भुङ्क्ते मानिनी गाढलज्जा धवलकुसुमवासोवल्लभा **पद्मिनी** स्यात्॥"

—रतिरहस्य

यहाँ पर हम 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' में 'चकितमृगदृगाभे नेत्रे' का तत्त्व 'श्यामा' में 'कुवलयदलकान्तिः' का रहस्य और 'श्रोणीभारादलसगमना' में 'व्रजति मृदु सलीलं राजहंसीव' का भाव तथा 'तन्वी' में 'तन्वी' का अनुबिम्ब प्राप्त करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तिम बात इस सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि चकितत्व उपमानपक्ष में ही प्राप्त होनेवाला धर्म नहीं है प्रत्युत उपमेयपक्ष में भी उपलब्ध होता है। यौवन में नायिका के सत्त्वज २८ अलङ्कार माने गये हैं। 'चकित' उनमें से एक है। विश्वनाथ के अनुसार—"कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः।" उदाहरणार्थ 'शिशुपाल-वध' का यह श्लोक देखें—

"त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।
क्षुभ्यन्ति प्रततमहो विनाऽपि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः॥"

(७) **निम्ननाभिः**—'निम्ना नाभिर्यस्याः सा निम्ननाभिः।' नाभि की गम्भीरता को सुन्दरता एवं कामातिरेक का द्योतक माना जाता था। मल्लिनाथ ने कामसूत्र का अभिप्राय इसमें देखा है जहाँ पर कि "नारीणां नाभिगाम्भीर्यान्मदनातिरेकः" लिखा है।

(८) **सृष्टिराद्येव धातुः**—ऐसा देखा जाता है कि शिल्पियों को प्रथम निर्माण के समय सामग्री की प्रचुरता होने के कारण एवं अपने कौशल का विज्ञापन करने का सुअवसर होने के कारण, प्रयत्नातिशय तथा शिल्पनिर्माणनिपुणता प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त हुआ करती है अतः सर्वातिशायिनी कामनीयक निर्मिति को व्यक्त करने के लिये कालिदास के यक्ष ने यह भाषा अपनायी है। पूर्ण सरस्वती का कहना है कि ब्रह्मा को स्त्रीरत्न परम्परा की सृष्टि के लिये एक आदर्श (model) की जरूरत पड़नी एकदम स्वाभाविक है; अतः 'आद्यासृष्टि' अर्थात् उपमानभूत योषित्प्रति—यातना वह कवि की यक्षाङ्गना है—"आद्या प्रथमा, प्रथममतियत्नादनल्पशिल्प—कल्पिता प्रतिक्षण-प्रत्यवेक्षणीया पश्चात् सिसृक्षितानां युवतीनां संस्थान सौन्दर्यस्य उपमानभूता योषित्प्रतियातनेत्यर्थः।" तुलनार्थ एक संस्कृत कवि की यह रचना लें—

"ननाभि नितम्बखिन्नमव्यादधरे शोणमचाक्षुषं विलग्ने।
स्तनशालि वपुस्तवाम्ब धातुर्महिलासृष्टिषु मातृकायमाणम्॥"

(९) **परिमितकथाम्**—'परिमिता कथा यस्याः सा परिमितकथा; ताम्।' 'कथा' शब्द "चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चिश्च (३.३.१०५)" इस सूत्र से '√कथ वाक्यप्रबन्धे' धातु से 'अङ' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। इस प्रकार कथा से 'वार्ता' या 'वाक्यावलि' रूप अर्थ प्रकाशित होता है। इसी 'वार्ता' के अर्थ में कालिदास ने 'रघुवंश' (८.४३) में भी इस शब्द का प्रयोग किया है—"अभि-तप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।" प्रोषितपतिका के लिये शास्त्रीय विधान है हास्य-समाजादि छोड़ देने का—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥"—याज्ञवल्क्यस्मृति।

इसी से यक्षाङ्गना भी मितभाषिणी हो उठी है। अन्य अर्थ अमङ्गलस्वरूप होने से सर्वथा त्याज्य है।

(१०) **जीवितं मे द्वितीयम्**—इस पदावली की व्यञ्जनाएँ पूर्णसरस्वती ने बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त की हैं।—"जीवितमित्यनेन तस्याः अपाये स्वस्यापि शरीरस्य सुलभापायत्वं द्योत्यते प्राणापाये शरीरपतनस्य प्रसिद्धत्वात्। मे इति-यद्वि-रहेण ईदृशी दशा येन मया समनुभूयते तस्य मे इति न केवलमुपचारवचनमिदम्। अपितु कार्यतो भवता दृष्टमेवेत्यर्थः। द्वितीयमिति—एतच्छरीरवर्तिप्राणव्यति-रिक्तम्। एतेन लोकलोचनग्राह्यं शरीरभेदमात्रमेव न तु-आन्तरजीवितभेदशङ्का-ऽपीति ध्वन्यते।"

(११) **गाढोत्कण्ठाम्**—'गाढा उत्कण्ठा यस्याः सा गाढोत्कण्ठा, ताम्।' उत्कण्ठा का लक्षण है—

"रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या।
संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः"॥

(१२) **शिशिरमथिताम्**—इस कल्पना को कवि ने वाल्मीकि की इन पङ्क्तियों से ग्रहण किया है—

"हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना।
सहचररहितेन चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशाम्प्रपन्ना॥"
—वाल्मीकीयरामायण (सु०-१६-३०)।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं बहूनां[1]
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरौष्ठम्।[2]
हस्तन्यस्तं[3] मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुप[4]सरणक्लिष्ट[5]कान्तेर्बिभर्ति॥१८॥

पञ्चिका

तस्या वक्त्रं निश्चितं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेर्भवत्सम्पर्ककदर्थितशोभस्य शशिनो दैन्यं बिभर्ति विच्छायतां धत्ते। यतोऽसकलव्यक्ति न तथा प्रकटम्। कुतः?

---

१. "नेत्रं प्रियायाः"—इति पा०। २. "वर्णाधरोष्ठम्"—इति पा०। ३. "हस्ते न्यस्तम्" इति पा०। ४. "त्वदुपगमनात्"—इति, "त्वदनुसरण—" इति, "त्वदुपगमन—" इति च पाठान्तराणि। ५. "क्षीणकान्ते" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लम्बालकत्वात्। न हि विरहिणी केशान् सम्मार्जयति। कीदृशं तत्? प्रबलेनाविच्छिन्नेन रुदितेन उच्छूने नेत्रे यस्य। तथा श्वासपरम्पराया उष्णत्वाद् भिन्नवर्णो नष्टकान्तिरधरो यस्य। हस्तन्यस्तं करविधृतम् ॥८१॥

सुबोधा

पूर्वसंस्थानमुक्त्वा चिह्नान्तरं प्रतिपादयन् अन्यरूपत्वमाह—नूनम्। तस्याः प्रियायाः ईदृशं मुखं लम्बालकत्वात् स्रस्तचूर्णकुन्तलत्वात् लम्बालकैराच्छादितत्वात्, असकलव्यक्ति सत् अपगतसमस्ताभिव्यक्तीभावं सत्, तव अनुसरणेन उपगमनेन, क्लिष्टा ध्वस्ता अदृश्या कान्तिः शोभा यस्य, तादृशस्य इन्दोश्चन्द्रस्य, दैन्यं शोच्यावस्थत्वं बिभर्ति धारयति, इति नूनं शङ्के। कीदृशम्? प्रबलरुदितेन अतिक्रन्दनेन, उच्छूने उत्क्लिन्ने उद्गतश्वयथुनी, नेत्रे चक्षुषी यत्र तादृशम्, तथा निःश्वासानां श्वासवातानाम्, अशिशिरतया दुःखावेगोद्भूतत्वेन उष्णतया भिन्नवर्णं प्राप्तवर्णान्तरं त्यक्तलौहित्यम्, अधरौष्ठं यत्र तादृशम्। हस्ते पाणौ न्यस्तं समर्पितम् प्रियाया इति स्नेहाविष्कृतिः। लम्बन्ते इति लम्बाः, पचादित्वादच्। लम्बा अलका यत्र तत्तथा, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। लम्बालकत्वम् एवम्भूतचन्द्रानुकारित्वञ्च विरहिणीधर्मः। यदाऽह भरतः—

"मलिनाम्बरसंवीता मलिनालुलितालका।
चन्द्रमूर्तिरिवाकीर्णा श्यामलाभ्रलवेन सा॥" इति।

विरहिणीदैन्यमाह स एव—

"दैन्यं विरहदौर्गत्यं मनस्तापादिना भवेत्।
निर्दिशेत्तदचेष्टाद्यैर्गात्रसंस्कारवर्जनैः॥" इति।

दीनदशायामपि चन्द्रोपमया अत्यन्तस्पृहणीयता सूचिता। उत्प्रेक्षोपमयोः संसृष्टिरलङ्कारः॥

अन्वय

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं बहूनां निःश्वासानाम् अशिशिरतया भिन्नवर्णाधरौष्ठं हस्तन्यस्तं लम्बालकत्वाद् असकलव्यक्ति मुखं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेः इन्दोः दैन्यं बिभर्त्ति।

हिन्दीरूपान्तर

सम्भव है कि ज़ोर से रोते रहने से सूज आये हुए नेत्रोंवाला, अनेकशः लम्बी साँसों के गर्म होने के नाते विवर्ण हो उठे हुए नीचे और ऊपर के होठोंवाला, हथेली पर रखा हुआ, लम्बी लम्बी लटों के कारण पूरा न दिखायी देनेवाला, उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुख तुम्हारे पास आ जाने से फीकी कान्तिवाले चन्द्रमा की दीनता को धारण करने लगे।

टिप्पणियाँ

(१) **नूनम्**—यहाँ पर यह पद सम्भावनावाचक होकर आया है—"नूनं तर्केऽर्थनिश्चये" (अमरकोश)। मल्लिनाथ का यही मत है—"नूनमिति वितर्के।" परन्तु उनकी टीका को स्पष्ट करने वाले संसारचन्द्रजी इसे नहीं मानते और निश्चय अर्थ लेते हैं। लिखते हैं--"यह पक्का निश्चय है" और "नूनम् =निश्चय से"। साथ ही वे कोई हेतु भी मल्लिनाथ से विमति होने का नहीं देते। पता नहीं ऐसी व्याख्या-पद्धति से क्या छात्रों का कल्याण वे कर पायेंगे। विद्वज्जन की तो कोई हानि होने का प्रश्न ही नहीं। क्योंकि वे पढ़ने का गगनकुसुमवत् अवकाश पाकर 'जाने दो' वाली भावना से काम करते हैं। वैसे निश्चयपरक अर्थ वल्लभदेव और पूर्णसरस्वती लेते हैं। परन्तु उस अर्थ में साहित्यिक विच्छित्ति का उतना सद्भाव नहीं है और साथ ही यक्ष अपनी अदृष्ट प्रेयसी की स्थितियों की सम्भावना करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। दक्षिणावर्तनाथ और भरतमल्लिक भी वितर्क या सम्भावना के पक्ष के ही हैं। साथ ही "नूनम्" उत्प्रेक्षा का वाचक होने से 'उच्छूननेत्रता', 'भिन्न-वर्णाधरौष्ठता' 'एवं इन्दुदैन्यधारण' की अध्यवसितियों को साध्यदशा का बनाकर अत्यधिक कामनीयक प्रस्तुत कर देता है।

(२) **प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्**—'प्रबलञ्च तद् रुदितञ्च प्रबलरुदितम्। तेन उच्छूने नेत्रे यत्र तत् प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्।' 'उच्छून' शब्द की व्युत्पत्ति √टुओश्वि धातु में (कर्तरि) 'क्त' प्रत्यय लगाने पर "ओदितश्च" (८.२.४५) से 'क्त' का 'न' हो जाता है, "वचि-स्वपि-यजादीनां किति" (६.१.१५) से 'श्वि' के 'व' का 'उ' (सम्प्रसारण) हो जाता है, "सम्प्रसारणाच्च" (६ १-१०८) से 'शु + इ' के 'उ + इ' का 'उ' ही रह जाता है, और "हल:" (६-४-२) से 'शु' के 'उ' का 'ऊ' हो जाता है; इस प्रकार 'शून' निष्पन्न हो जाता है। 'उद् + शून' में "शश्छोऽटि" (८-४-६३) और "स्तोः श्चुना श्चुः" (८-४-४०) लगने पर 'उच्छून' बन जाता है। √टुओश्वि-धातु गति और वृद्धि के अर्थ में आती है। फूलने-सूजने से यहाँ पर आशय है। फूट-फूट कर रोते रहने के कारण आँखें लाल हो उठती हैं और सूज आती हैं। इसी की उस प्रोषितपतिका पतिप्राणा यक्षाङ्गना पर अध्य-वसिति है। 'नूनम्' के कारण उसकी साध्यावस्था है।

(३) **भिन्नवर्णाधरोष्ठम्**—'भिन्नो वर्णो यस्य तद् भिन्नवर्णम्। अधरश्च ओष्ठश्चेत्यनयोः समाहारः अधरौष्ठम् ("ओत्वोष्ठयोः समासे वा")।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिन्नवर्णम् अधरौष्ठं यस्मिन् तद् भिन्नवर्णाधरौष्ठम्।' मल्लिनाथ और पूर्णसरस्वती ने नीचे और ऊपर के होठों का समाहार न मान कर केवल नीचे के ही होठ की विवर्णता मानी है। उनका विग्रह है—"भिन्नो वर्णो यस्य स भिन्नवर्णः। अधरश्चासौ ओष्ठश्च अधरोष्ठः ("ओत्वोष्ठयोः समासे वा")। भिन्नवर्णः अधरोष्ठो यस्मिन् तद् भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।" परन्तु गरम-गरम निःश्वासों के कारण दोनों ही होठों का विवर्ण या कान्तिहीन होना स्वाभाविक है। केवल अधर का ही विच्छाय होना अस्वाभाविक और कविकल्पना के परे की बात है। फिर 'अधर' मात्र से उसका बोध हो जाने के कारण 'ओष्ठ' जोड़ना अधिकपदत्व का ही आधायक माना जायगा। आशय कवि का यह है कि होठों की स्वाभाविक एवं स्निग्ध अरुणिमा दूर हो गयी होगी और गरम-गरम लम्बी साँसों ने उन्हें सुखा कर धूसर कर दिया होगा।

(४) **हस्तन्यस्तम्**—'हस्ते न्यस्तम्, हस्तन्यस्तम्।' कवि ने बायाँ या दाहिने का वाचक शब्द इसलिए नहीं डाला कि विरहिणी सुविधानुसार कभी इस हाथ की हथेली पर मुख को रख देती है कभी उस पर। शाकुन्तल में उत्प्रेक्षा का तत्त्व न होने से सत्य का व्यञ्जन यों किया गया है—"वामहस्तोपहितवदना।" मल्लिनाथ का कथन समीचीन है कि यह विरहव्यथाजन्य चिन्ता का व्यञ्जक है—"एतेन चिन्ता व्यज्यते।" यहाँ पर कवि ने 'चिन्ता' व्यभिचारिभाव के अनुभाव को प्रस्तुत करके उसकी सुमधुर व्यञ्जना करायी है। तुलनार्थ एक दूसरी सुमधुर चिन्ताव्यञ्जक अनुभावों से परिपूर्ण रचना को लें—

"अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापकेलीपरिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव स्मरनरपतिलीला यौवराज्याभिषेकम्॥"

(५) **असकलव्यक्ति**—'न सकला, असकला (नञ्) असकला व्यक्तिर्यस्य तद्।' वि +√अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु + (भावे) क्तिन् = व्यक्तिः। अतः व्यक्ति के चार अर्थ हो सकते हैं—प्रकाशन, संघात, कान्ति और गति। यहाँ 'सारा का सारा न प्रकाशित होनेवाला' या 'अपूर्णकान्तिवाला' ये अर्थ लिये जा सकते हैं। 'लम्बालकत्व' के हेतु होने के नाते पहला अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(६) **दैन्यम्**—चन्द्रमा का 'दैन्य' उसका दुर्गत या भीत होना। दीन के भाव को दैन्य कहते हैं—दीनस्य भावः (दीन+ष्यञ्) दैन्यम्। 'दीन' के कई अर्थ होते हैं—"दीना मूषकयोषायां दुर्गते कातरेऽन्यवत्"—विश्वप्रकाश। विरहिणी के पक्ष में भी दौर्गत्य के अर्थ में यह दैन्य-शब्द आया है। इस दैन्य को भरतमल्लिक ने आचार्य भरत के अनुसार स्पष्ट किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) **त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेः**—'तव उपसरणन्त्वदुपसरणम्। तेन क्लिष्टा कान्तिर्यस्य तस्य।' यहाँ 'युष्मत्' से सामने उपस्थित सलिलभरसम्भृत मेघ का परामर्श करके कवि ने अलक के प्रतिबिम्बकल्प घनी कालिमा के नूतन मेघों के समवाय को व्यक्त किया है। साथ ही उत्प्रेक्षा और निदर्शना के अङ्गाङ्गिभावसङ्कर अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। कवि को प्रेरणा वाल्मीकि की निम्न कल्पना से मिली लगती है—

"वाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्णवक्त्राक्षिपक्ष्मणा। वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्ती पुनः पुनः।।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता।" (रामायण—सु० का १५–३६)

आलोके तु निपतति पुरा[१] सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु[२] वा भावगम्यं[३] लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां[४] शारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः[५] स्मरसि निभृते[६] त्वं हि तस्य प्रियेति।।१९।।

पञ्चिका

मत्प्रियैवंविधा तवालोके दर्शनपथे पुरा निपतत्यचिराद्यास्यते एवं विधान् व्यापारान् कुर्वतीं तां द्रक्ष्यसीत्यर्थः। कीदृशी ? बलिव्याकुला देवपूजातत्परा। मम सादृश्यमनुकारं विरहवशात्तनु दुर्बलं भावगम्यं चित्तस्थितं लिखन्ती वा मञ्जुवादिनीं शारिकां पञ्जरस्थां पृच्छन्ती वा। किमित्याह—हे निभृते विनीते कच्चिद् भर्तुः स्मरसि मत्पतिं ध्यायसि। यस्मात्त्वं तस्यातीवप्रिया। पुरा निपततीति यावत् पुरानिपातयोर्लट्।।८२।।

सुबोधा

इदानीं श्लोकत्रयेण सम्भाव्यमानचेष्टाविशेषं चिह्नमाह—आलोके। ईदृशी— ईदृशी वा भूत्वा स्थिता सा मम प्रिया ते तव आलोके दर्शने सति पुरा निपतति;

---

१. "पुरे" इति पा०। २. "विरहतनुताभाव—" इति पा० ३. "भाव्यगम्यम्" इति, "भावगर्भम्" इति च पाठान्तरे। ४. "मधुरवचनम्" इति पा०। ५. "भर्तुः कच्चित्" इति पा०। ६. "रसिके" इति, "गिरिके" इति, "सुभगे" इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्वामालोक्य मूर्च्छिता सती भूमौ गात्रं पातयिष्यतीत्यर्थः। केचित्तु पुर इति पठित्वा अग्रतो निपतति, वर्तमानं बुद्धौ निधाय लट् प्रयुक्त इति व्याचक्षते। ननु मेघ-दर्शनात्तस्या मूर्च्छा मा भूदित्येतदर्थं मत्वा सद्यः कलभतनुतामित्याद्युक्तम् तत्कथं निपततीति? मूर्च्छया न निपतिष्यति। किन्तु वर्षाकाले प्रियवियुक्तया मया कथं स्थातव्यमिति परितापात्। अथवैवं व्याख्येयम्, तवालोके उन्मेषदृष्टौ सा निप-तिष्यति त्वद्गोचरो भविष्यति सा त्वया द्रक्ष्यते इत्यर्थः। अन्ये तु आलोके ते त्वदीयच्छायामण्डले निपतति सति सङ्क्रामति सति सा बलिव्याकुला अर्घ्यपूजो-पहारपरा भवेत्। ननु मत्स्वामिनो मित्रमसौ मेघ इत्यजानतीयं कथमभ्युत्थानं कुर्यात्? उच्यते, अज्ञातेऽपि बान्धवे मनःप्रह्लादोदयादेवं कृतवती, यदाह भारविः— "अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लाद्यते मनः" इति व्याचक्षते। केचित्तु तवालोके विद्योतरूपे पुरोऽग्रतो निपतति सति, सा मम प्रिया बलिव्याकुला स्यात्। बलिः पूजा तदर्थं व्याकुला व्यासक्ता, मत्प्रियः कुशलीभूयात् निर्विघ्नं तदागमनमस्तु इत्यादिनिमित्तम् इष्टदेवताराधनतत्परेति यावत्। बलिर्देवतापूजोपहारस्तदर्थं व्याकुला वा स्यादिति कश्चिदित्याहुः। यादृशी सा मेघेन द्रष्टव्या तादृशी "बलि-व्याकुले"—त्यादिना "संयोगं वाऽसादयन्ती"—ति पर्यन्तेन वाच्या। बलिव्याकु-लेति बलिः काकबलिः, तत्र व्याकुला तद्दानतत्परा, प्रोषितभर्तृकादयो हि काकाय बलिं ददति। तथा च भणितम्—"काकस्यास्य विवेकशून्यमनसो मा देहि मुग्धे बलिम्" इति। किंवा पतिमङ्गलार्थं दुर्गाद्यभीष्टदेवतापूजोपहारो बलिः। उक्तञ्च विन्ध्यवासिना "पतिप्रत्यागमाशंसा गृहे दैवतमर्चयेद्" इति। मत्सादृश्यं मम प्रति-कृतिं लिखन्ती वा ममाकारं चित्रितं कुर्वती वेत्यर्थः। मत्सादृश्यं कीदृशम्? विरहेण या तनुता कृशता सा भावगम्या अभिप्रायबोध्या यत्र तादृशम्, अग्न्या-हितादित्वाद् विशेषणस्य परनिपातः। किंवा, विरहे ईदृशी वल्लभस्य तनुता भूता, विरहकातराया मम यादृशी तनुता तादृशी वल्लभस्य भूतेत्येवं भावो हृदयं तेन गम्यं परिच्छेद्यम् अदृष्टमपि बुद्ध्यध्यवसायेन लिखन्ती। कौमुदीकारस्तु भावो ह्यासनाद्यनवधानम्; यदुक्तम्—

"आसने शयने वापि न तुष्यति न तिष्ठति।
नित्यमेवोपतप्तः स्यादुद्वेगाद्विरही जनः॥" इति।

आत्मनस्तनुत्वाद्यनवधानेन गम्यमित्याह। केचित्तु विरहतनुसद्भावेति पठन्ति। केचित्तु विरहतनु तं भावगम्यमिति पठित्वा विच्छेदकृशं कथमिदं प्रतीतमित्या-शङ्क्याह, भावगम्यम् अभिप्रायवेद्यम्, आत्मनस्तनुतया अनुमानज्ञेयमिति व्याच-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षते। हे निभृते विनीते, दक्षे वा, परिपोषिते वा, कच्चिद् इच्छया परिपृच्छामि, त्वं भर्तुः स्वामिनः पोष्टुः स्मरसि? इति सारिकां पक्षिविशेषं पृच्छन्ती वा। भर्तुरिति कर्मणि षष्ठी। सारिकां कीदृशीम्? मधुरवचनां मनोहरालापाम्। अत्रेदमाकूतम्, मधुरैर्वचनैर्भर्तारं वर्णयन्ती वाक्पीयूषवर्णैर्मम कर्णकुहरं पूरयेति। तथा पञ्जरस्थां पञ्जरः पक्षिरक्षणाधारः 'पिँजिरा' इति 'खाँचा' इति च ख्यातः तत्र तिष्ठतीति कः। एतेन पाठिता वक्तुं पटुरिति सूचितम्। किमिति मयासौ स्मर्तव्य इत्याह, हि यस्मात् त्वं तस्य मत्प्रियस्य प्रिया प्रीतिकारिणी अभिलषणीया। यो यस्य प्रियो भवति स तेनावश्यं स्मर्यते इत्येतदुक्तम्। केचित्तु हे निभृते निःशब्दे तूष्णीम्भूते, भर्तारं स्मरसि ध्यायसि, कथमन्यथा तूष्णीम्भूय तिष्ठसीति भाव इत्याहुः। केचित्तु 'निभृते तूष्णीम्भूते एतत्सम्बोधनेन किमिति पोष्टारं नामग्राहं नाह्वयसि "नाम प्रियस्य संश्रुत्य उल्लासो जायते महान्" इति तत् स्मरसि। नामगुणोरशरणं कुरुष्वेत्यर्थ, इत्याहुः। निभृतेति शारिकानाम, तत्सम्बोधनमिति केचित्। केचित्तु, निभृते विजनदेशे रतस्थाने त्वं तस्य प्रिया प्रीतिविषयः। अयमाशयः, तत्र तदा मया त्वया च व्यक्तसर्वाङ्गः प्रेयान् दृष्टः, अतएव तत्सादृश्यं सम्यक् लिखितं नवेति त्वां पृच्छामि, इतीत्याहुः। "आलोकौ दर्शनोद्द्योतौ" इत्यमरः। निपततीति पुरायोगे भविष्यति। "बलिः पूजोपहारे स्यात् करचामरदण्डयोः" इति धरणिः। सा बलिव्याकुला वेति वा शब्दोऽस्ति एवं पृच्छन्तीत्यादिविनोदप्रकारेषु वाशब्दोऽस्ति, मत्सादृश्यं विरहतनुताभावगम्यं लिखन्तीत्यत्र वा-शब्दोनास्ति इति क्रमभङ्गो नाशङ्कनीयः, तथा हि बलिव्याकुलेति प्रथमः पक्षः, अत्र वा शब्दस्य नावश्यकत्वम्, मत्सादृश्यमित्यादीनि पक्षान्तराणि, एष्वेव वा शब्दोऽवश्यं कर्तव्यः, अतएव सा बलिव्याकुला ते आलोके निपतति मत्सादृश्यं लिखन्ती वा निपतति इति योज्यम्, किं वा बलिव्याकुलेत्यस्य मत्सादृश्यमित्यस्य च मध्ये वाशब्दो द्वाभ्यां सम्बन्धनीयः। सा बलिव्याकुला मत्सादृश्यं वेति केचित् पठन्ति। आलेख्यादिकञ्च दुःखार्तस्यासक्तिहेतुः।

यदुक्तम्—

"आलेख्यञ्च कवित्वञ्च पुत्रस्य च शिशोर्गिरः।
प्रायो दुःखाभिभूतस्य तिस्रो विश्रामहतवः।।" इति।

पुत्रस्य शिशोरिति स्नेहपात्रोपलक्षणात् शारिका ग्राह्या।

"भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टाऽत्मजन्मसु।
क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबुधजन्मसु।।" इति मेदिनिः।।

"कच्चित् कामप्रवेदने" इत्यमरः। स्वभावोक्तिरियम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्वय

सा बलिव्याकुला वा, विरहतनु भावगम्यं मत्सादृश्यं लिखन्ती वा, 'रसिके! कच्चिद् भर्तुः स्मरसि (यतः) हि त्वं तस्य प्रिया'-इति पञ्जरस्थां मधुरवचनां सारिकां पृच्छन्ती वा (सती) ते आलोके पुरा निपतति।

हिन्दीरूपान्तर

वह या तो पूजानिरत, या विरह से दुर्बल हो गये हुए मेरे स्वमनोभावबोध्य चित्र की रचना करती हुई, या पिंजड़े में स्थित मिठबोली मैना से, "ऐ रसीली! अरे कभी तुझे भी स्वामी की याद आती है क्योंकि तू तो उनकी बड़ी दुलारी थी"— ऐसा पूछती हुई, ही निकट भविष्य में तुम्हारे दृष्टिपथ में आयेगी।

टिप्पणियाँ

(१) **बलिव्याकुला**—'बलिषु व्याकुला बलिव्याकुला।' 'बलि' शब्द कई अर्थों में आता है यहाँ देवोपहार के अर्थ में प्रयुक्त है—"बलिर्दैत्योपहारयोः। करे चामरदण्डे च गृहदारुशरांशयोः। त्वक्सङ्कोचे गन्धके च।" पञ्चमहायज्ञों में 'बलि' भी एक है। 'अमरकोश' के अनुसार पञ्चमहायज्ञ हैं—(१) पाठ (२) होम (३) अतिथिसपर्या (४) तर्पण और (५) बलि—"पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः। एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः॥" 'मनुस्मृति (३)' में ब्रह्मयज्ञ ('पाठ' अर्थात् अध्ययन-अध्यापन), पितृयज्ञ ('तर्पण'), दैवयज्ञ ('होम'), भौतयज्ञ ('बलि') और नृयज्ञ ('अतिथि-पूजन') को पञ्चमहायज्ञ कहा गया है। 'मनुस्मृति (३–७०)' में "बलिर्भौतो" लिखा है। आगे "प्रहुतो भौतिको बलिः" (३–७४) के द्वारा 'भौत' का अर्थ स्पष्ट किया गया है। "बलिहरण" में वह बत्तीस भूतों को उपायत की जाती है। पूर्व से आरम्भ करके ईशान तक गोलाई में १५ बलियाँ सूर्य, प्रजापति, सोमवनस्पति, अग्नीषोम, इन्द्राग्नि, द्यावापृथिवी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वेदेवाः, ब्रह्मन्, आपोदेवी, ओषधिवनस्पति, गृह, गृहदेवता और वास्तुदेवता को उपाहृत करके उस गोलाई के बाहर पूरब में इन्द्र व इन्द्रपुरुषों को, दक्खिन में यम व यमपुरुषों को, पच्छिम में वरुण व वरुणपुरुषों को और उत्तर में सोम और सोमपुरुषों को प्रदान करना चाहिए। फिर गोलाई के अन्दर उत्तर में ब्रह्मा को, पूर्व में ब्रह्मपुरुषों को, दक्षिण में विश्वेदेवों को और पश्चिम में दिवाचारी सर्वभूतों को उपाहृत करके गोलाई के बाहर राक्षसों को ईशान कोण में, पितृगण को अग्निकोण में, श्याम को नैर्ऋत्य कोण में, शबल को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वायव्य कोण में प्रदान करके अन्तिम बलि सनकादि मनुष्यों को रक्षोबलि और सोमबलि के बीच में गोलाई के बाहर अर्पित करनी चाहिए। इतनी भूतबलि उपाहृत करके कुत्तों, पतितों, श्वपचों, पापरोगियों, काकों और कृमियों को पृथ्वी पर रखकर बलि अर्पित करनी चाहिए। मनु के अनुसार सायं बलि का हरण पत्नी को करना चाहिए। अन्तर यह है कि उसे मन्त्रयुक्त बलि नहीं अर्पित करनी है—"सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्" (३-१२१)। पति के न रहने पर गृहिणी ही इसे करेगी। इसका फल मनु के अनुसार मोक्षप्राप्ति है—"एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिपथर्जुना।।" प्रोषितभर्तृकायें पति की उन्नतिकामना से काकादि को बलि एवं देवादि से मान-मनौतियाँ करती हैं। इस सबका मनोहर सन्निवेश कवि की इस रचना में है। तुलनार्थ 'आर्यासप्तशती' की यह रचना लें—

"णेच्छइ पासासङ्की काओ दिण्णं पि पहिअबहुआए।
ओअन्तकरअलोज्झिअवलअमज्झट्ठिअं पिण्डं।।"

(२) **मत्सादृश्यम्**—'सदृशस्य भावः (सदृश + ष्यञ्) सादृश्यम्। मम सादृश्यं मत्सादृश्यम्।''सादृश्य' से यहाँ 'आलेख्य' या चित्र का अर्थ लिया गया है। दक्षिणावर्तनाथ ने अजयकोश का उद्धरण दिया है—"आलेख्येऽपि च सादृश्यम्—" इत्यजयः। मल्लिनाथ की टीका के अधिकांश पाठों में "अक्षय्यकोशे—"आलेख्येऽपि च सादृश्यम्"—इत्यभिधानाच्च।" 'अक्षय्य' शब्द 'अजय' का ही अशुद्ध रूप लगता है। चरित्रवर्धन ने यादवकोश को भी उद्धृत करके इस अर्थ की पुष्टि की है—"आलेख्येऽपि च सादृश्यम्—इति यादवः।" पूर्णसरस्वती ने सादृश्य का अर्थ शरीरप्रतिकृति ली है— "मत्सादृश्यं मच्छरीरप्रतिच्छन्दम्।" यहाँ चित्र या आलेख्य से ही तात्पर्य है। आखिर यक्ष भी तो बैठा-बैठा यही किया करता है—"त्वमालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्" इत्यादि। यह नायक-नायिका के विरहविनोदों में से एक है। वे विरहविनोद हैं—

'वियोगे योगे वा प्रियतमसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि।
तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदितः।।"

(३) **भावगम्यम्**—भरतमल्लिक ने इसमें "वाहिताग्न्यादिषु" (२-२-३७) के अनुसार विशेषण का परनिपात माना है। वल्लभ के भाव अर्थात् सारे हृदय को अपनी बुद्धि से परिच्छेद्य मान कर वैसी ही गम्यभावा प्रतिकृति यक्षाङ्गना बना रही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगी। जैसी विरहकातर यक्षिणी स्वयं तनु हो चली है वसी ही क्षीण और दुर्बल आकृति अपने प्रियतम की भी वह अङ्कित कर रही होगी। कौमुदीकार ने बैठने-उठने के प्रति लापरवाही के अर्थ में 'भाव' शब्द को लिया है—"आसने शयने वाऽपि न तुष्यति न तिष्ठति। नित्यमेवोपतप्तः स्यादुद्वेगाद् विरही जनः"।। न तो विरही से बैठे रहा जाता है न उठे न लेटे; वह बराबर सन्तप्त होता रहता है। ऐसे उद्वेगगम्य सादृश्य को प्रस्तुत करने का आशय है। 'अपनी तनुता से अनुमानगम्य' यह भी अर्थ 'भावगम्य' का कुछ लोग लेते हैं। 'सम्भावना के कारण उत्प्रेक्ष्य' या अन्दाज़ा लगाये जाने योग्य सादृश्य मल्लिनाथ मानते हैं। पूर्णसरस्वती ने अधिक स्पष्ट लिखा है और वह सङ्गत भी लगता है—

"भावगम्यम् मनोवृत्तिज्ञेयम्, अस्या दशाया ईदृशं तदिति प्रेमवशाद् भावनया परिच्छेद्यमित्यर्थः।"

शारदातनय की भावपरिभाषा देखें और 'भाव' की परिभाषिकता का भी मूल्य आँकें—

"चित्तस्याविकृतेः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति। ततोऽल्पा विकृतिर्भावो बीजस्यादिविकारवत्॥ ततो मनोविकारस्य भावत्वं प्रकटीकृतम्। भावयन् बहिरन्तःस्थानर्थान् भाव उदाहृतः।"

नरसिंह ने स्पष्ट किया है—"अत्र चित्तशब्दो मनोवाची। न चान्तःकरण परिगणितचित्तवाची। निर्विकारस्य बीजस्यादिमो विकार उच्छूनावस्था, चित्तस्य प्रथमः परिस्पन्दो भावः।" भरत ने ज़रा नाट्य की परिधि के भीतर रख कर उसकी परिभाषा की थी। वैसे तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं—"वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च। कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।"

(४) **लिखन्ती**—यहां कवि ने 'चित्रित करती हुई,' यही लिखा है न कि "चित्रित करके देखती हुई।" इससे स्पष्ट यही होता है कि कवि को यक्षिणी और यक्ष की अवस्थाओं में कोई भी अन्तर अभीष्ट नहीं। कहा भी तो गया है—"अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तम्" इत्यादि। अस्तु, यक्षाङ्गना अपने प्रियतम का चित्र बनाने का प्रयासमात्र कर रही है, करती जा रही है; व्यापार-समाप्ति कवि को इष्ट नहीं है, क्योंकि वह सम्भव भी नहीं। उमड़ते आँसुओं से आँखें बन्द हो-होकर कार्य की प्रगति को बाधित कर देती हैं और मुए हाथ भी स्वेदादि सात्त्विक भावों के कारण चित्र अङ्कित करने में उपयोगहीन हो उठा करते हैं। पूर्णसरस्वती ने बहुत ही अच्छे ढंग से यह भाव स्पष्ट किया है—"लिखन्ती तूलिकया चित्रपटादिष्वाकारयितुं प्रयतमाना, न तु लिखित्वा पश्यन्ती। अनेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रवहदश्रुपटलपिहितनयनत्वेन साध्वससन्नस्विन्नकरकिसलयतया चाशक्यलेखनमपि औत्सुक्यवशात् पुनः पुनरारभमाणेति द्योत्यते।" यक्ष भी तो आख़िर ऐसी ही अनुभूति कर रहा है—"अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे"। यहाँ 'भावगम्यता' उभयपक्ष की बड़ी ही रमणीय एवं सटीक है। यक्ष अपनी प्रियतमा की 'भावगम्य' अवस्थाओं का वर्णन करने का प्रयास कर रहा है। यक्षिणी अपने प्रियतम का 'भावगम्य' विरहतनु-चित्र बनाने का प्रयास कर रही है। यही तो प्रियान्तर्गतभाव की भावना है जिसके कारण 'भाव' की 'भावता' है।

(५) **मधुरवचनाम्**—'मधुराणि वचनानि यस्याः सा मधुरवचना ताम्।' माधुर्यगुण से परिपूर्ण वचन को मधुर कहा जायगा। सहृदयहृदय को आर्द्र कर देने वाले द्रावकतत्त्व को माधुर्य कहते हैं। यह नित्य या अचलस्थिति धर्म करुण और श्रृंङ्गार का माना जाता है और विशेषतः विप्रलम्भश्रृंङ्गार का। ऐसी ही प्रोषितपतिका स्वयं है और उसकी सहेलिन, उसके प्रियतम की दुलारी मैना, भी निभृत है। रसिका ठहरी न! यक्षी से रहा नहीं जाता होगा; कुछ विरही मन को द्रावित कर देनेवाली बातें सुनने के लिये उसे छेड़ बैठती होगी। कहा भी है—"शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।"—(ध्वन्यालोक)। और साथ ही मम्मट ने लिखा भी है—"माधुर्यं द्रुतिकारणम्।" सारिका की माधुर्यपूर्ण शृङ्गारमयी वार्ताएँ निश्चय ही विरहिणी के लिये द्रुतिकारण बनेंगी। इसी से सारिका का मधुरवचना विशेषण सार्थक है। उसकी श्रवणसुभगता एवं प्रियतमानुक्षणस्मारकता के कारण उसकी मधुरवचनता पर प्रकाश, 'विद्युल्लता' में भी डाला गया है—"मधुरवचनां श्रवणसुभगसञ्जल्पितामित्यनेन प्रियतमावचनसहचरतया तद्वचसां तस्याः क्षणे क्षणे तदनुस्मारकत्वेन स्वपक्षपातभूमित्वं प्रकाश्यते"। पाठक जी ने अपने संस्करण में "मधुरवचनम्" पाठ स्वीकार करके उसे क्रिया विशेषण बनाकर सारी सरसता नष्ट कर दी है।

(६) **पञ्जरस्थाम्**—'पञ्जरे तिष्ठतीतिपञ्जरस्थः। अत्रोपपदतत्पुरुष समासः। "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्" (३–१–९२) "उपपदमतिङ" (२–२–१९) इत्याभ्यां समासः। इह स्त्रीत्वविवक्षायां "अजाद्यतष्टाप्" (४–१–४) इत्यतः, तत्र चातः कप्रत्ययसत्त्वात्।" यहाँ पर मैना पिञ्जड़े में बैठी हुई दिखायी गयी है। विशेषण से उसकी नितान्तनिभृतता एवं विरहावसन्नता द्योतित होती है। इसके निर्वेद-व्यभिचारी को पूर्णसरस्वती ने सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है—"अनेन निर्वेदात् तादृशरसेष्वनुद्योगो ध्वन्यते।"

(७) **कच्चित्**—यह शब्द दो अर्थों में आता है—"कच्चित् प्रश्ने सामवादे"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(वैजयन्ती)। यहाँ यह प्रश्नार्थक है। मल्लिनाथ ने इसे 'अमरकोश' के अनुसार "कामप्रवेदन" के अर्थ में माना है। कामप्रवेदन का अर्थ इष्टप्रश्न है अतः इसमें थोड़ी रमणीयता अधिक है।

(८) 'भर्तुः स्मरसि'---यहाँ पर "षष्ठी शेषे" (२–३–५०) से षष्ठी कर्म की सम्बन्धमात्र विवक्षा के कारण हुई है। और यह स्मरणार्थ की कर्मशेषता "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" (२–३–५२) से होती है। अतः यहाँ दोनों ही सूत्रों का उपयोग है। 'भर्तृ' शब्द से यहाँ भरणपोषणादि अभीष्ट है। 'प्रिया' शब्द के द्वारा पतिरूप अर्थ व्यङ्ग्य रूप से प्रस्तुत होता है। 'रसिका' सम्बोधन रति-सम्बन्धी प्रसङ्गों के अनुयोग को ही सामने ले आते हैं क्योंकि उन्हीं की यहाँ यक्षी को अपेक्षा है। "शृङ्गारी चेत् कविर्जातं सर्वं रसमयं जगत्।" (ध्वन्यालोक)

अलङ्कार—यहाँ भावी अर्थ की साक्षात्कारायमाणता के कारण 'भाविक', एक की तनुता से दूसरे की तनुता की भावगम्यता के कारण 'उल्लास' तथा अन्तिम पङ्क्ति में 'हेतु' अलङ्कार है। इनके तिलतण्डुलन्याय से आने के कारण 'संसृष्टि' मानी जायगी।

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सोम्य[1] निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा[2]।
तन्त्रीरार्द्रा[3] नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपिकृतां[4] मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥२०॥

पञ्चिका

धूसराम्बरेऽङ्के वीणां निधाय गेयमुद्गातुकामा वा। साऽलोके ते निपततीति सम्बन्धः। कीदृशं गेयम्? मम गोत्रं नामाङ्कश्चिह्नं यस्य। विरचितानि पदानि शब्दा यस्य। पदस्थो हि स्वरसङ्घातो गेयम्। मदीयनामान्वितमित्यर्थः। अश्रुभिर्नेत्रजलैरार्द्राः क्नूतास्तन्त्रीः क्लेशेन सारयित्वा योजयित्वा स्वयमपि दत्तां मूर्च्छनां सारणां विस्मरन्ती। चेतसोऽस्वास्थ्यात्॥८३॥

सुबोधा

उत्सङ्गे। हे सौम्य सुचरित्र, मलिनं कृष्णं म्लानं वसनं वस्त्रं यत्र तादृशे उत्सङ्गे क्रोडे वीणां वल्लकीं निक्षिप्य समारोप्य गेयं रूपकम्, उद्गातुकामा उच्चैर्गातु-

१. "सौम्य" इति पा०। २. "गीतमुद्गातुकामा" इति पा०। ३. "तन्त्रीमार्द्राम्" इति पा०। ४. "स्वयमधिकृताम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिच्छन्ती, नयनसलिलैरश्रुभिः आर्द्राःस्तिमितास्तन्त्रीः कथञ्चित् तात्पर्यातिशयेन सारयित्वा मार्जयित्वा घातयित्वा वा भूयो भूयः पुनः पुनः, स्वयमपि आत्मनापि कृतां मूर्च्छनां श्वाससम्भवरागं विस्मरन्ती वा आलोके ते निपततीति सम्बन्धः। कीदृशं गेयम्? मद्गोत्राङ्कं मम गोत्रं नाम अङ्कश्चिह्नं यत्र तादृशम्, तथा विरचित-पदं विशेषेण रचितं पदं शब्दो वाक्यं वा यत्र तादृशम्। मद्गोत्राङ्कं यथा स्यात्तथा विरचितं पदं यत्रेति च व्याचक्षते। मलिनवसनत्वं विरहिणीस्वभावः। उक्तञ्च —"मलिनाम्बरसंवीते" त्यादि। "गोत्रं नाम्नि कुले क्षेत्रे" इति विश्वः। "पदं शब्दे च वाक्ये च" इति च। वर्णसमुदायः पदमिति नैयायिकाः। सुप्तिङन्तं पदमिति वैयाकरणाः। तन्त्रीरिति बहुवचननिर्देशेन परिवादिनी परिवादनकौशलस्य सूचितत्वाद् वैदग्ध्यं ध्वनितम्। गेयमिति आत्मकृतं बोध्यम्। उक्तञ्चाह— "आलेख्यञ्च कवित्वञ्चे"ति। मत्कृतमिति चाहुः। स्वयमपीति अपि शब्दो विस्मये, आत्मकृतापि विस्मर्यते इति विस्मयः। एवार्थे वा। रागाभिव्यक्ति-मूर्च्छना; यदुक्तम्—

"स्वरः सम्मूर्च्छितो यत्र रागतां प्रतिपद्यते।
मूर्च्छनामिति तामाहुः कवयः श्वाससम्भवाम्।" इति।
"रागाणां या त्वभिव्यक्तिर्मूर्च्छना साभिधीयते।" इति च।

अयमिहार्थः, मेघदर्शनोत्पन्नविरहवेदनापनोदनाय प्रियनामाङ्कं गेयं गातुमारब्धवती प्रियनामाङ्कोच्चारणेन च द्विगुणोत्कण्ठया रोदनमपि प्रादुर्भूतम्। विकलचित्तत्वाच्च स्वकृतमूर्च्छनाया अपि अपरिज्ञानमिति। इयञ्च स्वभावोक्तिः।

अन्वय

सौम्य! मलिनवसने उत्सङ्गे वीणां निक्षिप्य मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयम् उद्गातुकामा (सा) नयनसलिलैः आर्द्राः तन्त्रीः कथञ्चित् सारयित्वा भूयो भूयः स्वयं कृताम् अपि मूर्च्छनां विस्मरन्ती वा [ते आलोके पुरा निपतति]।

हिन्दीरूपान्तर

महाशय! अथवा गन्दे कपड़ोंवाली गोद में वीणा डालकर मेरे नाम के चिह्न वाले रचित पदोंवाले गीत को गाने की इच्छावाली (वह) आँसुओं से गीले तारों को जैसे-तैसे ठीक करके पुनः पुनः स्वयं उठायी गयी हुई मूर्च्छना को भूलती हुई तुम्हारे दृष्टिपथ में अवश्य आयेगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणियाँ

(१) **मलिनवसने**—'मलिनानि वसनानि यस्मिन् तस्मिन्।' याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार **प्रोषितभर्तृका** को शरीरसंस्कार त्याग देना चाहिए(१–८४)। यहाँ यक्षाङ्गना को पतिव्रता **प्रोषितपतिका** द्योतित करने के लिए कवि ने 'मलिनवसने' विशेषण उत्सङ्ग का रखा है। शास्त्रानुसार पतिव्रता को पति के आर्त होने पर आर्ता, प्रसन्न होने पर मुदिता, बाहर चले जाने पर मलिन और कृश, दिवङ्गत हो जाने पर सती होना चाहिए।

"आर्ताऽऽर्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता"।

इसीलिये उसकी गोद को मैले कपड़ों—नीवी, अधोवस्त्र, परिधान आदि—से युक्त दिखाया गया है। इससे ध्वनि निकलती है कि वह एकवेणी, धरणि-शायिनी और शुद्धस्नानादिकारिणी थी। चूँकि वह शरीरसंस्कार नहीं करती थी और कपड़े नहीं बदलती थी साथ ही भूशायिनी थी इसी से सारे कपड़े तक धूलि-धूसर हो चले थे।

(२) **सौम्य**—सोम ही देवता हैं जिसके उसके अर्थ में 'सौम्य' शब्द बनता है—"सोमाट्ट्यण्" (४–२–३०)। इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है—"सोमशब्दा-ट्ट्यण्प्रत्ययो भवति साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये।" भानुजी दीक्षित ने रामाश्रमी टीका में दूसरी व्युत्पत्ति भी दी है। उसका अनुसरण चरित्रवर्धन ने अपनी टीका में किया है—"सोम इव सुन्दरः सौम्यः, तत्सम्बुद्धिर्हे सौम्य !" दीक्षितजी ने लिखा है—"यद्वा सोम इव सोमः। ततश्चतुर्वर्णादित्वात् (वा० ५–१–१२४) ष्यञ्।" परन्तु ये दोनों व्युत्पत्तियाँ शास्त्रप्रतिकूल हैं। पाणिनि का सूत्र है—"गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (५–१–१२४) इस पर वार्त्तिक है—"चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्।" आशय यह कि 'तस्य भावः' के अर्थ में वर्णविशेषवाची और दृढादि से ष्यञ् होता ही था गुणवाची और ब्राह्मणादि से 'तस्य भावः' और 'तस्य कर्म' दोनों अर्थों में ष्यञ् हो। वार्त्तिककार का कथन है कि चातुर्वर्ण्यादि को स्वार्थ में गिनाया जाना चाहिए था। अर्थात् चातुर्वर्ण्य का अर्थ होगा चारों वर्ण। यह तुल्यार्थ या इवार्थ में ष्यञ् का विधान नहीं करता अतः "सोम इव" यह व्युत्पति नितान्त अनुचित है। काशिकावृत्ति में दिये गये चातुर्वर्ण्यादि गणपाठ में सोम कहीं नहीं है। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अलग से चातुर्वर्ण्यादि-गण का पाठ दिया नहीं और तद्धितप्रकरण में जो ष्यञन्त पद गिनाये हैं उनमें 'सौम्य' आता नहीं। इसे आकृतिगण कहीं भी नहीं कहा गया। अतः भानुजी दीक्षित की यह व्युत्पत्ति शास्त्रबाह्य ही मानी जाएगी। चूंकि सोम को देवता माननेवाले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्यलोग रमणीय होते थे अतः धीरे-धीरे इस शब्द की प्रसिद्धि 'मनोज्ञ' अर्थ में भी हो गई; फिर इसी प्रकार उपचार से 'अनुग्र' अर्थ भी लिया जाने लगा होगा। अपत्यार्थक यञ्-प्रत्यय से सौम्य का अर्थ बुध भी होता है। "सौम्यः सोमात्मजेऽनुग्रे मनोज्ञे सोमदैवते।—" (अनेकार्थसङ्ग्रह)। यहाँ पर "आलोके ते निपतति पुरा" का प्रसङ्ग अध्याहृत किंवा अनुवृत्त है अतः 'अनुग्रह' अर्थ सबसे अधिक समीचीन है। वैसे 'मनोज्ञ' अर्थ भी असमीचीन न होगा।

(३) **मद्गोत्राङ्कं विरचितपदम्**—'मम गोत्रं मद्गोत्रम्। मद्गोत्रम् अङ्कः यस्य तद् मद्गोत्राङ्कम्।' इस 'मद्गोत्राङ्कम्' पद का अर्थ वल्लभदेव, चरित्रवर्धन, पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथ, भरतमल्लिक आदि सभी टीकाकारों ने यही किया है कि "जिस 'विरचितपद' के अन्दर मेरा नामरूपी चिह्न हो" उसे वह गाना चाहती होगी। पूर्णसरस्वती कहते हैं—'मदीयनामाक्षरचिह्नितम्।' वल्लभदेव ने 'मदीयनामान्वितम्' लिखा ही है। मल्लिनाथ ने इसे क्रियाविशेषण बनाकर प्रस्तुत किया है—"मम गोत्रं नामाङ्कश्चिह्नं यस्मिंस्तन्मद्गोत्राङ्कं मन्नामाङ्कं यथा तथा।" परन्तु इन सभी टीकाकारों ने इस बात का ध्यान नहीं रखा कि पतिव्रता पत्नी की हैसियत से यक्षी अपने पतिदेव का नाम कैसे ले सकती थी और वह भी वैसे ही एक विरचितपद गाने के लिये। शास्त्रकारों ने इसका सुस्पष्ट वर्णन कर रखा है। पति का नाम न लेने की एक सुदीर्घ परम्परा प्राचीनसंस्कृतिसम्पन्न क्षेत्रों में आज तक जीवित-जाग्रत् है। ऐसी स्थिति में इस अर्थ का उद्भावन नितान्त अनुचित है। वास्तव में 'गोत्राङ्क' यहाँ 'गोत्रापराध' 'गोत्रस्खलन', गोत्रस्खलित', 'गोत्रविपर्यय', या 'गोत्रागस्' के अर्थ में आया है। 'अङ्क' शब्द का अर्थ 'मन्तु' 'अपराध' 'आगस्' आदि कोशों में दिया गया है। 'विश्वप्रकाश' में—"अङ्कः स्थानेऽन्तिके **मन्तौ** रूपकोत्सङ्गलक्ष्मसु। नाटकादिपरिच्छेदे चित्रयुद्धे च भूषणे॥" और 'अनेकार्थसङ्ग्रह' में—"अङ्को भूषारूपकलक्ष्मसु। चित्राजौ नाटकांशे स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसोः॥" नायिकाविशेष के समक्ष किसी और स्त्री का नाम लेना सम्भोगश्रृङ्गार के क्षेत्र की 'स्वाधीनपतिका' को मानविप्रलम्भ की 'कलहान्तरिता' बना छोड़ता है। इसी को 'गोत्रस्खलन', 'गोत्रविपर्यय' आदि कहा जाता है यहाँ पर 'गोत्राङ्क' कहा गया है। केवल 'आगस्' या 'अपराध' शब्द भी प्रयोग में लाये गये हैं। 'कुमारसम्भव' (४–८) में "गोत्रस्खलितेषु" और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' (६–५) में "गोत्रे स्खलितः" कालिदास ने लिखा है। इसी की ओर इङ्गित "आत्मानं ते चरणपतितं यावद्" में है और फिर "दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति" में भी है। ऐसी कलहान्तरिता का लक्षण है—"पादयोः पतिते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कान्ते या मानं न विमुञ्चति। तस्मिन् गते तु तापार्ता कलहान्तरिता तु सा॥" यहाँ यक्ष अपनी प्रेयसी के प्रोषितपतिकारूप में पूर्वभुक्त 'कलहान्तरिता' की पौनःपुन्येन कल्पना करता रहता है। इस अर्थ में समासविग्रह होगा—"मयोच्चारितं मदुच्चारितं गोत्रम् मद्गोत्रम्। "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्।" 'मद्गोत्रमेव अङ्को यत्र तद् मद्गोत्राङ्कम्।' यहां पर एक बात और भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है और वह है 'मद्गोत्राङ्क' का विशेष्य। दोनों पद विशेष्य माने जा सकते हैं—'विरचितपदम्' भी और 'गेयम्' भी। पहले को विशेष्य मानने पर दूसरा भी उसका विशेषण माना जायगा और दूसरे को विशेष्य मानने पर पहले को भी उसका विशेषण मानेंगे। सामान्यतः टीकाकारों ने 'गेयम्' को विशेष्य माना है और 'विरचितपदम्' (विरचितानि पदानि यत्र तत्) को विशेषण। विशेष्य पक्ष में—'विशेषेण रचितम्' विरचितम्। विरचितं च तत् पदञ्च विरचितपदम्।' उभयथा आशय "प्रच्छेदक' नामक लास्याङ्ग से ही है। उसका लक्षण है—"अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः॥" आगे कवि कहेगा भी—"दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति।"

(४) **उद्गातुकामा**—'उद्गातुं कामः यस्याः सा उद्गातुकामा। "तुङ्काममनसोरपि"। 'उत्कण्ठा को दूर करने के लिये ज़ोर से गाने की इच्छावाली'। इसका शास्त्रीय पक्ष मल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है। देव-योनि की होने के नाते वह ज़ोर से गा सकती थी। क्योंकि 'गान्धारग्राम' को प्रस्तुत करने का श्रेय केवल देवयोनि को प्राप्त था। उनका कथन है—"देवयोनित्वाद् गान्धारग्रामं गातुकामेत्यर्थः। तदुक्तम्—

"षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः।
न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः॥"

(५) **सारयित्वा कथञ्चिद्**—वल्लभदेव ने 'सारयित्वा' का अर्थ 'योजयित्वा' अर्थात् मिलाकर। बजाने के पूर्व वीणा के तार मिलाये जाते हैं और तब ग्राम-मूर्च्छना आदि उस पर प्रस्तुत की जाती हैं। चरित्रवर्धन का भी यही आशय है। उनका कथन है "सारयित्वा पाणिना संस्पृश्य"। दक्षिणावर्तनाथ का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है। उन्होंने भी लिखा है "सारयित्वा करेण परामृश्य।" परन्तु मल्लिनाथ ने 'आर्द्राः तन्त्रीः' को पोंछने का भाव प्रस्तुत किया है—"सारयित्वा, आर्द्रत्वापहरणाय करेण प्रमृज्य अन्यथा क्वणनासम्भवादिति भावः।" आँसुओं से तार गीले हो उठे इसी से आवश्यकता इसकी पड़ी कि उसे पोंछा जाय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्यथा तार बजेंगे नहीं। वस्तुतः आँसू की बूँदों का तारों के ऊपर टिके रहने का सवाल ही नहीं उठता। तार पर से वे स्वयं झड़ जायंगे। यदि कोई रह भी गया तो जैसे ही कोई उन्हें उँगलियों से या मिज़राब से छेड़ना आरम्भ करेगा। वह तुरंत झड़ जायगा। वे सूत के तार नहीं होते जो आँसू की बूँदों से भींग जायँ या गीले हो जायँ। भरतसेन ने दोनों अर्थों को स्वीकार किया है—"सारयित्वा मार्जयित्वा घातयित्वा वा"। यहाँ पर तारों को छेड़-छेड़ कर मिलाने से ही आशय है। 'धातुपाठ' के अनुसार भी "√सार-कृप-श्रथा दौर्बल्ये" (चुरादि०)। 'सारयित्वा' की धातु दुर्बल बनाने के अर्थ में है। जब तन्त्री कस दी जाती है तो वह दुर्बल हो उठती है यदि ज़ोर से मिज़राव या उँगली लग जाय या थोड़ी भी और खूँटी उमेठ दी जाय तो वह तुरंत टूट जायगी। इसलिये यहाँ 'सारयित्वा' का अर्थ 'कसकर' या 'मिलाकर' ही समीचीन माना जाना चाहिए। 'कथञ्चिद्' अव्यय की भी तभी सार्थकता है अन्यथा पोंछने में क्या कठिनाई हो सकती है?

(६) **मूर्च्छनाम्**—मल्लिनाथ ने मूर्च्छना का लक्षण 'स्वरारोहावरोहक्रम' दिया है और साक्ष्य के रूप में 'सङ्गीतरत्नाकर' की यह पङ्क्ति उद्धृत की है—"स्वराणां स्थापनाः सान्ताः मूर्च्छनाः सप्त सप्त हि।" भरतसेन ने उनसे अधिक सुन्दर और शास्त्रदृष्टि से शुद्ध लक्षण प्रस्तुत किया है 'जिसमें स्वर सम्मूर्छित अर्थात् समुच्छ्रित होकर रागत्व को प्राप्त कर लेता है उसे मूर्च्छना कहते हैं, अथवा 'रागाभिव्यक्ति' को मूर्च्छना कहते हैं। उद्धरण टीका में दिये हैं। महाराज कुम्भ-कर्ण का कथन है—"आरोहेणावरोहेण क्रमेण स्वरसप्तकम्। रागादेर्मूर्च्छनादत्र मूर्च्छना परिकीर्तिता॥" वैसे षड्ज, मध्यम और गान्धार तीनों ग्रामों की सात-सात मूर्च्छनाएँ होंगी। परन्तु यहाँ पर तो देवयोनि के औचित्यवश गान्धारग्राम की ही मूर्च्छनाओं से तात्पर्य है। महाराज कुम्भ का कथन है कि उनके समय में काश्मीर में इसका उपलम्भ होता था—"यद्यप्यस्योपलम्भोऽस्ति काश्मीरेषु तथाप्ययम्। लक्ष्यलक्षणतत्त्वज्ञैर्नोपदेष्टुं हि शक्यते॥" इस गान्धारग्राम का स्वरूप—"एकैकां श्रुतिमादत्ते गन्धारोरिमयोर्यदि। पश्रुतिं भजते धश्च निःश्रयेद् धसयोः श्रुतिम्॥" परन्तु यहाँ पर तो वीणाविषयक उभयहस्तव्यापार से भी आशय है। महाराणा कुम्भ ने लिखा है:—"उद्वेष्टपरिवर्ताभ्यां करे भ्राम्यति दक्षिणे। स्वरस्थाने हतं तन्त्र्यां कम्पिता यत्र सर्पति॥ क्रमिका-मूर्च्छनासञ्ज्ञः करोऽसौ कीर्तितो बुधैः।" सङ्गीतरत्नाकर में भी लिखा है—"उद्वेष्टपरिवर्ताभ्यां तन्त्र्यां भ्राम्यति दक्षिणे। स्वरस्थाने द्रुतं कम्प्रासारणं मूर्च्छना मता।" नारद ने गान्धार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्राम की सात मूर्च्छनाओं के नाम दिये हैं—नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा और बला। हाथ के ऊपर और बग़ल में ले जाने को उद्वेष्ट और परिवर्त कहते हैं।

अलङ्कारादि—भरतसेन ने यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार माना है। परन्तु यह तो भावी की प्रत्यक्षायमाणतामात्र है अतः यहाँ 'भाविक' माना जाना चाहिए। स्वभावोक्ति तो पूर्वानुभूत वस्तु के जातिस्वभाव या क्रियास्वभाव के वर्णनमात्र का विषय है।

शेषान्मासान् [1]गमनदिवसप्रस्तुतस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्तीं भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः[2]।
[3]मत्संयोगं [4]हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती[5]
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां[6] विनोदाः ॥२१॥

पञ्चिका

गमनदिवसात् प्रवृत्तो योऽवधिर्वर्षाख्यस्तस्य शेषान् मासान् अवनौ भुवि विन्यस्यन्ती स्थापयन्ती। कैः? देहल्यां द्वारविशेषे द्वारपूजाऽर्थं दत्तैः पुष्पैर्या गणना तया। रेखापदेषु पुष्पाणि दत्त्वा इत्यर्थः, हृदयनिहितारम्भं मनोरथरचितं मत्सङ्गमं वा आस्वादयन्ती अनुभवन्ती। कथमवगच्छसि एतादृशान् व्यापारान् कुर्वती? इत्याह—यस्मादिष्टवियोगे विरहिणीनां प्रायेणैवंविधा एव विनोदाः केलयो भवन्ति ॥८४॥

सुबोधा

शेषान्। गमनदिवसस्थापितस्य प्रस्थानदिनात् प्रभृति व्यवस्थितस्यावधेः सीम्नः संवत्सररूपस्य शेषान् अतिक्रान्तेभ्योऽवशिष्टान् मासान् त्रिंशद्दिवसपरिमित-

---

१. "विरहदिवसस्थापितस्या०" इति, "प्रथमदिवसस्था०" इति, "विरहदिवसे स्था०" इति, "गमनदिवसस्थापितस्या०"—प्रस्थितस्या०" इति च पाठान्तराणि। २. "मुक्तपुष्पैः" इति पा०। ३. "संयोगं वा" इति, "सम्भोगं वा" इति, "मत्सङ्गं वा" इति "मत्सम्भोगम्" इति च पाठान्तराणि। ४. "हृदयरचिता—"इति पा०। ५. "आसादयन्ती" इति, "उत्पादयन्ती" इति च पाठान्तरे ६. "विरहे ह्यङ्गनानाम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालान्। भुवि भूमौ देहल्यां गृहद्वारि मुक्तैः क्षिप्तैः, पुष्पैः कुसुमैर्गणनया परिसङ्ख्यया एक-द्वि-त्रिक्रमेण विन्यस्यन्ती स्थापयन्ती वा; ते आलोके निपततीति सम्बन्धः। अनेन द्वारेण प्रियः प्रस्थितोऽनेनैव प्रवेक्ष्यतीति विरहिणीभिर्देहली पूज्यते इति स्त्रीणामाचारः, अतएव साऽपि तां पूजयति। अतएव तत्पूजाविन्यस्तैस्ततो मुक्तैः पुष्पैर्गणयति, नाङ्गुलिरेखाभिः विस्मरणाशङ्कया इत्यर्थः। हृदये निहित आरोपित आरम्भः प्रक्रमो यस्य तादृशं संयोगं मम सङ्गम् आसादयन्ती प्राप्नुवती वा, ते आलोके निपततीति सम्बन्धः। तादृक् संयोगस्तु मुखप्रासादादिना मेघेनावधार्यः, अन्यथा तस्यानुपलम्भात्। कथमेवमवश्यं सा करिष्यति? इत्याशङ्क्य विरहिणीस्वभाव-मर्थान्तरन्यासेनाह; हि यस्मात्, प्रायेण बाहुल्येन रमणविरहे कान्तविश्लेषे अङ्गनानां स्त्रीणाम्, एते उक्तप्रकारा विनोदाः क्रीडाप्रकाराश्चित्तावलम्बनस्थानानि भवन्ति। तथा चोक्तम्—

"देवतापूजनं कुर्यात् कुर्याद्वा निभृते बलिम्।
लिखेत् कान्तप्रतिकृतिं पाठयेच्छुकसारिकाम्॥
वादयेच्च तथा वीणां गायेद् गीतं तदङ्कितम्।
गणयेत् सावधिदिनं तिष्ठेत् सङ्कल्पसङ्गमैः॥
एवं विधैर्विनोदैस्तु रमणेन विनाऽबला।
विनयेच्च व्यथां तीव्रां सङ्गमाशावलम्बनात्॥" इति।

रमणेति युक्तपदोपन्यासः। रमते रमयति वेति व्युत्पत्तेः, नहि दुर्भगाविरहे एतादृग् भवति। केचित्तु विरहेष्वङ्गनानामिति पठित्वा विरहेष्विति बहुवचनं चिरविरहसूचकम्। अङ्गनानां बहुत्वाद् बहुवचनञ्चेति व्याचक्षते।

अन्वय

(अथवा) गमनदिवसप्रस्तुतस्य (विरहदिवसस्थापितस्य वा) अवधेः शेषान् मासान् देहलीदत्तपुष्पैः गणनया भुवि विन्यस्यन्ती (यद्) वा हृदयनिहिता-रम्भम् मत्संयोगं आस्वादयन्ती वा [ते आलोके पुरा निपतति], (यतः) प्रायेण अङ्गनानां रमणविरहेषु एते विनोदाः (भवन्ति)।

हिन्दीरूपान्तर

या चले आने के दिन आरम्भ हुई अवधि के बाक़ी महीनों को ड्योढ़ी पर चढ़ाये गये फूलों से गिनती कर-कर के ज़मीन पर रखती हुई अथवा मन में सन्नि-वेशित प्रारम्भिक अवस्थावाले मेरे सहवास को अनुभव करती हुई तुम्हारे दृष्टिपथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में निकट भविष्य में आयेगी। क्योंकि कामिनियों के पतिविरह की दशा में प्रायः ये ही दिन काटने के ढंग हुआ करते हैं।

टिप्पणियाँ

(१) **शेषान् मासान्**—जैसा कि भूमिका से ही स्पष्ट है वर्षावधि शाप के चार मास बाकी रह गये हैं। प्रारम्भिक छन्दों में ही कवि ने कह रखा है—"शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।" कुल वियोग की अवधि है एक वर्ष; और अब अवशिष्ट हैं चार मास—"शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा"। आठ महीने यक्ष ने आषाढ़ के पूर्व ही समाप्त कर लिये हैं रामगिर्याश्रमों में। आर्थर बेरिडेल कीथ ने इस थोड़े समय के वियोग पर कुछ कटाक्ष किया है—"At first sight the effect of the poem seems to be marred by an element of unreality in the longing of the Yakṣa whose separation is but temporary and who as an attendant on Śiva cannot in truth fear either death or even injury for his beloved from his absence"(p. 86–HSL) बड़ा ही हार्दिक क्लेश होता है ऐसी बेबुनियाद आलोचनाओं को पढ़कर। एक संस्कृत-साहित्य के इतिहासकार को कुछ तो रसों का अध्ययन कर लेना चाहिए, और फिर एक बार उस ग्रन्थ को भी देखने का कष्ट उठाना चाहिए जिसकी कि वह समीक्षा करना चाहता है। विप्रलम्भशृङ्गार-रस और करुण-रस के बीच अन्तर ही यही होता है कि पहले में विरह आल्पकालिक होता है और दूसरे में शाश्वत। आल्पकालिक या 'टेम्परेरी' विरह में ही दूत-प्रेषण का प्रश्न उठता है नित्य या सनातन में नहीं। ख़ैर यह तो शास्त्रचर्चा का विषय है कीथ साहब को नहीं पता हो तो कोई बात नहीं। परन्तु सबसे अधिक कष्ट का विषय है जो उन्होंने यक्ष को शिव का अनुचर लिखा है जबकि स्वयं कालिदास ने लिखा है—"अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।" और "सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।" इस प्रसङ्ग में सर्वाधिक उपयोग इन बीतने से बचे हुए (गतशेष) चार मासों को गिनने का है। कवि उसे उसी में लगी हुई दिखाता है—

"विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।" जब चार ही महीने बाक़ी हैं तो उन्हें गिनने में कितना समय लगेगा। वास्तव में यह गणना मासानुसारी न होकर दिवसानुसारी है। कवि पूर्वमेघ में ही कह चुका है—"ताञ्चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्।" उसे दुहराने की क्या ज़रूरत। अतः आषाढ के प्रथम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिन अथवा जब मेघ अलका पहुँचेगा उस दिन वह लगभग साढ़े आठ महीने पूरे कर चुकेगी और उस काल के दो सौ पचास या दो सौ पचपन दिनों के प्रतीक पुष्पों को गिनती होगी। फिर पूरे वर्ष भर के दिनों में से उन्हें घटाती होगी और तब निष्कर्ष तक पहुँचती होगी। फिर उनमें भी तिथिक्षय, तिथिवृद्धि, अधिकमास, आदि का भी चक्कर हो सकता है। यह सब पर्याप्त-समयापेक्षी है। ज़रा गिनती करने के तरीक़े को देखिए—

"देहल्यां द्वाराधःस्थितफलकायामनुदिनमेकैकशो निहितैः पुष्पैः, कतिपय-दिनावसाने तैः सम्पिण्डितैर्गणितैर्गतदिवसेयत्तापरिज्ञानसौकर्यात्।"—

पूर्णसरस्वती के कथनका तात्पर्य यह है कि प्रवास के दिन से रोज़-रोज़ एक-एक फूल दहलीज में डालती जाती थी। कुछ दिन बीत जाने पर उन इकट्ठा फूलों को गिन कर बीते दिनों की सङ्ख्या जान लेती थी फिर वर्ष भर की दिनसङ्ख्या से घटाकर शेष अवधि का हिसाब निकाल लेती थी। कवि ने 'शेष' और 'मास' दोनों शब्द बड़े ही व्यञ्जक रखे हैं। 'शेष' का अर्थान्तर 'अनन्त' और 'वध' भी है और 'मास' शब्द "√मसी परिमाणे (दिवादि०)" से "हलश्च" (३-३-१२१) के अनसार घञ्प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। "शेषोऽनन्ते वधे सीरिण्युपयुक्तेतरेऽपि च" (अनेकार्थसङ्ग्रह)। महीने चाहे तीन ही चार हों पर प्रथम विरह और मेघों की ऋतु के आ जाने से अनन्तपरिमाण लगते हैं या 'वध-परिमाण' से कष्टदायी लगते हैं। जिसका परिमाण किया जाता है उसे मास कहते हैं अतः उसके परिमाण में यदि बराबर लगी हो तो पूर्णतः समीचीन ही प्रतीत होता है।

(२) **गमनदिवसप्रस्तुतस्य**—'गमनस्य दिवसः गमनदिवसः (षष्ठी शेषे)। ततः प्रस्तुतस्य गमनदिवसप्रस्तुतस्य।' दूसरा पाठ है—"विरहदिवस-स्थापितस्य।" अवधि स्थापित न होकर प्रस्तुत अर्थात् प्रारब्ध हुआ करती है। यदि 'निश्चित' अर्थ करें तो 'स्थित' होना चाहिए 'स्थापित' क्यों? फिर विरह के तो ये सारे ही दिन हैं। गमन का दिन एक ही होगा अतः निर्धारणार्थ 'गमन-दिवस' और 'प्रस्तुत' शब्द ही समीचीन हैं।

(३) **देहलीदत्तपुष्पैः**—इसके विषय में भरतसेन ने ऊपर बहुत ही मार्मिक ढंग से प्राचीन परम्परा को उन्मीलित किया है—'देहलीपूजा' और 'देहलीप्रत्य-वेक्षा'।

(४) **मत्संयोगं हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती**—'मम संयोगः, मत्संयोगः तम्। हृदये निहितः, हृदयनिहितः (नि+√डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु०)+क्त= निहितः "दधातेर्हिः" (७-४-४२)। हृदयनिहितः आरम्भः यस्य तम्।' मल्लिनाथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने 'मत्सम्भोगम्' पाठ माना है। परन्तु वह उतना सुन्दर पाठ नहीं माना जा सकता क्योंकि उसकी तो स्मृतिमात्र होगी उसका हृदयनिहित आरम्भ इस वियोगावस्था में क्या और क्यों होगा ? इसी से यहां पर वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती, भरतसेन और दक्षिणावर्तनाथ के द्वारा प्रत्त पाठ ही साधीयान् है। पूर्णसरस्वती का कथन है कि समस्त व्यापारों में मन से अनुभव किये जाते हुए पतिसंयोग की ही विकल्पहीन अनुभूति करती हुई तुम्हारे दृष्टिपथ में आयेगी—"सर्वव्यापारेषु तत्समागमस्य मनसाऽनभूयमानस्य निष्प्रत्यूहतयाऽनुवृत्तेः विकल्पानुपादानम्।" वाल्मीकि ने 'रामायण' में इसकी भावमातृका प्रस्तुत कर रखी थी—"नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्। एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति।।" और "नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्। राघवापनयेद् गात्रात् त्वद्गतेनान्तरात्मना।।" इस प्रकार के भगवती सीता के पतिविरह के समय की अवस्था को ध्यान में रखकर ही कालिदास ने इस पदोच्चय की रचना की होगी। 'भार्याधिकार' में शास्त्र का पतिविरह में पत्नी की चर्या के विषय में यह कथन है:—

"गतवति दयिते तु क्वापि माङ्गल्यमात्राण्यपचितगुरुविप्रा धारयेन्मण्डनानि।
उपगुरु शयनञ्च स्वल्पताञ्च व्ययस्य प्रतिदिनमपि कुर्यादस्य वार्तानुसारम्।।
अनवहितविधानं स्वस्य निर्वाहयत्नं प्रतिदिननियमञ्च क्षेमसिद्ध्यै विदध्यात्।।"

मल्लिनाथ का कथन है कि 'सङ्कल्पावस्था' को कवि ने इस रचना द्वारा उपन्यस्त किया है और उसका स्वरूप है—"सङ्कल्पो नाथविषये मनोरथ उदाहृतः।"

(५) **विनोदाः**—भरतसेन ने "अङ्गनानां विनोदाः" को भी बहुत ही सुन्दर ढंग से (१) देवतापूजन या (२) बलि, (३) कान्तप्रतिकृतिरचना, (४) सारिकापाठन, (५) वीणावादन, (६) तदङ्कितगान, (७) अवधिदिनगणना और (८) सङ्कल्पसङ्गम, के शास्त्रपाठ द्वारा प्रस्तुत किया है। उद्धरण टीका के मूलभाग में ऊपर उपलब्ध होगा। देवतापूजन या बलि "आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा" में, कान्त की प्रतिकृति का निर्माण "मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती" में सारिकापाठन "पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थाम्" में, वीणावादन और तदङ्कितगेयगान "उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्", इत्यादि पद्य में और शेष दो इस छन्द में दृष्टिगत होते हैं।

(६) **प्रायेण**—इस अव्यय की व्यञ्जना को पूर्णसरस्वती ने बड़े ही सुन्दर ढंग से उपन्यस्त किया है। आशय यह है कि श्वशुर, श्वश्रू, आदि की शुश्रूषा के पश्चात् अथवा हृदयनिहितत्वेन तत्समकालभाविता भी अङ्गनाविनोदों की मानी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकती है। उनका कथन है—'प्रायेणेति, गुर्वादिसद्भावे तच्छुश्रूषादीन्यपीति द्योतयति। एत इति न पुनरन्ये। "क्रीडाशरीसंस्कारसमाजोत्सवदर्शनम्। हासं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥" इति स्मरणात् क्रीडादीनामचिन्तनीयत्वं ध्वन्यते। अत्र च-"पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः। न हीना स्याद् विना भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत्॥" इति स्मृतस्याधिष्ठितत्वस्याकथनं प्रस्तुतरसानङ्गत्वाद् वा तादृशीनां साध्वीनां निरुपमनिजतपःप्रभावगुप्तानां जानक्या द्रौपद्या दमयन्त्याइव च गुप्त्यन्तरानपेक्षत्वाद् वा, "शीलेन रक्ष्यते नारी" इत्युक्तत्वात्।"

अलङ्कार—"आलोके ते निपतति पुरा" के कारण यहाँ पर भी स्वभावोक्ति मानना असङ्गत है। यहाँ पर भी 'भाविक', अलङ्कार ही माना जाना चाहिए।

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखादाम[१] हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा या मयोन्मोचनीया[२]।
स्पर्शक्लिष्टाम[३]यमितनखेनासकृत्सारयन्तीं[४]
गण्डाभोगात् कठिनविषमादेकवेणीं[५] करेण॥२२॥
सव्यापारामहनि न तथा खे[६]दयेद्विप्रयोगः[७]
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमतः[८] पश्य[९] साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनाऽसन्नवातायनस्थः[१०] ॥२३॥

---

१. "या शिरोदाम" इति, "या शिखा दाम" इति च पाठान्तरे।

२. "तां मयोद्वेष्टनीयाम्" इति "या मयोद्वेष्टनीया" इति, "सा मयोद्वेष्ट०" इति च पाठान्तराणि।

३. "अपमित" इति पा०। ४. "सारयन्ती" इति पा०।

५. "कठिनविषमाम्" इति, "कलुषविषमाम्" इति च पाठान्तरे।

६. "तथा स्वेदयेत्" इति पा०। ७. "मद्वियोगः" इति पा०।

८. "सुखयितुमलम्" इति पा०। ९. "सौम्य" इति पा०।

१०. "अवनिशयनां सन्न—" इति, "विरहशयनां सन्न—" इति, "शयनां सन्न–" इति, –"शयनां सौध—" इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

तां सखीमुन्निद्रां सतीं त्वमतः कारणान्निशीथेऽर्धरात्रे मत्सन्देशैः सुखयितुं पश्येर्न तु दिवसे। कुतः? इत्याह। सव्यापारत्वादहनि तां विरहो न तथा दुःखयेद्यथा रात्रौ शङ्के सम्भावये। यतो निर्विनोदां चित्रव्यापारादिवर्जिताम्। अतएव गुरुतरशुचम् अतिदुःखिताम्। कीदृशीं ताम्? एवंविधामेकां वेणीं कठोरपरुषात् कपोलफलकाद् अघटितकरजेन पाणिना सारयन्तीम् आलोकार्थमपास्यन्तीम्। कीदृशीं वेणीम्? याऽद्ये प्रथमे विरहदिवसे वियोगदिने चूडाशेखरमपास्य तयाऽवेष्टिता। या च नष्टशोकेन मया मोचनीया। एवं ह्येष विरहाचारः। स्नेहाभावाच्च स्पर्शे क्लिष्टां परुषाम्। त्वं कीदृशः? अवनौ भुवि नन्तु खट्वायां यच्छयनं तल्पं तस्यासन्ने निकटे वातायने गवाक्षे तिष्ठति यः स तथोक्तः॥८५।८६॥

सुबोधा

आद्ये। पुनः कीदृशीं ताम्? आद्ये प्रथमे, विरहदिवसे विच्छेददिने, या एकवेणी शिखादाम चूडामणिं हित्वा त्यक्त्वा दूरीकृत्य बद्धा, एवं या एकवेणी, शापस्य वर्षविरहरूपस्य अन्ते अवसाने विगलितशुचा विगतशोकेन सता मया उद्वेष्टनीया मोचनीया। ताम् एकवेणीं केशरचनाविशेषं करेण हस्तेन गण्डाभोगात् कपोलमण्डलाद् असकृद् वारं वारं सारयन्तीं स्वस्थानं नयन्तीम्। करेण कीदृशेन? अयमितनखेन असंस्कृतनखेन शुचीभावाद्यभावात्। अपमितेति पाठे अपमिताः संस्काराभावात् प्रापितापमाना नखा यत्र तादृशेन, विरहिण्या आचारोऽयम्। यदुक्तम्—"संस्कारं नखकेशादेर्न कुर्यात् प्रोषिते पतौ" इति। एकवेणीं किम्भूताम्? स्पर्शे अङ्गसङ्गे क्लिष्टां क्लेशदायिनीम्। किंवा स्पर्शेन घर्षणेन क्लिष्टां क्षीणाम्, तथा कठिनविषमाम् कठिना रूक्षा चासौ विषमा तिर्यग्भूता चेति सा तथा तादृशीम्, तैलादिसंस्काराभावात्। उद्वेगावस्थेयम्। "चूडामणिः शिखादाम" इति शर्वः। शिखादाम चूडास्रजम् इति च व्याचक्षते। पुष्परचितचूडामणिः शिखादाम, "पुष्पचूडामणिर्धीरैः शिखादामेति कीर्त्यते" इति रन्तिरिति केचित्। कुसुमबन्धनी केशलता शिखा, तत्र दाम माल्यमिति कौमुदी। या मयोद्वेष्टनीयाइत्यनेनावश्यदृश्यत्वं वेण्या ध्वनितम्। गण्डाभोगात् परिपूर्णतायुक्तगण्डादित्यर्थः। "आभोगः परिपूर्णता" इत्यमरः। एकीकृत्य बद्धा वेणी एकवेणी, न तु केशसमुदायस्यैकभूता वेणी, तस्या अव्यवहारात्। किंवा एका प्रशस्ता वेणी एकवेणी। तथा च रन्तिः, "केवलश्रेष्ठयोरेकमपरस्मिन्नपि त्रिषु" इति। विरहणीनामयमप्याचारः। यदुक्तम्—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यथा प्रोषितनाथानां व्यसनाभिद्रुताशया।
वेशः स्यान्मलिनस्तासामेकवेणीधरं शिरः॥" इति।

यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तामेकवेणीमिति गम्यते। आवृत्तिगर्भा जातिरियम्, याँ–शब्दस्यावर्तात्। तथा च दण्डी––

"अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि।
दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारत्रयं यथा॥" इति।

इदानीमुक्तचिह्नैर्निर्णीतकान्ताजनं मेघं दर्शनायोपदिशन्नाह—पञ्चभिः श्लोकैरादिकुलकम्। सव्या॰ शङ्के तर्कयामि, मद्वियोगो मम विरहः अहनि दिवसे तथा तेन प्रकारेण अत्यर्थं ते तव सखीं मत्प्रियां न पीडयेत् नार्दयेत् यथा येन प्रकारेण रात्रौ पीडयेत्। कथं नाहनि तथा? इत्याह सव्यापाराम्, व्यापारो गृहकृत्यं पूर्वोक्तविनोदो वा, तेन सह वर्तमानाम्। कथं रात्रौ पीडाऽधिक्यम्? इत्याह, तत्र हि निर्विनोदां विनोदो बलिदानादिः तद्रहिताम् अतएव तत्र गुरुतरा दिवसापेक्षया महती शुक् शोको यस्याः तादृशीम्, अतएव निशीथे अर्धरात्रे मत्सन्देशैर्मम वाचिकैः ताम् उद्विग्नां तव सखीम् अलमत्यर्थं सुखयितुं प्रीणयितुं पश्य द्रक्ष्यसि। कथं निशीथे परस्त्रियं पश्यामि, कदाचित् मदनान्मतिस्खलनं स्यात्? इत्याह, साध्वीं सुचरित्रां पतिव्रताम्। "सती साध्वी पतिव्रता" इत्यमरः। कदाचित् तत्समये निद्राणा स्यात्, तत्कथं पश्यामि? इत्याह, उन्निद्रां त्यक्तनिद्राम्, उन्निद्रत्वे गुरुतरशुचमिति हेतुः। उद्वेगावस्थां द्योतयन् आलापार्थं सान्निध्यमाह; त्वं कीदृशः सन् द्रक्ष्यसि? अवनिशयनासन्नवातायनस्थः सन् अवनिरेव भूमिरेव शयनं शय्या तस्यासन्नं सन्निहितं यद् वातायनं गवाक्षः तत्र स्थितः सन्। एतेन वातायनसन्निधौ भूमिशय्यासन्दर्शनेन विरहवेदनाविशेषावबोधात्तां ज्ञास्यसीति सूचितम्। विरहिणी हि शय्यां विहाय भूमौ शेते सन्तापात्। तथा च—

"आसने शयने वाऽपि न तिष्ठति न तुष्यति।
नित्यमेवोपतप्तः स्यादुद्वेगी विरही जनः॥" इति।

गुरुतर इति अत्यर्थे तरः। केचित्तु गुरुस्तरो निस्तरणं यस्याः तादृशी शुक् यस्या इत्याहुः। सखीमिति प्रीतिप्रतिपादनम्, अतो द्रक्ष्यसि भ्रातृजायामित्यनेन न विरोध इति बोध्यम्। पश्येत्यस्य परत्र श्लोकचतुष्टयेऽपि सम्बन्धः।

ननु विद्युदुन्मेषदृष्ट्या तां जानीया इति प्रागेव तद्दर्शनमुक्तं तत् किं पुनः पश्येति? उच्यते, पश्येति लोकोक्त्या यत्नवाचकमेवेति। कौमुदीकारस्तु जानीया

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

इति ज्ञानमात्रमुक्तम्, पश्येति साक्षादालोक इत्याह। केचित्तु यस्येति पठित्वा तां सुखयितुं यस्य यत्नं कुरु। यसु प्रयत्ने दिवादित्वात् यत्, हेर्लुगिति (?) व्याचक्षते। अपरे तु सौम्येति पठित्वा हे सौम्य, तां सुखयितुमलं समर्थस्त्वमिति व्याचक्षते। निशीथग्रहणं जनप्रवादपरिहारार्थम्। उन्निद्रामित्यनेन प्रबोधनायायासो न भवतीति. सूचितं विरहातिशयश्च। तथा च भरतः—

"निद्राच्छेदोऽङ्गदौर्बल्यं वर्णपाण्डुत्वमेव च।
सन्तापो दीर्घनिश्वासः स्त्रीपुंसोर्विरहे समाः॥" इति।

जातिरलङ्कारः।

अन्वय

(सौम्य!) अहनि सव्यापारां ते सखीं विप्रयोगः तथा न खेदयेत्–, रात्रौ निर्विनोदां (सतीं) गुरुतरशुचं शङ्के; अतः अवनिशयनासन्नवातायनस्थः (त्वं) या मया आद्ये विरहदिवसे शिखादाम हित्वा बद्धा या (च) शापस्यान्ते विगलित-शुचा (सता मया) उन्मोचनीया तां स्पर्शक्लिष्टाम् एकवेणीं कठिनविषमाद् गण्डा-भोगाद् अयमितनखेन करेण असकृत् सारयन्तीं ताम् उन्निद्रां साध्वीं मत्सन्देशैः सुखयितुं निशीथे पश्य।

हिन्दीरूपान्तर

(सौम्य!) दिन में कामों में व्यस्त तुम्हारी सहेली को वियोग उतना दुःख नहीं देगा, रात में मनबहलाव से रहित होने से (उसके) बहुत अधिक शोकाविष्ट होने की आशङ्का करता हूँ इसीसे ज़मीन पर पड़े बिस्तर के पास की खिड़की पर बैठे हुए तुम, पहले विरह के दिन जूड़े की पुष्पमाला को हटाकर मैंने जिसे बाँध दिया था और जिसे कि दण्ड समाप्त हो जाने पर नष्टशोक होकर मुझे खोल देना होगा, उस छूने में खुरदुरी एक में सिमटी चोटी को रुखे-सूखे कपोलफलक से अनकटे नाखूनों वाले हाथ से खिसकाती हुई उस उचट गयी हुई नींदवाली सती को मेरे संदेशों से आराम पहुँचाने के लिये आधीरात में देखना।

टिप्पणियां

(१) आद्ये—जैसा कि ऊपर "विरहदिवसस्थापितस्य"— पाठ के खण्डन में तर्क प्रस्तुत किया जा चुका है जब विरहदिवस शब्द आयेगा तो उसका अर्थ 'एक-दूसरे से अलग होने का दिन नहीं लिया जायेगा अपितु 'विप्रयोग या विरह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के दिन ' लिया जायगा। इसी से प्रथम दिन का बोध कराने के लिये 'आद्य विरह-दिवस' का प्रयोग कालिदास ने किया है। क्योंकि बिछोह के किस दिन को विरह-दिवस नहीं कहेंगे; संदेश भेजने का दिन भी तो विरह दिवस ही है न? 'आद्य' की व्युत्पत्ति—'आदौ भवः।"दिगादिभ्यो यत्" (४–३–५४) इत्यनेन तद्धितेन यता सिध्यति।' इसका अर्थ है 'पहला'।

(२) **शिखादाम हित्वा**—मल्लिनाथ ने 'शिखा' और 'दाम' को अलग-अलग पद माना है। मल्लिनाथ ने 'शिखादाम' को समस्त न मानने का कोई हेतु नहीं दिया है। दक्षिणावर्तनाथ ने कुछ हेतु दिये हैं। परन्तु उन्होंने 'शिखादाम' की जगह 'शिरोदाम पाठ माना है—"शिरोदाम हित्वेति पाठः। शिखादाम हित्वेति पाठे शिखाशब्दः शिरःशब्दपर्यायो न भवति। 'घृणिज्वाले अपि शिखे'–इत्यमरसिंहवचने 'शिखा ज्वालाकेकिमौल्यो'रिति यादवप्रकाशवचनेऽपि शिखाशब्दस्य शिरःशब्द-पर्यायत्वादर्शनात्।" आशय यह कि अमरकोश या यादवकोश दोनों में 'शिखा' का अर्थ सिर नहीं होता अतः 'शिखादाम' का अर्थ शिरोमाल्य नहीं हो सकेगा। और त्याग उसी का हो सकता है। अतः उन्होंने अपनी ओर से 'शिरोदाम' पाठ कर दिया। परन्तु यह पाठपरिवर्तन का ढंग नितान्त स्वातन्त्र्यपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है। भरतमल्लिक ने 'शिखादाम हित्वा' पाठ माना है और दो-दो कोशों का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। 'शिखादाम' का अर्थ "शर्वकोश" के अनुसार 'चूडामणि' है तथा "रन्तिकोश" के अनुसार 'पुष्पचूडामणि' है। "कौमुदी" के अनुसार अलकों की पुष्पगुम्फिनी लट को 'शिखा' कहते हैं और उसमें खोंसी जानेवाली माला को 'शिखादाम' कहेंगे। यही अर्थ पूर्णसरस्वती ने भी लिया है—"धम्मिल्लभूषण-भूतनवकुसुममालिकाम्।" वल्लभदेव ने भी 'चूडाशेखर' अर्थ करके इसी पक्ष का समर्थन किया है। दक्षिणावर्तनाथ की बात यों भी ठीक नहीं है क्योंकि हलायुध-कोश के पञ्चमकाण्ड के ७९९ वें श्लोक में 'शिखा' शब्द को शिरोवाची भी माना गया है—"चूडाशिखे शिरस्यपि।" भरहुत की यक्षी की चोटी में मौलसिरी के फूलों की माला है (कनिंघमः"भरहुत" प्लेट ५२)। डा० मोतीचन्द्र का कहना है "(गन्धार की मूर्तियों और अर्धचित्रों से पता चलता है कि) स्त्रियाँ अक्सर अपने बाल शेखरक से सजाती थीं।—" ["प्राचीन भारतीय वेशभूषा"—पृ० १११] अतः 'शिखादाम' पद अधिक उपयुक्त एवं सत्य पर प्रकाश डालनेवाला है। 'हित्वा' पद √ओहाक् त्यागे धातु से क्त्वा-प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होगा। इस पद का वैचित्र्य पूर्णसरस्वती ने बहुत ही अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है—"हित्वा न पुनः अपनीय तद्गतेन कौतुकेन सह तृणवद् दूरतस्त्यक्त्वेत्यर्थः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) **विगलितशुचा**—'विशेषण गलिता विगलिता। विगलिता शुग् यस्य तेन'। जिसका शोक एकदम समाप्त हो गया हो उसे 'विगलितशुक्' कहते हैं। यहाँ पर 'विगलित' के 'वि' से 'विशेष' या 'सदा के लिये' का अर्थ अभीष्ट है। जिसका 'शोक' या 'विरहजन्य कष्ट' सदा के लिये समाप्त हो गया हो। उसके शोक की पुनरावृत्ति अब कभी भी नहीं होनी है। यक्ष जीवन-भर ऐसी लापरवाही नहीं करेगा अतः फिर ऐसा अवसर आने का नहीं। "विद्युल्लता" में लिखा है—"विगलितशुचा विशेषेणापुनरुद्भवाय गलिता नष्टा शुग् दुःखं यस्य तेन विगलितशुचेति। उपरि ईदृशानां प्रमादानां परिहारेण मतिपूर्वं प्रवर्तनात् प्रियाविरहदुःखस्य न कदाचिदपि सम्भावनेति भावः।"

(४) **स्पर्शक्लिष्टाम्**—'स्पर्शे क्लिष्टाम्; स्पर्शक्लिष्टाम्।' छूने पर कष्ट होने लगता है। बाल रूखे और खुरदुरे हो चले हैं। न तो केशसंस्कार होता है न तैलादि डाला जाता है। आठ महीनों में वे जटा की तरह सख्त और कड़े हो उठे हैं। एक ही जूड़े में सारे बाल बँधे हुए हैं। मल्लिनाथ का कहना है कि छूने पर नीचे के बालों के अन्दर दर्द होने लगता है इसलिये वह एकवेणी 'स्पर्शक्लिष्टा' है—"स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथामित्यर्थः"। शारदारञ्जन का साहित्यसंस्कार-विहीन विवेचक "स्पर्शेन क्लिष्टा पीडिता" विग्रह करके सारी साहित्यिक मधुरता विनष्ट कर देता है। उनका कहना है कि वह बार-बार लटों को गालों से हटाकर जूड़े को दबाती रहती थी इस कसने-दबाने के कारण बालों के जूड़े को तक़लीफ़ होती थी। भरतसेन ने दो अर्थ किये हैं—पहला है, 'छू जाने से दुःख देनेवाली'; और दूसरा है, 'छू-रगड़ जाने से बालों के झड़ने के कारण क्षीण हो उठी हुई'। पर इनमें साहित्य की आत्मा एवं कालिदास की कल्पना के चित्र का अभाव है। वस्तुतः कवि का अभिप्राय यह है कि फूलों की माला की तरह सुकुमार अङ्गों में काँटे की तरह तेज़ पीड़ा की अनुभूति करानेवाले रूखे बालों के स्पर्श से क्लेश पानेवाली साध्वी को देखना। पूर्णसरस्वती इसे साध्वी प्रोषितपतिका यक्षी का विशेषण मानते हैं—"स्पर्शक्लिष्टां कुसुमदामकोमलेष्वङ्गेष्वासङ्गे कण्टकवत्प्रचण्डतोदवेदनासम्पादकेन तस्याः स्पर्शेन म्लानीकृताम्।"

(५) **एकवेणीम्**—'एका च सा वेणी च एकवेणी, ताम्। "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" (२-१-४९) इत्यनेन समासः।" प्राचीन शास्त्रों के अनसार प्रोषितपतिका के लिये शृंगार करना, नख काटना, वेणी को खोलना, बाल सँवारना और फिर से जूड़ा बाँधना आदि वर्जित था—"न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीञ्च प्रमोचयेत्।"—हारीतस्मृति। "एकवेणीधरं शिरः" की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्रोक्ति भरतमल्लिक ने ऊपर उद्धृत ही कर रखी है। सारे बालों को एक करके जूड़ा बाँध दिया जाता था। इसी को 'एकवेणी' कहते थे। पूर्ण सरस्वती ने भी लिखा है—"एकवेणीम् एकजटात्मककेशबन्धनविशेषरूपां वेणीम्।" शाकुन्तल में भी "धृतैकवेणिः" (७-२१) आया है। चन्द्रशेखर और शङ्कर ने टीका करते हुए भरत के ये उद्धरण प्रस्तुत किये हैं:—

"अमलास्ववधारणमलकानाञ्च कल्पनम्।
अनुलेपनसंस्कारन्न कुर्यात् पथिकाङ्गना॥
पाण्डुच्छाया कृशतनुर्वेणीयुतशिरोरुहा।
लम्बालका दीनवेषा विभूषणविवर्जिता॥"

(६) **करेण**—इसकी व्यञ्जना विद्युल्लता में इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—"करेण न त्वङ्गुलीभिः। अनेन स्निग्धासितबहुलबर्बरदीर्घसूक्ष्ममृदुलानां भिन्नाग्राणां च केशानां वेण्याकारेण सन्दष्टतया घनीभूय भारायमाणत्वात् करकमलेनैव यत्नतोऽपसारणीयत्वम् न पुनः अतिदुर्बलैरङ्गुलिदलैः शक्यापसारत्वमिति द्योत्यते।"

(७) **सव्यापाराम्**—'सह व्यापारैर्वर्तत इति स्त्रियां सव्यापारा, ताम्। "तेन सहेति तुल्ययोगे (२-२-२८) इति बहुव्रीहिः, "वोपसर्जनस्य" (६-३-८२) इति सहस्य सः।" यहाँ व्यापार से दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं—गृहकृत्य और ऊपर बताये गये विनोद। परन्तु अधिक अच्छा होगा यदि विनोद अर्थ लिया जाय। "प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः" के द्वारा ऊपर बताये गये 'व्यापारों, को यहाँ भी परामृष्ट करने में कवि का संरम्भ है क्योंकि विपर्यास को प्रस्तुत करते समय 'निर्विनोदाम्' पद का प्रयोग किया गया है।

(८) **साध्वीम्**—साधु शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय लगने पर 'साध्वी' शब्द निष्पन्न होता है। साध्वी और पतिव्रता परस्पर पर्याय हैं—"साध्वी पतिव्रता" (अमरकोश)। एकान्त में आधीरात अकेली यक्षी से मिलने में भुवनविदित वंश में उत्पन्न मेघ को सङ्कोच होना स्वाभाविक है। अतः इस पद का उपादान कवि ने किया है। पूर्णसरस्वती ने स्मृति का उद्धरण दिया है. . "पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम्॥" यहाँ ऐसी ही जितेन्द्रिया साध्वी से आशय है।

(९) **उन्निद्राम्**—'उद्गता निद्रा यस्याः सा, ताम्।' यहाँ समास "प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इस वार्तिक से होगा 'उद्गतनिद्राम्' और 'उन्नि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्राम्' दोनों बनेंगे। शाकुन्तल में भी—"शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः" (६-५)।

(१०) अवनिशयनासन्नवातायनस्थः—'वातायने तिष्ठतीति वातायनस्थः (उपपदसमासः)। वातस्य अयनं वातायनम्। अवनौ शयनम् अवनिशयनम्। तस्यासन्नम् अवनिशयनासन्नम्। अवनिशयनासन्नञ्च तद् वातायनञ्च अवनिशयनासन्नवातायनम्। तत्र तिष्ठतीति कप्रत्ययः—अथवा अवनिरेवशयनं यस्याः सा अवनिशयना। तस्या आसन्नवातायनस्थः तथेति।' पूर्णसरस्वती ने इसका सौन्दर्य इस तरह स्पष्ट किया हैं—"अवनिशयनासन्नवातायनस्थः क्षितितलविततमेध्याजिनादिरूपतदीयशयनप्रदेशसन्निकृष्टगवाक्षबहिर्भागस्थितः। अनेन योग्यस्थानस्थितश्च तव न कश्चिद् दोष इति सूच्यते।"

अलङ्कार—काव्यलिङ्ग की ही विच्छित्ति प्रधान रूप से प्राप्त होती है।

आधिक्षामां विरहशयने सन्निकीर्णैकपार्श्वां[1]
प्राचीमूले तनुमिव[2] कलामात्रशेषां[3] हिमांशोः[4]।
मत्संयोगः[5] [6]कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीतिनिद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्[7] ॥२४॥

पञ्चिका

अन्यच्च कीदृशीं ताम्? आधिक्षामां चित्तपीडाकृशाम्। अतएव यादृशे तादृशे विरहशयने सन्निकीर्णं क्षिप्तमेकं पार्श्वं यया। अतश्चामावास्यायां प्राचीमूले पूर्वदिङ्मुखे कलामात्रशेषां हिमांशोश्चन्द्रमसो मूर्तिमिवेत्युपमा। तथा निद्रामभिलषन्तीम्। किमर्थम्? मया सह कथं नाम स्वप्ने समागमो घटेतेति। नयनसलिलोत्पीडेन नेत्राम्बुपूरेण रुद्धावकाशां निवृत्तप्रसराम्॥८७॥

---

१. "सन्निषण्णैकपार्श्वाम्"—इति "विप्रकीर्णैकपार्श्वाम्" इति च पाठान्तरे।
२. "तनुरिव" इति पाठान्तरम।
३. "कलामात्रशेषा"—इति पाठान्तरम्।
४. "सुधांशोः"— इति पाठान्तरम्।
५. "मत्सम्भोगः"—इति पाठान्तरम्।
६. "सुखमुपनयेत्"— इति पाठान्तरम्।
७. —"रुद्धाश्रुवृत्त्या" इति पाठान्तरम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुबोधा

इदानीं पञ्चभिः श्लोकैस्तस्या अवस्थामाह—आधि। इत्थमित्थम्भूतां पश्येति सम्बन्धः। कीदृशीम्? आधिक्षामाम् आधिर्मानसी व्यथा तेन क्षामां कृशाम्। कार्श्यावस्थेयम्; यदुक्तम्—

"चक्षूरागस्तदनु मनसः सङ्गतिर्भावना च।
व्यावृत्तिः स्यात् तदनु विषयाभ्यासतश्चेतसोऽपि।
निद्राच्छेदस्तदनु कृशता निस्त्रपत्वोन्मदत्वे।
तस्मान्मूर्च्छा तदनु मरणं स्युर्दशाः प्रक्रमेण॥" इति।

क्षामत्वेनाभिलाषावस्था वा, यदाह भरतः—

"प्रथमा त्वभिलाषः स्याद् द्वितीया गुणकीर्तनम्।
अवस्था कथिता सा तु तृतीया चानुचिन्तितम्॥
परिदेवितं चतुर्थी तु पञ्चम्युद्वेगलक्षणा।
अनुस्मृतिस्तु षष्ठी स्यात् सप्तमी जडता मता॥
उन्मादाऽख्या चाष्टमी स्यान्नवमी व्याधिसञ्ज्ञिता।
मरणाऽख्या तु दशमी दशावस्था वियोगिनाम्॥" इति।
"अन्योऽन्यस्याभिलाषेण जायते तनुताऽपि च॥"

तथा विरहशयने नवपल्लवाद्यास्तीर्णभूशय्यायां, सन्निकीर्ण सम्यग् निक्षिप्तम् एकं पार्श्वं यया तादृशीम्, विस्मृतपार्श्वान्तरपरिवर्तनामित्यर्थः। एतेन विषयान्तर-व्यावृत्त्या चतुर्थीयमवस्था। उक्तार्थमेव द्रढयितुं दृष्टान्तमाह—प्राचीमूले पूर्व-दिगुपान्ते कलामात्रशेषाम् एककलाऽवशिष्टां हिमांशोश्चन्द्रस्य तनुमिव मूर्तिमिव। कृष्णचतुर्दश्यां हि प्राचीमूले चन्द्रकला दृश्यते। कलामात्रशेषामित्यनेन विरह-वेदनया कण्ठागतप्राणां मत्सन्देशकथाकौशलेन जीवयेति सूचितम्।

पुनः कीदृशीं ताम्? मत्संयोगो मया सह समागमः स्वप्नजोऽपि निद्रासम्भ-वोऽपि कथमपि केनापि प्रकारेण भवेदिति हेतोर्निद्राम् आकाङ्क्षन्तीं कामयमानाम्, अस्या निद्रैव नास्ति नापि समयप्राप्तां निद्राम् अभिलषति मम सङ्गमाऽऽशया निद्रा-मभिलषतीत्यर्थः। निद्राऽऽकाङ्क्षा तु क्षणं क्षणं निमीलनोन्मीलनाल्लक्ष्यते। निद्रां कीदृशीम्? नयनसलिलोत्पीडेन रोदनजलोत्पीडनेन, रुद्धोऽवकाशो यस्यास्ताम् बहुव्रीह्यन्तर्गतोत्प्रेक्षेयम्। विरहज्वरान्नायान्ती निद्रा निरवकाशत्वेनेव नाऽऽगच्छती-त्युत्प्रेक्ष्यते। अन्ये तु नयनसलिलस्य नेत्रजलस्य उत्पीडेन प्राचुर्येण समूहेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्ध आवृतोऽवकाशोऽवलोकनविषयो यस्याः सा तथा ताम्; नायिकाविशेषणमिद-मित्याहुः ।

मत्संयोग इत्यादिना मनःसङ्गभावनारूपे द्वे अवस्थे उक्ते, आकाङ्क्षन्ती-मित्यनेन प्रथमाऽवस्थोक्ता, "प्रथमा त्वभिलाषः स्याद्" इत्युक्तेरिति शर्वः। जाति-रूपकोत्प्रेक्षासङ्कीर्णमिदम् ।

अन्वय

आधिक्षामां विरहशयने सन्निकीर्णैकपार्श्वाम् (अतः) प्राचीमूले कलामात्र-शेषां हिमांशोः तनुमिव (अथ च) 'स्वप्नजः अपि मत्संयोगः कथम् उपनमेद्' इति निद्राम् आकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्—(तां साध्वीं पश्य) ।

हिन्दीरूपान्तर

पूरबी क्षितिज पर केवल एक कला भर बची हुई चन्द्रमूर्ति की तरह मनोव्यथा के कारण दुबली पड़ गयी हुई व विरहशय्या पर एक ही करवट पड़ी हुई (साथ ही) 'किसी प्रकार मुझसे स्वप्नजन्य संयोग ही हो जाय'—इसी से नींद चाहती हुई और नयन जल के उमड़ आने के कारण रुँध गये हुए रन्ध्रोंवाली (उस साध्वी का साक्षा-त्कार करना) ।

टिप्पणियां

(१) **आधिक्षामाम्**—"आ + √डुधाञ् (जु०) + किः ("उपसर्गे घोः किः" (३-३-९२) = आधिः। "√क्षै (भ्वा०) + क्तप्रत्ययः + टाप् = क्षामा। आधिना क्षामा आधिक्षामा ताम्।" क्षाम शब्द की निष्पत्ति "क्षायो मः" (८-२-५३) सूत्र के द्वारा होती है। आधि का अर्थ है मनोव्यथा—"पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" (अमर-कोश)। यक्ष का कथन है कि उसकी प्रेयसी वियोगजन्य मनोव्यथा के कारण दुबली पड़ गयी होगी। अप्रस्तुत पक्ष में भी कवि ने "कलामात्रशेषां तनुम्" लिख कर क्षीणता के चरम तक पहुँचा दिया है। रोहिणीपति का क्षयी रूप कितनी ही आधियों को बरबस याद करा देता है। आधि-शब्द आता भी तो कई अर्थों में है—"आधिः पुमांश्चित्तपीडाप्रत्याशावन्धकेषु च व्यसने चाप्यधिष्ठाने" (मेदिनी)।

(२) **विरहशयने**—'विरहे शयनं विरहशयनं तस्मिन्।' मल्लिनाथ ने इस पद का यही समासविग्रह प्रस्तुत किया है। परन्तु शारदारञ्जन राय ने 'विरहस्य शयनम्' लिखकर षष्ठीतत्पुरुष माना है। श्री मोरेश्वर रामकृष्ण काळे ने शाकपार्थि-वादि की तरह उत्तरपदलोपी समास माना है—"विरहानुकूलं शयनं विरहशयनम्।" श्री संसारचन्द्र ने मल्लिनाथ की टीका देकर भी विग्रह श्री शारदारञ्जन और श्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काळे के अनुसार ही देकर इन दोनों को ठीक माना है। परन्तु यहाँ पर मल्लिनाथ का ही विग्रह समीचीन है। यहाँ 'आधार' के अर्थ में सप्तमी है। भट्टोजि दीक्षित ने औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक तीन तरह के आधार माने हैं; और यदि दूरान्तिकार्थ को भी ले लें तो प्रातिपदिकार्थमात्र को लेकर चार प्रकार की सप्तमी "अधिकरणे च" में उन्होंने मानी है। हेलाराज ने 'वाक्यपदीय' की—"उपश्लेष-स्यास्त्यभेदः तिलाकाशकटादिषु"— कारिका के अनुसार उपश्लेषतत्त्व को अधि-करण के सारे भेदों में व्याप्त सिद्ध किया है। यहां संयोग और समवाय दोनों प्रकार के सम्वन्धों से भिन्न वैषयिक या गौण अभिव्यापक आधार माना जायगा; या हेलाराज के अनुसार उपश्लेषमात्र होगा। अतः यहाँ "सप्तम्यधिकरणे च" (२–३–३६) से सप्तमी ही होगी। षष्ठी यहाँ किसी भी प्रकार के स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध के न होने के कारण और निर्धारणादि के अभाव में हो ही नहीं सकती अतः षष्ठी-तत्पुरुष का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ तक उत्तरपदलोपी समास की बात है, शाकपार्थिवादि का कोई भी तत्त्व यहाँ नहीं मिलता। शाकपार्थिवादि उत्तरपद-लोप के अभाव में सिद्ध ही नहीं हो सकते। उनका बीज है पहले समस्तपद के अर्थ में उसके पूर्वपद का लक्षक होना; उसके अभाव में ये समास बन ही नहीं सकेंगे। 'शाकपार्थिवः' में 'शाकः' पद का लक्ष्यार्थ है 'शाकप्रियः'; इसी से 'प्रिय' शब्द की जरूरत ही नहीं महसूस होती। और साथ ही 'शाकप्रियपार्थिव' जैसे समस्त पद की निवृत्ति भी इसी वार्त्तिक से सिद्ध हो जाती है। यहाँ इस लक्षणा का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि मुख्यार्थबाध है ही नहीं। 'विरह' को 'विरहानुकूल' का लक्षक तो तभी माना जा सकता है जब 'विरहे शयनम्' यह विग्रह सम्भव न हो। अतः शारदारञ्जनजी, मोरेश्वरजी और संसारचन्द्रजी ने सर्वथा भ्रामक मत को प्रस्तुत करके एक बहुत बड़ा घपला पैदा कर दिया है। अस्तु, अब ज़रा विरहशयन क्या है इसे जानना ज़रूरी है। स्वयं महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के तृती-याङ्क में इसकी झाँकी प्रस्तुत की है—"एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। × × × स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणा-लैकवलयं प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।"

(३) **सन्निकीर्णैकपार्श्वाम्**—इस पाठ को वल्लभदेव और भरतसेन आदि ने समीचीन माना है। समासविग्रह ऊपर 'सुबोधा' में दिया है। मल्लिनाथ ने 'सन्निषण्णैकपार्श्वाम्' पाठ मानकर उसका विग्रहमात्र प्रस्तुत किया है—'सन्निषण्णम् एकम् पार्श्वं यस्यास्ताम्।' "√कॄ विक्षेपे" (तुदादि०) से क्त-प्रत्यय लगने पर "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" (८–२–४२) सूत्र से नकार और फिर "रषा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्यान्नोणः समानपदे" से णत्व होने पर और "ऋत इद्धातोः" (७–१–१००) से 'कीर्ण' निष्पन्न होने पर "निकामं कीर्णम्, निकीर्णम्" (प्रादितत्पुरुष)। "सम्यग् निकीर्णम्, सन्निकीर्णम्" भी "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" (वा०) से सिद्ध होगा। फिर 'सन्निकीर्णम् एकम् पार्श्वं यया' यह बहुव्रीहि समास होगा। कवि का आशय यह है कि यक्षी एक करवट पड़ गयी तो उसी करवट पड़ी रह गयी उसे प्रियतमगत-हृदया होने के कारण करवट बदलने की सुधि-बुधि ही न रह गयी। वह चित्रलिखित सी वैसी की वैसी ही पड़ी रह गयी। पूर्णसरस्वती के शब्दों में—"प्रियतमगत-हृदयतया पार्श्वान्तरपरिवृत्तिविरहेण एकेनैव पार्श्वेन लिखितवदवस्थानं व्यज्यते।"

(४) **कलामात्रशेषाम्**—'कला एव कलामात्रम्। "मयूरव्यंसकादयश्च (२–१–७२)" इत्यनेन निपात्यते। कलामात्रं शेषः यस्यास्ताम्।' मात्रच् समूचे और सिर्फ़ के अर्थों में आता है—"मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे"—(अमरकोश)। कला षोडशांश को कहते हैं—"कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोड-शांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः॥"—(मेदिनीकोश)। चन्द्रमा की मूर्ति का केवल सोलहवां भाग पूर्वदिशा के क्षितिज पर बच रहा है। कवि की कल्पना कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की शशिकला को सामने ला रखती है। और इसी अप्रस्तुत के द्वारा यक्ष अपनी प्रियतमा का सारा चित्र मनःपटल पर अङ्कित करा देता है। विरहवेदना के कारण कण्ठागतप्राणा एवं कृशाङ्गी यक्षाङ्गना की मादक मूर्ति सहज ही उभर आती है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में—"सुरपरिपीतकलान्तरत्वाद् एक-कलात्मिकाम् अमावास्यायामिन्दुमूर्तिमिवेत्यर्थः। उपमया प्रकृतिकोमलत्वम्, तादृशे कृशत्वेऽपि अपरिलुप्तलावण्यत्वम्, रसिकजनहृदयशल्यायमानकष्टदशाविशिष्टत्वं चेष्टतमाया द्योत्यते।" इतनी वस्तुव्यञ्जनाएँ एक औपम्य के द्वारा कालिदास ही प्रस्तुत कर सकते हैं। भवभूति ने भी—"निकामं क्षामाङ्गी सरसकदलीगर्भ-सुभगा कलाशेषा मूर्तिः शशिनइव नेत्रोत्सवकरी (मा० मा०)" लिखा है। परन्तु उसमें न तो विप्रयोग की परप्रह्लादनता है और न 'हिमांशु' की शीतलता। यदि कुछ है तो केवल "शशी" की कलङ्किता। और साथ ही 'सरसकदलीगर्भ-सुभगता' का अप्रस्तुतपक्ष से नितान्त असम्बन्ध कलाकौशल की दृष्टि से बहुत ही खटकता है।

(५) **मत्संयोगः—नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्**—वल्लभदेव के अति-रिक्त अन्य टीकाकारों ने दूसरे दल का पाठ ऐसा न रख कर "नीता रात्रिः क्षण-मिव मया सार्धमिच्छारतैर्या तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्" यह माना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। परन्तु "अश्रुभिर्यापयन्तीम्" का बहुवचन तभी सार्थक माना जा सकता है जबकि पहले "नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्" आ चुका हो। आँसुओं से रात काटने की बात नेत्रों के रन्ध्रों में आँसुओं के भर आने के पहले तो क्रमव्यत्यास को ही प्रस्तुत करेगी और कुछ नहीं। नींद चाहने की बात पहले आयेगी और फिर नींद न आने पर रातें विरह के कारण बहुत लम्बी लगेंगी न कि इसके विपरीत। साथ ही वल्लभदेव का पाठ प्राचीनतम होने के कारण भी अधिक मान्य है। मल्लिनाथ ने "नयनोत्पीडरुद्धावकाशम्" को "निद्राम्" का विशेषण माना है परन्तु ऐसी नींद को भी क्या कोई चाह सकेगा?"

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं[1]
शुद्धस्नानात् परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्[2]।
नीता रात्रिः क्षण[3]इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरह[4]शयनेष्वश्रुभिर्यापयन्तीम्[5] ॥२५॥

पञ्चिका

दीर्घोष्णत्वादोष्ठपल्लवदाहिनोच्छ्वासेनालकं नूनमुत्क्षिपन्तीम् अपास्यन्तीम्। कीदृशम्? शुद्धस्नानात् पानीयमात्राभिषेकेण परुषं रूक्षम्। यदि हि सा मङ्गलार्थं कदाचित् स्नाति तत् सुरभितैलामलकादिशून्येन तोयमात्रेण। आगण्डं लम्बत इत्यागण्डलम्बं कपोलस्रस्तम् तथा मया सहेच्छारतैर्या निशा क्षणवदतिवाहिता तामेवोष्णैर्बाष्पैर्विरहशय्यायां रोदनेन मासमिव यापयन्तीं नयन्तीम् ॥८८॥

सुबोधा

निःश्वा। पुनः कीदृशीं ताम्? नूनं निश्चितं सम्भावयामि वा, ऋतुशुद्ध्यर्थस्नानाद् हेतोः निःश्वासेन नासापुटनिर्गतेन वायुना अलकं चूर्णकुन्तलं विक्षिपन्तीं विकीर्णयन्तीम् इतस्ततः प्रापयन्तीम्। शुद्धमिति भावे क्तः। ऋतुस्नाता हि राग-

---

१. "विक्षिपन्ती"—इति पाठान्तरम्। २. "नूनमागण्डलम्बि"—इति पाठान्तरम्। ३. "क्षणमिव"—इति पाठान्तरम्। ४. "विरहजनितैरश्रुभिः" इति "विरहशयनेष्वश्रुभिः" इति "विरहगुणितैरश्रुभिः" इति "विरहपरितैरश्रुभिः" इति च पाठान्तराणि। ५. "यापयन्ती"—इति पाठान्तरम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वती भवति। अतएव निःश्वासोष्णताप्राबल्यातिकष्टदायित्वमाह। कीदृशेन निःश्वासेन? अधरकिशलयक्लेशिना अधर एव कोमलारुणत्वाभ्यां किशलयं नवपल्लवस्तं क्लिश्नाति पीडयतीति णिनिः अधरकिशलयस्य क्लेशः शोषवैवर्ण्यविदीर्णत्वात्। अलकं कीदृशम्? शुद्धस्नानात् परुषं शुद्धाय इतौ शुद्धाय गन्धाऽमलकादिशून्यं च यत् स्नानं तस्माद् रूक्षम्, तथा आगण्डलम्बं गण्डस्थलगामिनं कर्तनतैलमार्जनाद्यभावात्। आगण्डं गण्डस्थलपर्यन्तं लम्बते लुठतीति पचादित्वादच्। शुद्धस्नानादित्यस्य निःश्वासेनेत्यनेन परुषमित्यनेन च काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बन्धो बोध्यः। प्रोषितभर्तृकाणामृतुस्नाने दुःखनिःश्वासो भवत्येव। तथा च—"ऋतुस्नाताः सनिःश्वासं स्मरन्ति गतभर्तृकाः। कान्तमत्यन्तसञ्जातमदनावेशविक्लवाः॥" इति। विरहिण्याः अलकपरुषत्वादिकं युक्तमेव। तथा च—"न भूषणन्नैव मृजा नालकानाञ्च कर्तनम्। नानुलेपं न संस्कारं कुर्वन्ति प्रोषिते पतौ।" इति एवं विरहिण्या विनिद्रत्वमश्रुपूर्णनेत्रत्वञ्च भवत्येव। तथा च—"विनिद्रा बाष्पपूर्णाक्षा गमयन्ति निशाश्च ताः।" इति। तथा च या रात्रिर्मया सार्धं सह, इच्छारतैर्वाञ्छासुरतैरभीष्टपुरुषायितचित्रवत्पार्श्वरतोत्तानरतादिभिः क्षणमिव नीता गमिता सुखानुभवेन बहुकालस्याल्पत्वबुद्धया ग्रहणात्, तामेव रात्रिं विरहजनितैर्विच्छेदोत्पादितैरत एव उष्णैरशीतलैरश्रुभिर्नेत्रजलैर्यापयन्तीं प्रेरयन्तीम्। यापनं कालहरणमुच्यते इति वृद्धाः। एतेन विरहयातनया रात्रेर्दैर्घ्यं सूचितम्। उक्तञ्च—"उन्निद्राया रुदत्याश्च रात्रिर्वर्षशतोपमा" इति। एतेन निद्राच्छेदरूपा दशा दर्शिता। क्षणमिति लोकोक्त्या अल्पकालोपलक्षणम्।

यद्यप्यमरकोषादौ "तास्तु त्रिंशत् क्षण" इति क्षणशब्दस्य पुंस्त्वं दृष्टं तथाऽपि "क्षणमिव गमितो वासरो वासरेण" इति "नीता रात्रिः क्षणमिव मया" इत्यादिप्रयोगदर्शनात् क्षणशब्दोऽर्धर्चादौ पठनीय इति कलिङ्गः। क्षणइवेति युक्तः पाठः। इति शर्वः। तामिति सादृश्यदर्शनाल्लोकोक्त्या,

"यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।"

"स एव वर्षासमयः समागत" इत्यादिवद् बोद्धव्यम्। जात्युपमासङ्कीर्णमिदम्।

अन्वय

शुद्धस्नानात् परुषम् आगण्डलम्बम् अलकम् अधरकिसलयक्लेशिना निःश्वासेन नूनं विक्षिपन्तीम् (अथ च) या रात्रिः मया सार्धम् इच्छारतैः क्षणइव नीता तां विरहमहतीं (रात्रिम्) एव उष्णैः अश्रुभिर्यापयन्तीं (तां साध्वीं पश्य)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दीरूपान्तर

केवल जल से स्नान करने के कारण सम्भव है कि एक खुरदुरी और गाल तक लटक आयी हुई घुँघराली लट को अधरपल्लव को झुलसा देनेवाली लम्बी साँस से हटा देती हुई (और) जो रात कि मेरे साथ मनचाहे ग्राम्यधर्मों के द्वारा एक क्षण-सी बितायी गयी थी विरह के कारण बहुत लम्बी (पहाड़) हो उठी हुई उसी (रात) को गरम-गरम आँसुओं में काटती हुई (उस सतीसाध्वी को देखना)।

टिप्पणियाँ

(१) **शुद्धस्नानात्**––मल्लिनाथ ने शुद्धस्नान का अर्थ तैलादि से रहित स्नान माना है—"शुद्धस्नानात् तैलादिरहितस्नानात्।" इनके अनुसार इसका समास-विग्रह—"शुद्धञ्च तत् स्नानञ्च शुद्धस्नानं तस्मात्।" पूर्णसरस्वती के अनुसार शुद्धस्नान का तात्पर्य तैल; आमलकी आदि के प्रयोग से रहित व्रत के लिये किये गये स्नान से है—"शुद्धस्नानात् स्नेहाभ्यञ्जनस्नानीयलेपविरहेण नियमार्थम् अभिषेकात्।" इन दोनों टीकाकारों ने शुद्ध का अर्थ 'केवल' लिया है परन्तु भरत-सेन ने इसका अर्थ 'पूत' लिया है—"शुद्धः केवलपूतयोः"—(अनेकार्थसङ्ग्रह)। उन्होंने पवित्र होने के लिये किये गये स्नान का अर्थ लिया है, उनका आशय ऋतु-स्नान से है। उनके अनुसार समासविग्रह—'शुद्धाय स्नानं शुद्धस्नानम् है।' परन्तु इस प्रकार के अर्थ को देने के बाद उन्होंने भी मल्लिनाथ और पूर्णसरस्वती आदि की तरह का ही अर्थ किया है। वस्तुतः मल्लिनाथादि का अर्थ कम समीचीन नहीं है। दूसरे अर्थ की अन्विति कवि को कम अभीष्ट नहीं क्योंकि दूसरे दल का अर्थ उसी पर पूर्णतः आधारित है।

(२) **आगण्डलम्बम्**––'गण्डाद् आ, आगण्डम्। "आङ्मर्यादाऽभिविध्योः" (२–१–१३)। लम्बत इति लम्बः। "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" (३–१–१३४) इत्यच्। आगण्डं लम्बः, आगण्डलम्बः ('सुप्सुपा'-समासः)।' कपोल तक लटकते हुए केश को। विशेष्यपद 'अलकम्' का एकवचन जाति के अर्थ में है। घुँघराले बालों के तैलहीन एवं कड़े पड़ जाने के कारण लच्छे टूट गये होंगे और वे कुछ लम्बे हो चले होंगे—"उपेक्षया भङ्गुरभङ्गिभङ्गात् प्रगुणायतमित्यर्थः।" परन्तु भरतसेन की उक्ति से कुछ और ही बात जाहिर होती है। उन्होंने उसके प्रमाण में एक प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया है। 'प्रोषितपतिका न तो अलकों को अलङ्कृत कर सकती थी, न उनको आमलकी आदि से मल-मींज सकती थी, न उनको काट-छाँट सकती थी, न उनमें तैलादि डाल सकती थी और न उन्हें प्रसाधित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर सकती थी।' भरतसेन ने इस उक्ति के आधार पर यक्षी के अलकों के काटे-छाँटे न जाने के कारण ही उनकी आकपोल लम्बता मानी है। प्रवास के कारण आठ महीने तक न कटाये जाने के कारण कपोल तक बढ़ पाये। इससे लगता है कि सम्भवतः कालिदास के समय में भी पौराङ्गनाएँ या कम से कम यक्षसुन्दरियाँ अवियुक्तावस्था में केशों की वॉबिङ्ग जैसी छँटायी अवश्य कराती रही होंगी।

(३) **अधरकिसलयक्लेशिना**—'अधरः किसलयमिव, अधरकिसलयम्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" (२–१–५६) इत्यतः समासः। अधरकिसलयं क्लेशयति क्लिश्नाति-इति वा तेन। क्लिश्यतेर्ण्यन्तात् क्लिश्नातेरण्यन्ताद् वा ताच्छील्ये णिनिः।' श्री संसारचन्द्र ने श्री मोरेश्वर काळे के अनुसार पहले पद का समासविग्रह "अधरः किसलयइव अधरकिसलयः" दिया है। परन्तु 'किसलय' शब्द नपुंसक है अतः वह विग्रह सर्वथा उपेक्षणीय है। अमरकोश में "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्" लिखा है। लिङ्गानुशासन प्रकरण में भी कहा गया है—"किसलय-हृदयेन्द्रियोत्तरीयाणि नपुंसके"—(८७)। भरतमल्लिक ने उपमालङ्कार न मान-कर रूपक माना है और विग्रह 'अधर एव किसलयम् अधरकिसलयम्' दिया है। परन्तु कविसंरम्भ निरङ्गरूपक में लगता ही नहीं क्योंकि किसलय के क्लेश से भला क्या तात्पर्य निकलेगा? यहाँ कवि को किसलय के तुल्य कोमलता एवं लालिमा से अधर को संवलित दिखाकर गरम और लम्बी साँस से उसका कुम्हला जाना और साथ ही धूसर हो उठना दिखाना अभीष्ट है। मुलायम होठों को विरह की गरम साँस से जो तकलीफ़ हो रही है उसी में कविसंरम्भ है। बाल उस लम्बी साँस से उड़कर मुँह के सामने से हट जाता है।

(४) **क्षणइव**—'क्षणः इव क्षणइव। "इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्य-लोपश्च" (वा०)।' 'छिन या पल सी'। यहाँ 'इव' उत्प्रेक्षावाचक है। कवि को अभीष्ट अध्यवसाय है, और वह भी एक पूरी रात पर है अतिपष्ठकाल क्षण का। 'क्षण' कितने समय को कहते हैं इसमें बड़ा मतभेद है। सामान्यतः निमेषसमय को 'क्षण' कहते हैं। अमरसिंह ने ३० कला या करीब ४ मिनट के समय को 'क्षण' माना है। श्रीमद्भागवतपुराण (३–११–७,८) में जो मान दिया गया है उसे देखते हुए 'क्षण' लगभग ४/५ सेकेंड का होता था। डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने न्याय के अनुसार इसे ४/२५ सेकेंड के बराबर बताया है। कालिदास का भी इसी न्यायमतानुसारी 'क्षण' की ओर अभिनिवेश प्रतीत होता है। 'क्षण' पुल्लिङ्ग है—"तास्तु त्रिंशत् क्षणः—"—(अमरकोश)।

(५) **या-ताम्**—"या यज्जातीया तामेव तज्जातीयामेव—" दक्षिणावर्तनाथ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कारादि—यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा का सङ्कर प्रथम दल में तथा उत्प्रेक्षा और विरोध का सङ्कर द्वितीय दल में है। भवभूति ने इसी अर्थ को —"अशिथिल-परिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्" में प्रस्तुत किया है।

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं[1] सन्निवृत्तं तथैव[2]।
चक्षुः खेदात् सजलगुरुभिः[4] पक्ष्मभिश्छादयन्तीं[5]
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम्[6] ॥२६॥

पञ्चिका

सबाष्पत्वाद् गुरुभिर्दुःसहैः पक्ष्मभिर्लोमभिः खेदाच्चक्षुराच्छादयन्तीं स्थगयन्तीम्। कीदृशम्? पीयूषशीतलान् वातायनप्रविष्टान् इन्दोः पादान् किरणान् पूर्वप्रीत्या सम्मुखं गतं प्रसृतम्। ततो मद्विरहेण खेदकारित्वात्तथैव सन्निवृत्तम्। यद्वदेव रभसाद्गतं तद्वदेव प्रत्यागतमित्यर्थः। अतश्चाक्ष्णोः स्थगनान्न प्रबुद्धां न सुप्ताम्। नेत्रनिमीलनात्प्रबोधाभावो निद्राभावश्च स्वापशून्यतया। अतश्च साभ्रेऽहनि स्थलकमलिनीमिवेत्युपमा। सा हि साभ्रत्वान्न प्रबुद्धा दिनवशाच्च न सुप्ता। पूर्ववात्र वाक्यत्रये क्रिया॥८९॥

सुबोधा

पादा। पुनः किम्भूतां ताम्? सलिलगुरुभिः क्रन्दनजलदुर्वहैः पक्ष्मभिरक्षिलोमभिश्चक्षुः खेदात् अधिकोद्वेगात् छादयन्तीं पिदधतीम्। खेदकारणमाह। चक्षुः कीदृशम्? इन्दोश्चन्द्रस्य पादान् रश्मीन्, पूर्वप्रीत्या प्राचीनप्रेम्णा, अभिमुखं सम्मुखं गतं प्राप्तं खेदात् तथैव सन्निवृत्तं यथैव गतं तथैव सम्यग् व्यावृत्तम्। तथा बाष्पयोगात् पक्ष्मभिरुच्छूननयनतया न सुप्तां निद्राणां नापि प्रबुद्धां जाग्रतीं छादितनेत्रत्वात् न प्रबुद्धा, प्रतिक्षणनिमीलनवत्त्वात् न सुप्तेति भावः। अतएव साभ्रे समेघे अह्नि दिवसे स्थलकमलिनीमिव स्थलपद्मिनीमिव।

---

१. "गतमपसुखम्" इति, "गतमपि ततः" इति, "अभिमुखगतम्" इति च पाठान्तराणि, २. "तदैव" इति पा०। ३. "खेदाच्चक्षुः" इति पा०। ४. "सलिलगुरुभिः" इति पा०। ५. "छादयित्वा" इति, "छादयन्ती" इति च पाठान्तरे। ६. "—कमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता" इति, "न प्रबुद्धां न सुप्ताम्" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्वय

जालमार्गप्रविष्टान् अमृतशिशिरान् इन्दोः पादान् पूर्वप्रीत्या (यथा) अभि-मुखं गतं तथा एव सन्निवृत्तं चक्षुः खेदात् सजलगुरुभिः पक्ष्मभिः छादयन्तीम् (अतएव), साभ्रे अह्नि न-प्रबुद्धां न-सुप्तां स्थलकमलिनीमिव (तां साध्वीं पश्य)।

हिन्दीरूपान्तर

झरोखों के रास्ते अन्दर आ गयी हुई सुधाशीतल चन्द्रकिरणों की ओर पहलेवाले प्रेम के कारण जानेवाली फिर वैसे ही लौट आनेवाली आँख को कष्ट के कारण साश्रु होने से भारी पलकों के द्वारा मूँदती हुई अतः घिरी-घटाओं के दिन अनखिली और अनमुँदी स्थलकमलिनी के तुल्य (अनजागी और अनसोयी) उस सती-साध्वी को देखना।

टिप्पणियाँ

(१) **जालमार्गप्रविष्टान्**––'जालानि एव मार्गाः जालमार्गाः। तैः प्रविष्टाः। तान्।'' जाल का यहाँ अर्थ है रोशनदान, झरोखा या गवाक्ष। वातायन पर तो मेघ बैठा है उधर से चन्द्रकिरणों के आने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर के झरोखों या 'वेंटीलेटर्स' से 'स्थितहरशिरश्चन्द्र' की किरणें कमरे में पहुँचती होंगी ऐसा यक्ष का अनुमान है। 'गवाक्ष' अर्थ अमरकोश-सम्मत है––''जालं समूह आनायो गवाक्ष-क्षारकावपि।'' श्रीशारदारंजन और तदनुयायी श्रीसंसारचन्द्र ने 'जालः एव मार्गः' विग्रह दिया है पर वह नितान्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि 'जाल' शब्द ऊपर बताये गये चारों ही अर्थों में नपुंसकलिङ्ग है। मेदिनीकोश के अनुसार केवल कदम्ब के पेड़ के अर्थ में पुल्लिङ्ग होता है––''जालं गवाक्ष आनाये क्षारके जन्मवृन्दयोः। जालो नीपद्रुमे।''डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ जाली लिया है पर वह यहाँ अनुपयुक्त है। न तो वह अर्थ कोश-सम्मत है और न वह कवि की कल्पना से सङ्गत ही प्रतीत होता है। जाली वातायन में लगी है तो वहाँ मेघ ही विद्यमान है उधर से चन्द्रकिरणें आ ही नहीं सकतीं। यदि जाली दरवाज़ों में लगी मानी जाय तो उनके आधीरात के समय एकाकिनी प्रोषितपतिका के घर में खुले रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि वह झरोखों या वेंटीलेटर्स में लगी है तो जाल का अर्थ जाली मान लेने पर झरोखे का अर्थ किस शब्द से ग्रहण किया जायगा? इसलिये झरोखा या रोशनदान अर्थ ही समीचीन है जाली नहीं। यदि उन्होंने लिङ्गविपरिणाम अर्थाभेद में करने का प्रयास किया हो तो वह तो संस्कृत के अनुसार नितान्त अनु-चित प्रतीत होता है। क्योंकि अमरकोश में 'जालम्' शब्द अलग पठित है और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'जाली' अलग। 'जालम्' के अर्थ ऊपर दिये जा चुके हैं। 'जाली' शब्द 'तोरई' के लिए आता है—"ज्यौत्स्नी पटोलिका जाली।"

(२) **अमृतशिशिरान्**—इसका विग्रह श्रीशारदारञ्जन ने इस प्रकार दिया है—"अमृतमिव शिशिराः, तान्।" परन्तु इस प्रकार के औपम्य में लिङ्ग और वचन दोनों के दोष दिखायी देंगे। दूसरे सुधांशु के पादों में 'सुधा' तो स्वतः प्रस्तुत रूप से उपस्थित है ही फिर उसे कालिदास-जैसा महान् कलाकार क्योंकर अप्रस्तुत रूप में उपन्यस्त करेगा? पुराने टीकाकारों ने भी इस तरह की अनुचितौपम्यसंवलित अप्रस्तुतयोजनावाले विग्रह को नहीं प्रस्तुत किया। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"अमृतशिशिरान् पीयूषमयत्वेन शीतलान्।" ऐसा ही तृतीयातत्पुरुष अन्य टीकाकारों ने भी दिया है। मल्लिनाथ आदि ने कोई भी विग्रह नहीं दिया। श्री काळे महाशय ने भी लिखा है—"अमृतेन शिशिराः, तान्।" शशिकिरणें सुधामयी होने के नाते शीतल हैं। अतः विरहिणी की आँखें शीतलता की खोज में उधर बरबस चली जाती हैं। आखिर आँखें भी तो ऊपर उठती हुई अधरकिसलयक्लेशी साँसों से क्लिष्ट होती रही होंगी। फिर इस शिशिरता का आतिशय्य ध्वनित करने के लिये ही कवि ने 'पादान्' को बहुवचन में रखा है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि आँख को उधर जाकर भी लौट आना पड़ रहा है क्योंकि विरहिणी के लिये शीतरश्मि असह्य हो उठता है।

(३) **इन्दोः पादान्**—जिस विरहिणी के निःश्वास उसके अधरों को झुलसाये दे रहे हों उसका इन्दुपादों की ओर अभिमुख होना स्वाभाविक ही है। इन्दु है ही क्लिन्न करके शीतल बनानेवाला। 'उन्दी क्लेदने' (रुधादि०) से "उन्देरिच्चादेः" सूत्र (उणादि १-१२) लगने पर इन्दु निष्पन्न ही होता है। 'पाद' शब्द की भी निष्पत्ति 'पद गतौ' (दिवादि०) से अधिकरण या करण के अर्थ में घञ्प्रत्यय लगने पर होती है। ऐसे इन्दुपादों की ओर उस विरहिणी की उष्णाश्रुसम्भृत आँख का जाना समीचीन ही है। "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" (अमरकोश)।

(४) **तथैव**—उसी तरह। 'तद्'—शब्द से "प्रकारवचने थाल्" प्रत्यय लगने पर 'तथा' शब्द निष्पन्न होता है। 'तथैव' का आशय यह है जिस तरह उष्णाश्रुपरिप्लुत नेत्र चन्द्रपादों की ओर गया था वैसा ही लौट आया। 'इन्दु' की क्लेदनता एवं अमृतशिशिरता आदि से बिना लाभान्वित हुए ही वह जैसे का तैसा उष्णाश्रुओं से परिपूर्ण एवं प्रबलरुदितोच्छून ही लौट आया। 'विद्युल्लता' के शब्दों में—"तथैव तत्रानासादितरसतया गमनदशातो निर्विशेषत्वाद् झटित्येव निवारितप्रसरमित्यर्थः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) **स्थलकमलिनीम्**—जल या पङ्क के अतिरिक्त भूमिमात्र में प्ररोहित होनेवाले कमल को स्थलकमल कहते हैं। पाणिनि के अनुसार कमलस्थली को 'कमलिनी' 'अब्जिनी', 'पद्मिनी' 'नलिनी' 'सरोजिनी' आदि कहते हैं। सूत्र है—"पुष्करादिभ्यो देशे" (५-२-१३५)। पुष्करादिगण में आनेवाले प्रातिपदिकों से समुदाय से देश का अर्थ अभिधीयमान होने पर 'इनि' प्रत्यय होता है। इसी प्रकार स्थलकमलों के समूहवाली स्थली को स्थलकमलिनी कहेंगे। यक्षाङ्गना के अवनिशयना होने के नाते उसकी तुलना स्थलकमलिनी से कवि ने की है। उसके मुख, नयन, करचरणादि के कमलवत् होने के कारण उसे कमलिनी ही बना दिया गया है। सौन्दर्य एवं सौकुमार्य के अतिशय की व्यञ्जना इस औपम्य से हो जाती है। साथ ही यह प्रश्न उठता है कि कालिदास ने अन्य कवियों की तरह स्थलकमलकान्ति-आदि क्यों नहीं लिखा क्योंकि प्रबुद्धता-सुप्ततादि तो स्थलकमल के धर्म हैं स्थलकमलनी के नहीं। यहाँ यह उक्ति अवयवधर्म को अवयविनी के ऊपर आरोपित करके उपचार से प्रसृत हुई है और उसका प्रयोजन है असमग्रविकास एवं दरदलितदल-सम्पुट के आतिशय्य को अभिव्यक्त करना। महाराज श्रीहर्ष ने भी सरोरुहिणी की आश्वासना, मुद्रण व विकास को प्रस्तुत किया है:—

"यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
आश्वासनामयमतीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥"

(६) **नप्रबुद्धां नसुप्ताम्**—दोनों पदों में नञर्थक 'न' पद के साथ सुप्सुपा समास है। मल्लिनाथ ने लिखा है—"नप्रबुद्धां मेघावरणादविकसितां नसुप्ताम् अहरित्यमुकुलिताम्। उभयत्रापि नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः।" परन्तु दोनों पक्ष के अर्थ पूर्णसरस्वती ने ही स्पष्ट किये हैं—"नप्रबुद्धाम् प्रकृष्टबोधरहिताम्। निमीलितनयनत्वात् तीव्रदुःखाभिघाततिरस्कृतबाह्यविषयपरिज्ञानत्वाच्च। अन्यत्र निरर्गलतरणिकरसंसर्गसुखविरहाद् असमग्रलब्धविकासत्वात। नसुप्तां निखिलेन्द्रियविश्रमजनकस्य निद्रारसप्रसङ्गस्य भङ्गात्। अन्यत्र दिवसस्वाभाव्यादेव दरदलितदलसम्पुटत्वमात्रविशिष्टत्वात्॥"

अलङ्कार—विरोध एवं उपमा अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर।

कथमेवं विधामेतामवस्थामवैषीत्याह—

जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थम्भूतां प्रथमविरहे तामहं[1] तर्कयामि।

---

१. "त्वत्सखीं तर्कयामि" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाचालं मां न खलु [1]सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते [2]निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया तत् ॥२७॥

पञ्चिका

तस्या भवद्वयस्याया यतो मयि मनः सम्भृतस्नेहम् अतिप्रीतिमद्, अतः कारणादित्थम्भूताम् एवंविधां दशामवाप्तां तामहमाद्यवियोगे तर्कयाम्युत्प्रेक्षे। न च स्नेह एव त्वयि तस्या नास्तीति वक्तुं युज्यत इत्याह। सुभगमिष्टमात्मानं मन्यते सुभगम्मन्यः। तद्भावो मां नैव वाचालं यत्किञ्चनभाषिणं कुरुते। तस्माद् यत्तव मयोक्तमेतदशेषं तवाचिरात् प्रत्यक्षम्। अवश्यं त्वमेवंविधां तां द्वित्रैर्दिनैर्द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥९०॥

सुबोधा

ननु वैकल्येन त्वमेवं ब्रवीषि सा तु पुरुषान्तरं गतैव, यदुक्तम्—"प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति" इत्याशङ्क्याह—जाने। हे भ्रातर्मेघ तव सख्या मत्कान्ताया मयि मद्विषये सम्भृतस्नेहम् उपचितप्रेम मनश्चित्तम् अस्मादतः कारणादहं जाने वेद्मि। किंवा मनसा सम्भृतं सम्यग् वृत्तं स्नेहं जानामि। यतः प्रथमविरहे पूर्वानुभूतविश्लेषे इत्थम्भूताम् उक्तप्रकारप्राप्तां तामहं तर्कयामि अवधारयामि। कदाचिदसम्बद्धप्रलापादेवमाविष्करोतीत्याह—सुभगम्मन्यभावः। अमुमेवार्थं द्रढयन्नाह—यत् मया उक्तं कथितं तत् निखिलं सर्वम्, अचिरात् शीघ्रमेव सम्प्रत्येव, प्रत्यक्षं गमनमात्रेणानुभवसिद्धं भविष्यतीत्याक्षेपात्। सख्या इति प्रेमपात्रोपलक्षणम्। तेन भ्रातरिति सम्बोधनम्। प्रथमेति आद्यविरहे यादृक् सुदुःसहदुःखम् आवृत्ते विरहे तादृक् दुःखाभाव इति प्रथमग्रहणम्। खलु निश्चये वाक्यालङ्कारे वा। आत्मानं सुभगं मन्यते इति सुभगम्मन्यः, "खश्चात्मानने" इति खः, तस्य भावः स तथा। सुभगं मन्युभाव इति पाठे मन्युः शोको विरहयातनेत्यर्थः, तस्य भावः तत्ता, सुभगं प्रेयांसं माम्, वाचालं करोति, सुभगतया नैवं ब्रवीमीत्यर्थः। सुभगं सत्यवादिनम्, शोकवानप्यहं सत्यं वदामीत्यर्थः इत्यन्ये। अचिरादिति शीघ्रगमने हेतुः। हेतुरलङ्कारः ॥

---

१. "सुभगं मन्युभावः" इति, "सुभगं मन्यमानः" इति च पाठान्तरे।
२. "सकलमचिरात्" इति पा०।
३. "मया यत्" इति "मयेति" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्वय

हे भ्रातः ! तव सख्याः मनः मयि सम्भृतस्नेहं जाने। अस्मात् प्रथमविरहे ताम् इत्थम्भूताम् अहं तर्कयामि। सुभगम्मन्यभावः मां वाचालं न करोति खलु यद् मया उक्तं (तद्) निखिलम् अचिरात् ते प्रत्यक्षम् (भविष्यति)।

हिन्दीरूपान्तर

(यह) जानता हूँ भैया ! कि तेरी सखी का हृदय मेरे प्रति परिपूर्णानुराग है, इसी से पहले वियोग में उसे मैं इस तरह की हो उठी हुई मानता हूँ। अपने को सुभग समझने का भाव मुझे बड़बोला नहीं बना रहा है बल्कि मैंने जो कुछ कहा है वह सब-का-सब शीघ्र ही तुम्हारी आँखों के सामने आयेगा।

टिप्पणियाँ

(१) **तव सख्याः**—स्वभाव से पवित्र आचरणवाली होने के नाते मेरी प्रियतमा तुम्हारी सखी होने योग्य है। यक्ष कहता है कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह ऐसी-वैसी स्त्री नहीं है जो अपनी धोखेबाजी से मुझे प्रवञ्चित करके स्नेहभाजन बन गयी हो। वह तो वाल्मीकि के शब्दों में "अनन्या" है (अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा) उसका हृदय मेरे प्रति सम्भृतस्नेह है। कालिदास का यह एक प्रिय पदोच्चय है। उदाहरणार्थ देखें ऊपर बारहवें छन्द में—"एकः **सख्यास्तव** सह मया वामपादाभिलाषी।" मेघ आपत्तिमित्र होने के कारण उत्तम कोटि का सखा है। अतः यक्ष उसका सखा हुआ। उसकी पत्नी भी मेघ की इसी सम्बन्ध से सखी ही होगी। ऐसे व्यवहार पुरातन हैं। महाभारत में—"तव कृष्ण, प्रिया सखी।" विष्णुपुराण में भी—"इत्युक्तो वै निववृते देवराजः तया द्विज। प्राह चैनामलञ्चण्डि ! सखि ! खेदातिविस्तरैः॥" एक और भी पदोपादानसौन्दर्य यहाँ उपलब्ध होता है और वह है 'सखी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। "समाना ख्यायते जनैः।'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उणादि० ४. १३७) इतीण् डित् समानस्य स च। 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (४–१–६२) इति ङीष्।" वह मेरे प्रति सम्भृतस्नेह और तुम भी; वह है नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा और तुम भी हो सलिलोत्पीडसम्भृत; वह भी नयनसलिलमोचिनी है और तुम भी नवजलमयास्रमोची हानेवाले हो। अतः 'तव सख्याः' सार्थक है।

(२) **इत्थम्भूताम्**—"इदम्+थम=इत्थम्। "इदमस्थमुः" (५–३–२४)।" प्रकारवचन के अर्थ में 'इदम्' और 'एतद्' से 'थमु ऊपर प्रत्यय लगता है। वार्तिक के अनुसार 'इत्थम्' पद 'एतद्' से भी निष्पन्न होता है—"एतदोऽपि वाच्यः।" 'इदम्'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और 'एतद्' दोनों का 'इत्' आदेश हो जाता है—"एतेतौ रथोः (५-३-४)"। भू+क्त+टाप्=भूता। 'इत्थम् भूता, इत्थम्भूता।' "सह सुपा (२-१-४)" इति समासः। ताम्। "लक्षणेत्थम्भूताऽऽख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः" (१।४।९०) इत्यतः प्रयोगोऽयन्निपात्यते।

(३) वाचालम्--बहुभाषी के अर्थ में 'वाच्' से आलच् और आटच् प्रत्यय लगते हैं। पाणिनि का सूत्र है—"आलजाटचौ बहुभाषिणि (५।२।१२५)"। वार्तिक से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आलच् या आटच् कुत्सित-बहुभाषण के अर्थ में लगते हैं—"कुत्सित इति वक्तव्यम्।" सम्यग् ढंग से बहुभाषण करनेवाले को 'वाग्मी' कहते हैं। आशय यह कि 'वाचाल' उसे कहते हैं जो बेहूदे ढंग से बहुत बोला करता है। 'अमरकोश' का कथन है—"स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहु-गर्ह्यवाक्।' एक बात ध्यान देने की है कि कालिदास ने यह प्रयोग पाणिनि के सूत्रानुसार किया है न कि वार्त्तिक के अनुसार। यहाँ पर कोई भी कुत्सित बात यक्ष ने न तो अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में कही और न मेघ के और न ही अपने ही सम्बन्ध में। अतः 'वाचाल' का यहाँ तात्पर्य बहुभाषी-मात्र से है। 'अमरकोश' का भी काल कालिदास के बाद का ही होना चाहिए। क्योंकि वह भी वार्तिकानुसारी अर्थ ग्रहण करता है। कालिदास ने यहाँ पर यक्ष से उसके लिये 'वाचाल' का प्रयोग अधिकवर्णनपरता के अर्थ में ही कराया है। पूर्णसरस्वती ने इसका भाव ठीक ही स्पष्ट किया है—"वाचालं बहुभाषिणं तद्विरहदशावर्णनवचनमुखरमित्यर्थः।" मल्लिनाथ ने भी—"मां वाचालं बहुभाषिणं न करोति।" या तो इस वार्तिक का ज्ञान कालिदास को न था अथवा उनका रचनाकाल वार्तिककार से पूर्ववर्ती रहा हो; कुछ और ऐसे तत्त्व भी महाकवि कालिदास की रचनाओं में मिलते हैं।

(४) **सुभगम्मन्यभावः**—पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"सुभगं युवतिजन-वल्लभम् आत्मानं मन्यते—इति सुभगम्मन्यः। 'आत्ममाने खश्च' (३।२।६३) इति खश्; 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) इति मुमागमः। तस्य भावस्त-त्त्वम्।" सुभगम्मन्य उसे कहते हैं जो अपने विषय में कामिनियों के अनुरक्त होने का वर्णन करता फिरता है। मल्लिनाथ ने लिखा है—"सुभगमानिनामेष स्वभावो यदात्मनि स्त्रीणामनुरागप्रकटनम्।" 'सुभग' की व्युत्पत्ति है —'शोभनं भग-मस्य स सुभगः।" आशय है सुन्दर श्री, काम, महात्म्य, वीर्य अथवा कीर्तिवाले व्यक्ति से। 'अमरकोश' का कथन है—"भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककी-र्तिषु।" इस शब्द की निष्पत्ति "भज सेवायाम्" (भ्वादि.) से घ-प्रत्यय लगने पर होती है—"खनो घ च" (३।३।१२५)। रमणियों के द्वारा सुन्दर श्री, अति-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शय काम, अत्यधिक महात्म्य, अतिशायी वीर्य या अच्छी कीर्ति होने के नाते सेवन किये जानेवाले व्यक्ति को 'सुभग' कहेंगे। "कामसूत्र" में इसका विशेष विवरण एवं 'सुभगङ्करण' के उपायादि बताये गये हैं। "सुभग" का भरतसेन ने 'सत्यवादी' अर्थ दिया है। यह अर्थ बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता। 'वाचाल' और 'सत्यवादी' के बीच एक ज़बरदस्त खाईं है जिसे कभी भी भरा नहीं जा सकता।

(५) **प्रत्यक्षम्**—"अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतम्। "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" (वा०) इति समासः।" ऐन्द्रियक या इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं"—"प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकम्" –(अमरकोश)। गोतम के अनुसार—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानमव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकञ्च प्रत्यक्षम्।"

अलङ्कारादि—इसमें अनुमानालङ्कार है और उसके वाचक 'जाने' और 'तर्कयामि' आदि प्रयुक्त किये गये हैं। अनुमान की प्रामाणिकता ही इसमें निहित है कि वह प्रत्यक्षबाधित न हो और तदाधारित हो।

सा सन्न्यस्ताऽभरणमबला पेलवं[1] धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्त्रं[2] नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥२९॥

पञ्चिका

साऽबला कृशाङ्गीदृशं देहं वहन्ती निश्चेतनमपि त्वां नवजलमयमस्त्रमवश्यं त्याजयिष्यति। कीदृशं गात्रम्? पेलवं, कृशं सुकुमारम्। अतएव सन्न्यस्ताऽभरणं त्यक्तमण्डनम्। तथा तल्पपृष्ठे निक्षिप्तमप्यतिक्लेशेन बिभ्रती। यद्येवंविधा सा किमित्यहं रोदिमि? इत्याह। यस्माद् य आर्द्रान्तरात्मा सरसचित्तः स सर्वः प्रायेण करुणावृत्तिः कृपाशीलो भवति। त्वञ्च सजलत्वादार्द्रान्तरः। करुणा कृपैव वृत्तिर्व्यापारो यस्य स करुणावृत्तिः। कृपार्थवृत्तेः करुणाशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वाभावान्न पुंवद्भावः। दुःखदुःखेनेत्याधिक्ये द्विर्वचनम्। दुहेरिव मुचेरपि द्विकर्मकत्वात्त्वामस्त्रं मोचयिष्यतीति ॥९१॥

---

१. "पेशलम्" इति, "कोमलम्" इति च पाठान्तरे।
२. "आस्रम्" इति, "अश्रुं जललवमयम्" इति, "अस्त्रं जलकणमयम्" इति, "अस्त्रं नवजलकणम्" इति, च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुबोधा

सा। सन्न्यस्ताऽभरणं सन्त्यक्तालङ्कारम् अबलात्वेन वोढुमक्षमत्वात् द्वेषाद्वा, तथा पेलवं कोमलम्, तथा शय्याया उत्सङ्गे क्रोडे, असकृत् पुनः पुनः निहितं निक्षिप्तम्। ननु सा यद्येवम् अतिदुःखिता किमेतावतैव ममाश्रुपातो भविष्यतीत्यर्थान्तरन्यासमाह; प्रायो बाहुल्येन, आर्द्रः स्निग्धोऽन्तरात्मा क्षेत्रज्ञो यस्य तादृशः सर्वः समस्त एव जनः, करुणायां कृपायां वृत्तिः प्रवर्तनम् यस्य तादृशो भवति, त्वमपि आर्द्रान्तरात्मा सजलत्वात् स्तिमिताभ्यन्तरः। पेलवमित्यनेन शय्योत्सङ्गे निहितमपि कोमलत्वात् केयूराङ्गदादिना पीडितं भवतीति सूचितम्। पेलवमित्यत्र क्वचित् पेशलमिति, क्वचिच्च कोमलमिति पाठः। असकृदित्यनेन विरहवेदनया कदाचिदुत्तिष्ठति कदाचित् पततीति सूचितम्। त्वामपीति ईदृगवस्था अन्यानपि दयालूनश्रु मोचयतीत्यपेरर्थः। नवजलमयमित्यत्र नवजलकणमिति पाठे नवजलबिन्दुस्वरूपमस्रम्, जलकणमयमिति च क्वचित् पाठः। उद्वेगावस्थेयम्; तथा च— "चिन्तानिश्वासखेदाऽद्यैरुद्वेगो नाम जायते" इति। सन्न्यस्ताभरणत्वेन अनुस्मृत्यवस्था चोक्ता, तथा च—"विद्वेषादन्यकार्याणामनुस्मृतिरुदाहृते" ति। दुःखदुःखेन गात्रमित्यनेन व्याध्यवस्थाऽप्युक्ता; तथा च—

"क्षुभ्यति हृदयं प्रदहत्यङ्गं शिरसश्च वेदना तीव्रा।
न च धृतिमप्युपलभते व्याधावेवं वियोगिनी नारी॥" इति।

जातिरूपकश्लेषगर्भोऽर्थान्तरन्यासः॥

अन्वय

सन्न्यस्ताऽभरणम् असकृद् दुःखदुःखेन शय्योत्सङ्गे निहितं पेलवं गात्रं धारयन्ती सा अबला त्वाम् अपि नवजलमयम् अस्रम् अवश्यम् मोचयिष्यति। प्रायः आर्द्रान्तरात्मा करुणावृत्तिः भवति।

हिन्दीरूपान्तर

बिस्तर की गोद में बार-बार बड़े ही कष्ट से रखे गए हुये कृश और आभूषणों को त्याग देनेवाले शरीर को (जैसे-तैसे) धारण करती हुई वह अबला तुमसे भी पहली फुहार के आँसू अदृश्य गिरवायेगी; (क्योंकि) प्रायः सभी आर्द्रहृदय व्यक्ति करुणामयी मनोवृत्ति के हुआ करते हैं।

टिप्पणियां

(१) **सन्न्यस्ताभरणम्**—"सम्+नि+असु क्षेपणे (दिवादि)+क्त=

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन्न्यस्तम्। सन्न्यस्तानि आभरणानि यस्य तत् सन्न्यस्ताऽभरणम्। आ + डुभृञ् धारणपोषणयो: (जुहोत्यादि०) + ल्युट् (करणे) = आभरणम्।" व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि सौन्दर्य के पोषक अलङ्करणों को आभरण कहेंगे। प्रोषितपतिका के लिये ऐसे अलङ्करणों का उपयोग नितान्त वर्जित है। विद्युल्लताकार ने शास्त्र का उद्धरण दिया है—"गतवति दयिते तु क्वापि मङ्गल्यमात्राण्यपचितगुरुविप्रा धारयेद् मण्डनानि।" मङ्गलसूत्रादि विवाहिता के अनिवार्य अलङ्करणों को छोड़ कर शेष शोभामात्रार्थ आभूषणों का परित्याग कर दिया जाता था। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"कण्ठसूत्रादिमङ्गल्याभरणव्यक्तिरेकेण सन्न्यस्तानि त्यक्तानि आभरणानि केवल-शोभार्थानि येन।" इसके विषय में मल्लिनाथ का कथन कि, कृश हो जाने के नाते नहीं पहनती थी, तनिक भी समीचीन नहीं प्रतीत होता। "कृशत्वात् परित्यक्ताऽभरणम्" से प्रोषितपतिका के पातिव्रत्य-धर्म के पालन की बात कम और मजबूरी की बात अधिक टपकती है। ऐसा ही अनौचित्यपूर्ण अर्थ भरतसेन ने भी लिया है। उन्होंने तो विकल्प से "द्वेषाद्" की बात प्रस्तुत करके विपरीत व्यभिचारिभाव की भी ध्वनि करानी चाही है।

(२) **अबला**—यह पद यहाँ पर सामान्य रूप से स्त्रीवाचकमात्र है। अमर-कोश में —"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः।" इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी कृशता को न द्योतित करके कमज़ोर अर्थ देता है। भानुजि दीक्षित ने लिखा है—"अल्पं बलमस्याः। अल्पार्थे नञ्।" परन्तु कुछ टीकाकारों ने भ्रमवश कृश अर्थ किया है। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'दुर्बल' और वल्लभदेव ने 'कृशाङ्गी' दिया है। यदि वास्तविक चमत्कृति यहां देखनी है तो 'अबला' (अल्पबला) के 'गात्रधारण' में उसे पाया जा सकता है। गात्र के कई अर्थ हैं, हाथी के सामने के हिस्से को भी गात्र कहते हैं—"गात्रं गजाग्रजङ्घादिभागेऽप्यङ्गे कलेवरे" (मेदिनी)। अतः इसमें विरोधाभास अलङ्कार का सौन्दर्य दिखायी देगा।

(३) **पेलवम्**—पेलव का अर्थ है कृश या क्षीण। अमरकोश में भी लिखा है—"पेलवं विरलं तनु।" तन्वर्थक 'पेलव' को कुछ टीकाकारों ने सुन्दरार्थक माना है, पर अमरभिन्न अर्थ के लिये कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया। पाठान्तर 'पेशल' का अर्थ रमणीय अवश्य होता है। परन्तु पेलव का नहीं! वल्लभदेव ने सही अर्थ दिया है—"पेलवं कृशं सुकुमारम्।" सुकुमार एक लक्ष्यार्थ हो सकता है। पूर्णसरस्वती भरतसेन आदि ने वल्लभदेव का ही पाठ माना है। मल्लिनाथ ने "पेशलम्" पाठ माना है। पाठान्तर 'कोमलम्" भी है।

(४) **दुःखदुःखेन**—मल्लिनाथ ने लिखा है—"दुःखदुःखेन दुःखप्रकारेण।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"प्रकारे गुणवचनस्य" इति द्विर्भावः" । परन्तु उनका यह कथन नितान्त भ्रामक है। भट्टोजि दीक्षित की वृत्ति इस सूत्र को (८।१।१२) इस प्रकार स्पष्ट करती है— "सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तस्तच्च कर्मधारयवत्।" प्रकार का तात्पर्य भेद और सादृश्य दोनों से हुआ करता है। यहाँ पर वृत्तिकार ने सादृश्य अर्थ ही ग्रहण किया है। 'पटुपटुः' या 'पटुपट्वी' का क्या अर्थ इस सूत्र का उदाहरण होने के नाते होगा इसे भी कौमुदीकार ने स्पष्ट किया है—"पटुसदृशः। ईषत्पटुरिति यावत्।" यदि कथञ्चित् 'दुःख' को गुणवचन मान भी लिया जाय तो यहाँ "दुःखदुःखेन" का अर्थ होगा' 'दुःखसदृशेन" या' 'ईषद्दुःखेन"। ये दोनों ही अर्थ कालिदास की रचना में असमीचीन होंगे। साथ ही "दुःखप्रकारेण" अर्थ भी व्याख्यासापेक्ष ही होगा। यहाँ वस्तुतः इस सूत्र से द्वित्व हुआ ही नहीं है। अपितु "आधिक्ये द्वे वाच्ये" इस वार्त्तिक से यहाँ 'दुःखाधिक्येन' अर्थ निष्पन्न होगा और वही प्रसङ्गोपयुक्त भी लगता है। ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने इस वार्त्तिक को अप्रसिद्ध बताया है। ऐसी अवस्था में 'आबाधे च" (५।१।१०) सूत्र से यह उपपन्न माना जा सकता है। विरहपीडित होने के नाते यक्ष ने यह कह रखा है। और साथ ही पीडा ही द्योतित भी करनी है। यह प्रयोग वहुव्रीहिवत् ही है, क्योंकि आशय भाव से ही है। इसकी व्यञ्जना विद्युल्लता में बतायी गयी है—"आधिभिरुपहतत्वाद् अन्यदीयमिव भारायमाणम् अतिक्लेशेन वहन्ती।"

(५) **मोचयिष्यति**—मुच्धातु से णिच् करने पर लृट् का यह रूप है। मल्लिनाथ ने इसे द्विकर्मक माना है—"मोचयिष्यति। 'द्विकर्मसु पचादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति मुचेः पचादित्वाद् द्विकर्मत्वम्।" परन्तु श्री शारदारंजन इसे ठीक न मानकर 'मुच्+णिच्' को गत्यर्थक मानकर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ" (१।४।५२) से इस प्रयोग को साधु माना है। पचादि के आकृतिगण होने के नाते मल्लिनाथ की बात ठीक है और साथ ही सुधाकर ने भी लिखा है—"जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचेः। तारेर्ग्रहेस्तथा मोचेस्त्याजेर्दीपेश्च सङ्ग्रहः।"

(६) **करुणावृत्तिः**—विद्युल्लता—"अनुकम्पायां प्रवृत्तिर्यस्य। 'अनुकम्पा तु सा ज्ञेया दुःखितान् प्रति देहिनः। उपकारपरत्वं या कुरुते चित्तविक्रिया॥' इति दिवाकरः।"

(७) **आर्द्रान्तरात्मा**—"आर्द्रः सर्वत्र मैत्रः अन्तरात्मा मनो यस्य सः।'यद्यदस्य प्रियं वेत्ति तस्य तस्याऽऽशुकारिताम्। योग्यतामार्द्रतामाहुर्मनःकालुष्यनाशिनीम्॥' इति दिवाकरः"—विद्युल्लता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कारादि--यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। "उत्सङ्गे वा"—आदि पद्य में मनःसङ्ग, "शेषान् मासान्"—आदि में सङ्कल्प, "सव्यापाराम्"—आदि में जागर, "आधिक्षामाम्"—आदि में कार्श्य, "निःश्वासेन"—आदि में लज्जा-त्याग, "पादानिन्दोः" इत्यादि में रति, "आद्ये वद्धा"—आदि में उन्माद और इस रचना में मूर्च्छा को ध्वनित कराया गया है।

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्[1]।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के[2] मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाऽकुलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति[3] ॥२९॥

पञ्चिका

भवति निकटस्थे सति तस्या हरिणनयनाया नेत्रम् उपरिस्पन्दित्वादनिमेषोत्फलनचटुलोत्पलशोभासाम्यं प्राप्स्यतीत्याशङ्के सम्भावयामीति शुभसूचनमत्र। स्त्रीणां हि वामाक्षिस्फुरणमानन्दमासन्नमाह। कीदृशं नयनम्? लम्बैरलकै रुद्धापाङ्गप्रसरं निवृत्तकटाक्षक्षेपम्। शोकाच्चाञ्जनस्नेहेन रहितम्। तथा मद्यस्य वर्जनाद्विस्खलितभ्रूविलासम् ॥९२॥

सुबोधा

इदानीं श्लोकद्वयेन प्रियशुभवार्तालाभसूचकं शकुनमाह--रुद्धा। त्वयि आसन्ने निकटस्थे सति, तस्या मृगाक्ष्या हरिणलोचनाया नयनं चक्षुः, उपरिस्पन्दि ऊर्ध्वं स्पन्दिष्यमाणं सत्, मीनक्षोभाऽकुलकुवलयश्रीतुलामेष्यति मीनस्य मत्स्यस्य क्षोभेण सङ्घट्टनेन आकुलं व्याकुलं चञ्चलं यत् कुवलयं नीलोत्पलं तस्य या श्रीः शोभा तस्यास्तुलां सादृश्यं प्राप्स्यति; इत्यहं शङ्के सम्भावयामि। नयनमिह प्रियनिवेदकत्वाद् वाममेव गम्यम्, एवं तस्या इत्यर्थादवगम्यम्। किंवा "वामश्चास्या" इति वक्ष्यमाणश्लोकेन सम्बन्धादस्या वामं नयनं वाम ऊरुश्चेति सम्बन्धनीयम् इति व्याख्येयम्, सद्व्याख्यानमिदम्, अस्या इत्यस्य इति शङ्के इत्यस्य च द्वयोः सम्बन्धात्। उपरिस्पन्दे हेतुमाह, किम्भूतं नयनम्? अलकैश्चूर्णकुन्तलैः, कर्तनशून्यत्वात्

---

१. "भ्रूविकारम्" इति पा०। २. "वामं मृगाक्ष्या" इति पा०। ३. "मीनक्षोभाच्चलकुवलय—" इति "मन्ये मीनोच्चलकुवलय—" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्धोऽपावृतोऽपाङ्गे नेत्रान्ते प्रसरो गमनं यस्य तथाभूतम्, तथा अञ्जनस्नेहशून्यं कज्जलस्निग्धतारहितम्। विरहिणीस्वभावोऽयम्। भ्रूविलासादेव स्पन्दनमित्याशङ्क्याह, मधुनो मद्यस्य प्रत्यादेशात् निराकरणात् परित्यागात् चिरमसेवनादपि च, विस्मृतो बद्धो मद्यस्य भ्रूविलासो भ्रूवैदग्ध्यं येन तादृशम्। अपि चेति समुच्चये। मधुसेवनाभावाद् विरहाच्च विस्मृतभ्रूविलासमिति भावः। शङ्कितेयं दृष्टिः, तथा च—

"क्वचिच्चला स्थिरा शून्या क्वचित् तिर्यग्विलोकिनी।
अनवस्थिततारा च शङ्किता दृष्टिरुच्यते॥" इति।

अत्र च स्पन्दनेन चलत्वम्, अलकरुद्धप्रसरापाङ्गत्वेन तिर्यग्विलोकनीयत्वम्, अनवस्थिततारकत्वञ्च, विस्मृतभ्रूविलासत्वाद् भ्रुवोरव्यापारेण स्थिरत्वम् ध्वनितम्। अञ्जनस्नेहशून्यमित्यनेन शून्यत्वञ्च स्पष्टम्। कुवलयश्रीतुलया तादृशमपि चक्षुः कमनीयमेवेति सूचितम्, स्त्रीणां वामचक्षुःस्पन्दनं शुभसूचकम्। यदुक्तम्-

"सव्यनेत्रं स्फुरत्स्त्रीणां शंसति प्रियसङ्गम" इति।
"पुंसां सदा दक्षिणदेहभागे स्त्रीणां तु वामावयवेषु जातः।
स्पन्दः सुखानि प्रदिशत्यवश्यं निहन्ति चोक्ताङ्गविपर्ययेण॥" इति च।

उपमेयम्।

अन्वय

अलकैः रुद्धापाङ्गप्रसरम् अञ्जनस्नेहशून्यम् अपि च मधुनः प्रत्यादेशाद् विस्मृतभ्रूविलासं त्वयि आसन्ने (सति) उपरिस्पन्दि मृगाक्ष्याः नयनम् मीनक्षोभाऽकुलकुवलयश्रीतुलाम् एष्यति इति शङ्के।

हिन्दीरूपान्तर

मृग के नयनों के सदृश नयनोंवाली (उस) की घुँघराले बालों के कारण रुँध गयी हुई कटाक्षगतिवाली, सुरमे की चिकनाहट से रहित और मदिरा छोड़ देने के कारण भौहों की बांकपन को भुला देनेवाली आँख तुम्हारे निकट पहुँचने पर, ऊपर की ओर फड़क कर मछलियों के आलोडन से स्फुरित होते हुए नीलकमल की शोभा से समानता प्राप्त करेगी।

टिप्पणियाँ

(१) रुद्धापाङ्गप्रसरम्—'रुद्धा अपाङ्गयोः प्रसरा यस्य तत्तथोक्तम्'—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(मल्लिनाथ)। घुँघराली लटें केशसंस्कार के अभाव में कपोल भाग पर लटक रही होंगी। ऐसी दशा में घनी अलकों के बीच से देख सकना सम्भव न हो सकेगा। अतः कनखियों से देखने के लिये गुंजाइश ही न रह गयी होगी। केवल सामने की ओर ही नेत्र देख पाते होंगे। वाम-नयन का यह विशेषण इस बात का भी प्रमाण है कि अब कटाक्षेक्षण वह साध्वी मेरे अभाव में भला किसी की ओर करेगी ही क्यों अतः अलकों को हटाकर कटाक्षनिक्षेप की सम्भावना का भी परिहार करने के लिये कवि ने रुद्ध-प्रसर शब्द रखा है। कटाक्षों के निक्षेप का प्रसर ही रुँध उठा है। एकाध लट हो तो खिसकाने की बात भी उठे यहां तो "अलकैः" बहुवचन आया ही है निरोधातिशय व्यक्त करने के लिये। "प्रसरस्तु विसर्पणम् (अमर०)" प्र+सृ+अप्।

(२) **प्रत्यादेशात्**—'प्रति+आ+दिश् अतिसर्जने+घञ्।' दिश् अतिसर्जने धातु से निष्पन्न होने के नाते प्रत्यादेश का परित्याग अर्थ स्वाभाविक ही है। वैसे 'अमरकोश' में इसे निराकरणार्थक माना गया है—"प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः।" प्रोषितपतिकाओं के लिये मदिरा का ग्रहण वर्जित है अतः 'प्रत्यादेश' की बात कवि ने उपस्थित की है।

(३) **विस्मृतभ्रूविलासम्**—'भ्रुवोर्विलासः भ्रूविलासः। विस्मृतो भ्रूविलासो येन तद् विस्मतभ्रूविलासम्। "विलासो भावलीलयोः"—विश्वप्रकाश। यहाँ पर भ्रूलीला के अर्थ में भ्रूविलास शब्द आया है। प्रियतम के देखने पर कामिनियों के अङ्गों में जो विशेष विकार उत्पन्न हो जाते हैं उन शृङ्गारभावज व्यापारों को विलास कहते हैं। दशरूपक में लिखा है—"तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु।" यहाँ कवि को प्रियतम के साक्षात्कार के समय के यक्षाङ्गना के भ्रूव्यापारविशेष ही अभीष्ट हैं। प्रियतम के आठ महीनों के विप्रयोग में इस अङ्गविशेष के विलास का भूल जाना सुतरां स्वाभाविक है। आलम्बनविशेष के अभाव में शृङ्गारभावजक्रियाविशेष का अभाव उपयुक्त ही है। कवि ने यहाँ एक बाह्य हेतु भी दिया है; क्योंकि उसके होने पर भी भ्रूचेष्टित दिखायी दे जाते हैं और वह है मधुसेवन। उसका भी प्रत्यादेश हो जाने से सम्भावना का अत्यन्ताभाव हो जायगा। यहाँ 'विलास' का प्रियतमसमागमनिमित्त, मधुपान असमवायि और शृङ्गारभाव समवायि कारण हैं। दक्षिणावर्तनाथ ने एक और तर्क दिया है—

"ननु विलासिनीनां स्वभावत एव भ्रूविलासः सम्भवति। उक्तञ्च—

'तस्याः शलाकाऽञ्जननिर्मितेव कान्ति-र्भ्रुवोरायतरेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदम्मुमोच॥' इति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कथमत्र मधुपानायत्तो भ्रूविलास इत्युक्तम्? सत्यम्। अत्र स्वभावसिद्धोऽपि भ्रूविलासः स्वोद्दीपनविभावस्य मधुपानस्य अभावान्नाभिव्यज्यत इति कवेरभिप्रायः। अतएव विस्मृतभ्रूविलासमिति विस्मृतपदं प्रयुक्तम्।"

(४) **उपरिस्पन्दि नयनम्**—'उपरि स्पन्दत इत्येवंशीलम् उपरिस्पन्दि (णिनेर्योगाद्) उद्वा उपरिस्पन्दः अस्ति अस्मिन्निनीतिनिप्रत्ययतो निष्पतिः।' ऊपर अर्थात् ऊर्ध्वभाग में फड़कती हुई आँख। 'नयनम्' के पहले 'वाम' या 'दक्षिण' कोई विशेषण नहीं लगाया गया है। परन्तु अगले पद्य के आरम्भ "वामो वाऽस्याः" या "वामश्चास्याः" के 'वाम' शब्द की योजना विभक्तिविपरिणाम के साथ देहलीदीपक—न्याय से यहाँ भी कर दी जायगी। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"नयनमित्येकवचनेनैकत्वम्, स्त्रीत्वौचित्याद् 'वामश्च' इत्युत्तरत्र चकाराच्च वामत्वं सिध्यति।" 'निमित्तनिदान' का उद्धरण मल्लिनाथ ने दिया है—"स्पन्दान्मूर्ध्निच्छत्रलाभं ललाटे पट्टमंशुकम्। इष्टप्राप्ति दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत्॥" "वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः। दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलङ्करणेऽपि च।"

(५) **मृगाक्ष्याः**—"मृगस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी तस्याः।" "सप्तम्युपमानपूर्वस्य समास उत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः (वार्त्तिक)।" इसकी व्यञ्जना—"मृगाक्ष्या इति, सुनिमित्तिप्रसङ्गेन औत्सुक्यहर्षकौतुकादिक्षोभितहृदयतया तादात्विकतारल्यमधुरतरविपुलनीलस्निग्धमुग्धस्य नयनयुगलस्य निकामप्रेक्षणीयत्वं द्योत्यते।"—(विद्युल्लता)।

(६) **मीनक्षोभाकुलकुवलयश्रीतुलाम्**—'मीनक्षोभात्' वाला पाठ ठीक नहीं है। इस तरह सारा अप्रस्तुतपक्ष एक पद में ही आ जाता है। "The reading मीनक्षोभाकुल & C. is better, as मीनक्षोभ ought to form part of the compound"—M. R. Kale। यहाँ कालिदास ने रामायणच्छायायोनि रचना प्रस्तुत की है—

"तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्मराजीवृतं कृष्णविशालशुक्लम्।
प्रास्पन्दतैकं नयनं मृगाक्ष्या मीनाहतम् पद्ममिवाभिताम्रम्॥"

(मीनैः क्षोभः, मीनक्षोभः। तेन आकुलमीनक्षोभाकुलम्। तथोक्तञ्च तत् कुवलयञ्च-मीनक्षोभाकुलकुवलयम्। तस्य श्रीः मीनक्षोभाकुलकुवलयश्रीः। तस्याः तुलाम् तथेति।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वामो[1] वाऽस्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
मुक्ताजालं चिरपरिचितं[2] त्याजितो दैवगत्या।
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां[3]
यास्यत्यूरुः [4]सरसकदलीस्तम्भ[5]गौरश्चलत्वम् ॥३०॥

पञ्चिका

त्वय्यासन्ने वामो वोरुरस्याश्चलत्वं यास्यति स्फुरिष्यति। वा-शब्दो नयन-स्पन्दापेक्षया विकल्पे। कीदृशोऽसौ? भामकैर्नखक्षतैर्वर्ज्यमानः। नित्याभ्यस्तञ्च मौक्तिककलापं विधिवैधुर्यात् त्याजित उपेक्षितः। शैत्यार्थं हि तत्र तस्य करण-मभूत्। तथा सुरतसमाप्तौ मम करोपमर्दनयोग्यः। अभिनवकदलीकाण्डवच्च गौरः श्वेतः ॥९३॥

सुबोधा

वाम। अस्या मतिप्रयाया वामः सव्य ऊरुश्च चलत्वं स्पन्दनत्वं यास्यति प्राप्स्यति स्पन्दिष्यते इत्यर्थः। चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चये, न केवलं नयनं स्पन्दि-ष्यते ऊरुरपीत्यर्थः। वामोरुनयनयोः स्फुरणं स्त्रीणामिष्टलाभस्याऽवेदकमिति द्वयो-रेव स्फुरणमुक्तम्। ऊरुः कीदृशः? मदीयैर्मामकैः कररुहपदैर्नखाङ्कैः तिसृभि-श्चतसृभिर्वा नखव्रणरेखाभिर्मुच्यमानस्त्यज्यमानः चिरशुष्कत्वात्। प्रवासगमन-काले प्रियेण प्रियाया ऊर्वोः स्तनपार्श्वे च स्मरणार्थं तिस्रश्चतस्रो वा नखरेखा दीयन्ते। तथा च—

"ऊर्वोश्च स्तनपार्श्वे च प्रवासं गच्छता खलु।
स्मृत्यै तिस्रश्चतस्रो वा दीयन्ते नखरेखिकाः॥" इति।
"नखक्षतानि पश्यन्त्या गूढस्थानेषु योषितः।
प्रियस्मृतेरभिनवा प्रीतिर्भवति पेशला॥" इति च।

---

१. "वामश्चास्याः" इति पा०। २. "चिरविरचितम्" इति पा०।
३. "हस्तसंवाहनाभिः" इति, "हस्तसंवाहनस्य" इति च पाठान्तरे।
४. "कनककदली—" इति पा०।
५. "—स्तम्बगौरः" इति, "—गर्भगौरः" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नखक्षतमिह रतिसमयदत्तं वा, उक्तञ्च तत्स्थानम्—"कक्षाकरोरुजघनस्तनपार्श्वमूर्द्धहृत्कन्धरासु नखरक्षतमाहुरेवम्।" इति। तथा दैवगत्या दैववशेन, चिरपरिचितं चिरकालसेवितं बहुकालधारितं मुक्ताजालं जालाकारग्रथितमौक्तिकसमूहविरचितमुक्तासाराभिधाऽभरणं मौक्तिकसमूहं वा, त्याजितः मोचितः दूरं कारितः। त्यजेर्गोणगत्यर्थत्वात् प्रयोज्यस्य कर्मत्वम्, कर्मणि क्तश्च। तथा च, सम्भोगान्ते रतावसाने, मम हस्तसंवाहनानां खेदापनयनाय करमर्दनानां समुचितो योग्यः, हस्तसंवाहनाद्यैररिति पाठे करमर्दनादिभिः समुचितः समवेतः सङ्गतः, हस्तसंवाहनाभिरिति पाठे च समुचितः समवेतः। उचियः समवाये इत्यस्य क्ते रूपम्। "हस्तसंवाहनं कुर्यात् श्रमापनुत्तये तत" इति कामशास्त्रम्। तथा सरसकदलीस्तम्बगौरः रसयुक्तरामकदलीप्रकाण्डवद् गौरः पाण्डरः, वस्त्रावृतत्वादीषत् पाण्डुरित्यर्थः। कनककदलीति पाठे कनककदली कदलीविशेषः तद्वद्गौरः पीतवर्णः, "तन्वी श्यामा" इत्यत्र श्यामा स्त्रीविशेषः न तु श्यामवर्णेति पीतवर्णत्वे विरोधाभावः। ऊरोः पीतवर्णत्वेन तस्याः पीतवर्णत्वं सूचितम् इति व्याचक्षते। कनककदलीति पाठे तन्वी श्यामेत्यत्र तस्या उत्तमश्यामत्वं बोध्यमित्यन्ये। ऊरोः सव्यत्वमाक्षेपलब्धमिति वामः शोभन इति व्याचक्षते केचित्। "पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः।

अन्वय

मदीयैः कररुहपदैः मुच्यमानः, चिरपरिचितं मुक्ताजालं दैवगत्या त्याजितः, सम्भोगान्ते मम हस्तसंवाहनानां समुचितः, सरसकदलीस्तम्भगौरः अस्याः वामः ऊरुः वा चलत्वं यास्यति।

हिन्दीरूपान्तर

मेरे नाखूनों के निशानों से रहित होती हुई, भाग्य की गति से बहुत दिनों की परिचित मोतियों की लड़ियोंवाली करधनी से छुड़वा दी गयी हुई, ग्राम्यधर्म के अनन्तर मेरे करतलों के द्वारा दबाये जाने योग्य और हरे केले के तने की तरह हल्की-पीली उसकी बायीं जाँघ फड़क उठेगी।

टिप्पणियाँ

(१) कररुहपदैर्मुच्यमानः—"कररुहाणाम् पदानि कररुहपदानि, तैः।" कररुह का अर्थ है 'नाखून'—"पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्"—

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(अमरकोश)। 'पद' का यहाँ आशय है 'चिह्न' से—"पदं चिह्नेऽपि दृश्यते"—(शाश्वतकोश)। जैसा कि भरतमल्लिक ने ऊपर टीका में स्पष्ट किया है प्रवास-गमन के समय प्रिय प्रियतमा के ऊरुओं में स्मरणार्थ तीन या चार नखक्षत के चिह्न वना जाता था। अथवा ग्राम्यधर्म के समय के भी चिह्न हो सकते हैं। अभी सात-आठ महीने ही बीत पाये हैं अतः यक्ष का ख़याल है कि निशान अभी गये नहीं होंगे; धीरे-धीरे मिट रहे होंगे। उसकी बायीं जाँघ पर नखक्षत के निशान मिटने लगे होंगे। इसीलिये "मुच्यमानः" रखा गया है "मुक्तः" नहीं। पूर्णसरस्वती का कथन है—"मच्यमानः न तु मुक्तः, कालक्रमेण तेषां तिरोधीयमानत्वात्।" 'रतिरहस्य' में ऊरु की नखपदास्पदता भी दी गयी है—"कण्ठकुक्षिकुचपार्श्वभुजोरःश्रोणिसक्थिषु नखास्पदमाहुः।"

(२) **मुक्ताजालम्**—'मुक्ताजाल' एक विशेष तरह का कटिभूषण होता था। जिस करधनी में मोतियों की लड़ियाँ लगी होती थीं उसे मुक्ताजाल कहते थे। 'विद्युल्लता' में लिखा है—"मुक्ताभिर्विरचितो मेखलादामनि लम्बमानो जालाऽकारो भूषणविशेषो मुक्ताजालम्। यथा हारयष्टिप्रभेदाधिकारे कौटिल्यः—"सुवर्ण-सूत्रान्तरं सोपानं मणिमध्यं वा मणिसोपानकं तेन शिरोहस्तकटीकलापजालकवि-कल्पा व्याख्याताः—इति।" इस 'मुक्ताजाल' के सही रूप का परिचय 'यक्षी' ("कनिंघमः भारहुत"—प्ले० ५२) की मूर्ति किंवा चित्र से लग सकता है। 'यक्षिणी चन्दा' के भी मध्यभाग में 'मुक्ताजाल' के दर्शन होते हैं। ये दोनों ही मूर्तियाँ शकपूर्व तृतीय शताब्दी की मानी जाती हैं। 'मुक्ताजाल' को भी अन्य आभू-षणों की तरह ही यक्ष की प्रियतमा ने छोड़ रखा है—"क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजो-त्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति १-८४)" परन्तु एक और असर 'मुक्ताजाल' का दक्षिणावर्तनाथ ने बताया है और साथ ही उस ज़रूरत के अभाव में उसके त्याग के हेतु के रूप में उसे प्रस्तुत किया है—"इदमत्रानुसन्धेयम्। ऊरुमूले निहितानां नखक्षतानां निर्वापणाय स्त्रियः खलु प्रियतमैः सार्धं स्वयं विरचितानि मुक्ताजालकानि बिभ्रति। सा पुनरिदानीं नखक्षताभावाद् नखक्षतनिर्वापणं मुक्ताजालकं दैवगत्या न बिभर्तीति खेदवचनमिति। अस्मिन्नर्थे लिङ्गं तज्जातीयदन्तक्षतनिर्वापणवचनम्। यथा कुमारसम्भवे—

'दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत् क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः॥'—इति।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन साखियों के विरुद्ध में 'मुक्ताजाल' का 'फ़ेस्टून' (Festoon) अर्थ जिसे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिया है अप्रामाणिक मानता हूँ।

(३) हस्तसंवाहनानाम्—'हस्तेन संवाहनम्, हस्तसंवाहनम्। तेषाम्।' संवाहन का अर्थ दबाना है—"संवाहनं मर्दनं स्यात्"—(अमरकोश)। 'काम-सूत्र' का कथन भरतसेन ने उद्धृत करके हस्तसंवाहन का उपयोग बता रखा है। थकावट को दूर कर देने के लिये इसका विधान किया गया है। पूर्णसरस्वती का कथन है—"प्रतिसम्भोगावसानं तदाश्वासनपरतया स्वेन नियतकृत्यत्वेन अनुष्ठीयमानत्वात् समुचितत्वोक्तिः। हस्तसंवाहनानां कोमलतया करतलेनैव मुष्टिगृहीतेन श्रमशमनाय सुखसम्मर्दनानाम्।" विशेष उद्देश्य तो पौनःपुन्य-सिद्धि है।

(४) **सरसकदलीस्तम्भगौरः**—'सरसा च सा कदली च सरसकदली। सरसकदल्याः स्तम्भः सरसकदलीस्तम्भः। सरसकदलीस्तम्भ इव गौरः सरस-कदलीस्तम्भगौरः। "उपमानानि सामान्यवचनैः" (२-१-५५) इति समासः।' पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'कनककदलीस्तम्भगौरः' पाठ को अधिक ठीक माना है। उनका कहना है—"अयमेव पाठः साधीयान्। 'कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः' —इत्यत्र अलकायां कनककदलीनां बाहुल्यदर्शनाद् उपमितिकाले तासामेव बुद्धिस्थ-त्वात्।" परन्तु यह तो कवि की कल्पना में अप्रस्तुतोद्भावना का अभावमात्र प्रस्तुत करेगा। उसी तत्त्व को पहले प्रस्तुत करके फिर ग्रहण करने में क्या चमत्कृति होगी? सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'गौर' शब्द स्वयं 'पीत' का वाचक है— "गौरः करीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतेऽरुणेऽपि च" (सञ्जीवन्युद्धृतमालतीमाला) और वह कदलीस्तम्भ में अनायास सिद्ध है तो 'कनक' विशेषण लगाकर अधिकपद करने से क्या लाभ? यदि 'अरुण' अर्थ लेना अभीष्ट हो तो इस अप्रसिद्ध अप्रस्तुत का सहारा लेना तो एक दोष होगा ही, "तन्वी श्यामा" और "श्यामास्वङ्गम्" आदि से विरोध भी पड़ेगा। अतः 'सरस'—पाठ ही अधिक उचित है। सूखी कदली का स्तम्भ उस हल्की पाण्डिमा को छोड़कर गाढ़ा लाल होकर काला पड़ जाता है। ऊरुगत गौरता का कारण आच्छादित रहना—"ऊर्वोर्गौरत्वं च निवातवर्तित्वात्" (दक्षिणा-वर्तनाथ)। विद्युल्लता में और भी हेतु दिये गये हैं—"सारोत्तरधरातलावस्था-नात् समयावसेकाच्च अविदितशोषदण्डकदलीकाण्डवत् श्लक्ष्णवृत्तविपुलत्व-सहचरितविमलवर्णविशिष्टः। गौरवर्णत्वं च वरवर्णिनीनां गण्डमुकुरकुचमण्डलो-रुकाण्डेषु स्मरेण यौवनोष्मणा च काव्येषु प्रसिद्धम्।" पाण्डुता का अन्य कारण विरहज्वर स्वयं है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तस्मिन् काले जलद दयिता लब्धनिद्रा यदि स्याद्[1]
अन्वास्यैनां[2] स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व[3]।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि[4] स्वप्नलब्धे कथञ्चित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३१॥

पञ्चिका

हे जलद तस्मिन् कालेऽर्धरात्रसमये प्रिया चेत्सुप्ता भवेत् तदेनामन्वास्य सेवित्वा त्यक्तगर्जितस्त्वं क्षणमात्रं सहस्वं प्रतीक्षेथाः। मा स्म तां बोधयेः। किमर्थमित्याह ? मयि प्रेयसि कथञ्चिद् दैवात् स्वप्नाऽऽसादिते सति तस्या गाढोपगूढं दृढाऽऽलिङ्गनं सद्यस्तत्क्षणं कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गलभ्रष्टबाहुवल्लीपाशं मा भूत्। आश्लेषविच्छेदो मा स्म भवदित्यर्थः। नूनं सा मामालिङ्गितमात्मना स्वप्ने द्रक्ष्यति। उपगूढशब्दो भावे। अन्वासनं सेवनम्। यथा। 'अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजमि' ति। "स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्। अन्वास्त--" इति च ॥९४॥

सुबोधा

अभिलाषात् प्रार्थनां कुर्वाण आह--तस्मिन्। हे जलद मेघ, तस्मिन् काले त्वदुपगमनसमये सा मत्प्रिया, यदि लब्धनिद्रासुखा, लब्धं प्राप्तं निद्रया सुखं निद्रैव वा सुखं यया, तादृशी स्यात् भवेत्। तदा तत्र पूर्वोक्तस्थाने वातायनसन्निधौ, आसीनः उपविष्टः सन्, स्तनिताद् गर्जिताद्, विमुखः पराङ्मुखो निवृत्तो निःशब्दः सन्, याममात्रं प्रहरमेकं यावत्, सहेयाः प्रतीक्षिष्यसे। किं प्रयोजनमित्याह कथञ्चित् कष्टसृष्ट्या, स्वप्नलब्धे निद्रामिलिते, प्रणयिनि प्रेमवति मयि, अस्या मत्कान्ताया गाढोपगूढं दृढालिङ्गनम्, सद्यस्तत्क्षणात् कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि मा भूत्, भुजावेव बाहू एव लते वल्लयौ तयोर्ग्रन्थिर्बन्धोऽन्योऽन्यमिलनं, कण्ठाद् गलाच् च्युतः स्रस्तो यस्य, तथाभूतं मा भूद् न भविष्यति। जलदेति सम्बोधनात् परोपकारध्वनिना प्रार्थनेऽवश्यकर्तव्यत्वं सूचितम्। स्यादिति सम्भावनायां; सा हि विरहज्वरान्न निद्रात्येव, यदि कथञ्चिद् उपभोगानुस्मरणान्निद्राति तदा मदा-

---

१. "जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्यात्" इति पा०।
२. "तत्रासीनः स्तनित—" इति "अन्वासीनः स्तनित०" इति च पाठान्तरे
३. "सहेथाः" इति पा०। ४. "प्रणयिनि जने" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिङ्गनादिपरंवेत्यर्थः, अतएव प्रार्थये याममात्रं सहेथा इति, प्रार्थने याममात्र-मित्यनेन पूर्वं प्रहरव्यापी सम्भोगोऽस्येति सूचितम्। किंवा निर्भरसुखानुभवार्थं यामग्रहणम्। रूपकगर्भा स्वभावोक्तिरियम्।

अन्वय

हे जलद! तस्मिन् काले यदि दयिता लब्धनिद्रा स्याद्, एनाम् अन्वास्य स्तनितविमुखः याममात्रं सहस्व। अस्याः प्रणयिनि मयि कथञ्चित् स्वप्नलब्धे गाढोपगूढं सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि मा भूत्।

हिन्दीरूपान्तर

ऐ बादल! उस समय यदि प्रियतमा को नींद आ गयी हो तो इसकी सेवा में रह करके गर्जन से पराङ्मुख होकर सिर्फ़ एक पहर ठहर लेना; (जिससे कि) बड़ी ही कठिनाई से मुझ प्रेमी के स्वप्न में प्राप्त होने पर गाढालिङ्गन तत्काल ही कण्ठ से खिसकी हुई भुजलताओं के बन्धवाला न हो जाय!

टिप्पणियाँ

(१) **जलद!**—यह सम्बोधन यहाँ अनेकानेक भावों को व्यक्त करने के लिये लाया गया है। 'जलं ददातीति जलदः; "आतोऽनुपसर्गे कः" (३-२-३)।' तुम अपनी शीतल बूँदों के कारण ठंढी वायु के झकोरों के द्वारा आराम से सोने का सुख उसे ले लेने देना। अथवा बाहर गर्जन से विमुख होकर बराबर बारिश करते रहना इस प्रकार जलद शब्द को सार्थक करते हुए तुम बेकारी से ऊबोगे भी नहीं। अथवा तुम इस बात को ध्यान में रखना कि जलद यानी जीवनद हो कहीं विरहिणी को प्राणार्तिदायी होने की प्रसिद्धि का ग़लत लाभ उठाकर कष्टसृष्टि न करने लगना। ये तीन वस्तु-ध्वनियाँ यहाँ उपलब्ध होती हैं इनका समप्राधान्य सङ्कर होगा। 'विद्युल्लता' के शब्दों में इन्हें देखें—"जलदेति, स्वकीयशीकरनिकर-शिशिरमारुतस्पर्शेन तस्या निर्वापितशरीरतया सुखनिद्रोपपत्तिर्द्योत्यते। अथवा स्तनितस्यैव निषेधाद् वृथावस्थानपरिहाराय तत्समीपे स्थित्वैव बहिः शनैः शनैर्निः-शब्दं जलमोक्षणविनोदः कार्य इति व्यज्यते। अथवा, विरहिजनजीवितहरत्वेन प्रसिद्धस्य भवतो दर्शने सा यथा न प्राणान् जह्यात् तथा कर्त्तव्यमिति।"

(२) **अन्वास्य**—मल्लिनाथ ने इसका अर्थ "पीछे बैठकर" किया है—"अन्वास्य पश्चादासित्वा इत्यर्थः। उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम्।" वल्लभदेव ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"सेवा करके" किया है—"अन्वास्य सेवित्वा।" पूर्णसरस्वती ने "पास बैठकर" लिखा है—"अन्वास्य उपास्य समीपे निषद्येत्यर्थः।" यहाँ जलद विरहिणी के पीछे या आगे तो बैठ नहीं सकता क्योंकि वह तो बस वातायनस्थ है और निकट जाकर अधिक से अधिक वहीं बैठा रह सकता है। अन्दर घुस जाने पर तो उसे भिगोकर जगा देने की बात आ जायगी और वह विघ्न होगा। यह तो तभी हो सकता है यदि वह वातायनपराङ्मुख होकर लेटी हो पर तब मेघ लब्धनिद्रा है कि नहीं यह कैसे जान पायेगा? इसलिये मल्लिनाथ का अर्थ तो नितान्त असम्भव होने से अयोजनीय है। पूर्णसरस्वती का अर्थ यहाँ भलीभाँति लगाया जा सकता है; पर तब जलद की व्यञ्जनाएँ सम्भव न हो पायेंगी। पास बैठकर न तो वह अपनी विभीषिका हटा पायेगा न जलमोक्षणविनोद और न सुखनिद्रोपपत्ति ही प्रस्तुत कर पायेगा। मल्लिनाथ ने अन्य स्थलों पर 'अन्वास्य' 'अन्वासितम्' या 'अन्वास्ते' का पीछे बैठना अर्थ न देकर अन्य अर्थ दिये हैं। 'रघुवंश' (१.५६) "विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्। अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥" में मल्लिनाथ ने 'अन्वासितम्' का फलितार्थ 'उपसेवितम्' दिया है; 'रघुवंश' (२.२४) "तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसखायः।" में मल्लिनाथ ने 'अन्वास्य' का अर्थ 'अनूपविश्य' दिया है; और 'कुमारसम्भव' (३.१७) "गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्। अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतम्मया मत्प्रणिधिः स वर्गः।" में मल्लिनाथ ने "अन्वास्ते" पर लिखा है—"स्थाणुं रुद्रमन्वास्ते, उपास्त इत्यर्थः।" वस्तुतः; कालिदास के इन सारे प्रयोगों पर ध्यान देने पर यही द्योतित होता है कि 'सेवित्वा' या 'उपास्य' के अर्थ में 'अन्वास्य' का प्रयोग कालिदास ने सर्वत्र किया है। वसिष्ठ जी अरुंधती के द्वारा सेवित हैं; दिलीप नन्दिनी की सेवा करके सोते हैं; शिव की पार्वती सेवा कर रही हैं; और उसी तरह यहाँ भी वल्लभदेव का ही अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है—'सेवित्वा'।

(३) **याममात्रम्**—"याममेव याममात्रम्। मयूरव्यंसकादिवत् समासः।" नन्दार्गिकर के संस्करण में उपलब्ध महिमसिंहगणि की टीका के अनुसार यक्ष ने मेघ से एक पहर ठहरने के लिये इसलिये कहा कि उसकी प्रियतमा 'पद्मिनी' थी और पद्मिनी-जाति की स्त्रियाँ सिर्फ़ एक पहर भर सोती हैं ऐसा शास्त्रवचन है। प्रत्त उद्धरण है—"पद्मिनी यामनिद्रा च द्विप्रहरा च चित्रिणी। हस्तिनी यामत्रितया घोरनिद्रा च शङ्खिनी।" इसलिये यक्षाङ्गना की नींद एक पहर में ही पूरी हो जानेवाली थी अतः 'याममात्रं सहस्व' लिखा है। मल्लिनाथ ने 'गाढोपगूढ' पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्यान केन्द्रित करके ग्राम्यधर्म के काल के अनुसार एक पहर ठहरने की बात ठीक ठहरायी है—"शक्तयोरेकवारसुरतस्य यामावधिकत्वात् स्वप्नेऽपि तथा भवितव्यम् इत्यभिप्राय:। तथा च रतिसर्वस्वे—'एकवारावधिर्यामो रतस्य परमो मत:। चण्डशक्तिमतोर्यूनोरद्भुतक्रमवर्तिनो:॥'—इति।" दक्षिणावर्तनाथ ने मल्लिनाथ की बात का समर्थन किया है और महिमसिंहगणि का खण्डन इन शब्दों में किया है—"विरहिणां याममात्रं स्वापो न भवति। उक्तं च—'त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।' इति। सत्यमिदम्। न तत्स्वापापेक्षया याममात्रपदं प्रयुक्तम्, किन्तु सम्भोगापेक्षया।" भरतसेन ने दोनों अर्थों को स्वीकार किया है। परन्तु इन दोनों अर्थों से अधिक सुन्दर भाव पूर्णसरस्वती ने प्रस्तुत किया है। पहले पहर में चिन्तासन्तापवश सोने का प्रश्न ही नहीं उठता। तीसरे पहर में उत्तम स्त्रियों के लिये सोने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो उठने ही का समय है। रात तीन ही यामों की मानी जाती है—'त्रियामा' उसका नाम ही है। अत: दूसरे पहर में अगर थकावट और स्वाभाविक कालजन्यशीतलतावश किसी तरह नींद लग गयी होगी तो एक पहर भर ही की बात है:—"याममात्रं मुहूर्तत्रयमात्रम्, तावतोऽवधेरन्यूनातिरिक्ततया रमणीयत्वात् समागमसुखस्य तावता निर्वृत्तत्वेन स्वप्नविरहस्य तादृशदु:खावहत्वाभावात्। प्रथमयामे चिन्तासन्तापेन निद्रया विहीने, द्वितीययामे श्रमेण स्वाभाविककालशैत्याच्च कथञ्चिन्निद्रोपपत्तेः, तृतीययामे पुन: प्रवोधाच्च उत्तमस्त्रीणामतिचिरनिद्राया अयुक्तत्वाच्च याममात्रमित्युक्तम्।"

अलङ्कारादि—प्रबोधन के वर्जित करने के हेतु का अभिधान करने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि प्राप्त होती है। वैसे परिकराङ्कुर भी माना जा सकता है।

तामुत्थाप्य[1] स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां [2]सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भे[3] [4]निहितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं [5]धीरस्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथा:॥३२॥

---

१. "प्रोत्थाप्यैनाम्" इति पा०। २. "मालतीनां रजोभि:" इति पा०।
३. "विद्युद्गर्भ:" इति "विद्युद्गर्भस्तिमित०" इति, "विद्युत्कम्पस्तिमित०" इति च पाठान्तराणि। ४. "स्तिमितनयनाम्" इति पा०।
५. "धीर स्तनित०" इति, "धीर: स्तनित०" इति, "धीरै: स्तनित०"

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

ततः सुप्तां तां मनस्विनीं निजोदकबिन्दुभिस्तुषारेण समीरणेनोत्थाप्य गम्भीरगर्जितेनैव वचसा वक्तुं प्रक्रमेथाः प्रारभेथाः। कीदृशीम्? शीतवातसंस्पर्शात् समाश्वस्तां मालतीजालकैः सह। सा हि प्रभाते विकसति। तथा भवदधिष्ठितत्वाद् विद्युद्गर्भे तडित्वति वातायने दिदृक्षया क्षिप्तचक्षुषम्॥

सुबोधा

इदानीं प्रहरप्रतीक्षानन्तरं यत् कर्तव्यं तदुपदिशन्नाह—ताम्। धीरध्वनितवचनैर्मन्दगर्जितरूपवाक्यैस्तां मानिनीं मानवतीं मत्कान्ताम् उत्थाप्य प्रबोध्य, त्वं वक्तुं कथयितुं प्रक्रमेथा आरभस्व। शोकसन्तप्ता कथं श्रोष्यतीत्याह—स्वजलकणिकाशीतलेन निजतोयलवशिशिरेण, अनिलेन वातेन अभिनवैर्नूतनैर्विकाशोन्मुखैः मालतीनां जातीनां जालकैः कोरकैः, समं सह, प्रत्याश्वस्तां मुक्तखेदाम्। गृहान्तर्गतां विदूरवर्तिनीम् अनवधानां कथं वदिष्यामीत्याह त्वत्सनाथे, त्वया ससहाये अधिष्ठिते, गवाक्षे वातायने, विद्युत्कम्पस्तिमितनयनां विद्युतः कम्पेन चलनेन स्तिमिते निश्चले नयने लोचने यस्यास्तादृशीम्। उत्थाप्येत्यत्र वक्तुमित्यत्र च धीरध्वनितवचनैरित्यस्य सम्बन्धो बोध्यः। स्वजलकणिकेत्यादिना यथा जलकणिका शीतलाऽल्पवातेन मालतीजालकं प्रत्याश्वसिति तथा तदनुरूपं वातवर्षमनुष्ठेयं नाधिकमिति सूचितम्। किञ्च मालतीजालिकावत् सौकुमार्यमस्या इति। किञ्च मालतीविटपवेष्टितं किल तदायतनं बोध्यमिति। अन्येषामपि त्वं सन्धुक्षणकारी यथा मालतीनामिति। ननु नवो वातो विरहिदुःखदः, उक्तञ्चानेनापि 'मेघालोके भवति सुखिन' इत्यादि तत् कथं तेन प्रत्याश्वासोऽस्याः? प्रियागमप्रत्याशया आश्वासो बोध्यः। उक्तञ्चानेनैव प्रत्ययादाश्वसत्य इति। किंवा पूर्वानुभूतवासनयोक्तम्, पूर्वं हि रतिक्लान्तिशान्तिः शीतलवातेन जनिता। विद्युत्कम्पस्तिमितनेत्रत्वं तदभिमुखध्वनिः। प्रबलगाजतेन चमत्कृतिः स्यादित्युक्तं धीरध्वनितवचनैरिति। "धीरो धैर्यान्विते मन्दे" इति बलः। हे धीर सावधानेति सम्बोधनं वा। धीरस्तनितवचनैरिति क्वचित् पाठः। धीरध्वनितवचन इति पाठे मन्दगर्जितवाक्यः सन् त्वम्। धीरध्वनितवचनमिति पाठे क्रियाविशेषणम्। मानिनीमिति, "मानश्चित्तसमुन्नतिः" स नित्यमतिशयितं वा विद्यतेऽस्या इति

इति 'धीरध्वनित" इति,—"स्तनितवचनो" इति, "धीरध्वनितवचनो" इति—"वचनम्" इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनिः। सा हि मानशालिनीत्वात् संवादव्यलीकमपि न सहते; अतोऽवधानेन वदिष्यसीत्याकूतम्। "मानश्चित्तोन्नतौ ग्राह" इति विश्वः। मानपूजायामित्यतो घञि मानः पूजा, तद्युक्तां मानिनीं पतिव्रतात्वात् पूज्यामित्यर्थ इति च व्याचक्षते। प्रक्रमेथा इति "प्रोपादारम्भे" इत्यात्मनेपदम्॥

अन्वय

तां स्वजलकणिकाशीतलेन अनिलेन उत्थाप्य अभिनवैः मालतीनां जालकैः समम् प्रत्याश्वस्तां त्वत्सनाथे विद्युद्गर्भे गवाक्षे निहितनयनाम् मानिनीं (त्वं) धीरस्तनितवचनैः वक्तुम् प्रक्रमेथाः।

हिन्दीरूपान्तर

अपने पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदों से शीतल वायु के द्वारा उसे उठाकर मालती की नयी कलियों के साथ-साथ खिल उठी हुई और अन्तर्लीन बिजलीवाले तुमसे संवलित झरोखे पर गड़ी हुई दृष्टिवाली मनस्विनी से धैर्यपूर्ण गर्जन के शब्दों द्वारा कहना शुरू करना।

टिप्पणियाँ

(१) **स्वजलकणिकाशीतलेन**—'स्वल्पाः कणाः कणिकाः। [कणति; '√कण गतौ' (भ्वादि.) धातो पचादित्वाद् अच्। ततोऽल्पार्थे कन्। स्त्रियां टाप्। अथवा, क्वुन्-प्रत्यययोगात् कणतेः। उद्वा कणतेरच्। कणाः सन्त्यासामिति ठन्। "अत इनिठनौ" (५-२-११५)।] "कणिका सूक्ष्मवस्तुनि। अग्निमन्थे —" इति अनेकार्थसङ्ग्रहः। "प्रायेण बहुवचनान्तो"ऽयमिति—'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी। स्वस्य जलं स्वजलम् स्वजलस्य कणिकाः। स्वजलकणिकाः। ताभिः शीतलः स्वजलकणिकाशीतलः, तेन।' इससे महारानियों की तरह का उसका प्रबोधन सूचित होता है। भोज ने लिखा है—"मृदुभिर्मर्दनैः पादे शीतलैर्व्यजनैस्तनौ। श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत् प्रभुम्॥"

(२) **प्रत्याश्वस्ताम्**—"प्रति + आ + '√श्वस प्राणने' (अदादि०) + क्त' (स्त्रियाम्) = प्रत्याश्वस्ता; ताम्।" आदितश्च" (७-२-१६) इतीट्प्रतिषेधः। प्रत्याश्वस्त का अर्थ है निर्वृत या आनन्दित अथवा सुस्थ। चमेली की कलियों के पक्ष में इसका अर्थ थोड़ी उच्छ्वसित या खिली हुई। 'त्रिकाण्डशेष' का कथन है—"आख्यायिकापरिच्छेदे चाश्वासो निर्वृतावपि।" सारार्थचन्द्रिकाकार का व्याख्यान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी देखने योग्य है—"आख्यायिकापरिच्छेदे गद्यपद्यमयप्रबन्धस्य विच्छेदे। निर्वृतौ। सुस्थितौ। अपिशब्दादाश्रयदाने। भीतस्य भयनिवारणार्थे सान्त्वने च।" मल्लिनाथ का कथन है कि इस विशेषण से यक्षाङ्गना का मालतीजालक साधर्म्य प्रतिपादित होता है और उससे नायिका का कुसुमसौकुमार्य ध्वनित होता है— "एतेनास्याः कुसुमसौकुमार्यं गम्यते।"

(३) **जालकैर्मालतीनाम्**—यहाँ पर जालक का अर्थ है कली और मालती चमेली के लिये संस्कृत में आता ही है। पूर्णसरस्वती ने 'जालक' शब्द से 'समूह' अर्थ भी लिया है—"जालकैः कुड्मलैः समूहैर्वा।" 'जालक' शब्द कई अर्थों में आता है—"जालकं कोरके दम्भे कुलायानाययोरपि। न पुंसि मोचनफले स्त्रियां तु वसनान्तरे।। गिरिसारजलौकायामपि स्याद् विधवास्त्रियाम्। भटानामश्मरचिताङ्गरक्षिण्यां च जालिका।।" चमेली की कलियाँ निशीथ में ही खिलती हैं अतः उनके उच्छ्वास के साथ ही यक्षाङ्गना का चैन से साँस लेना निसर्गसिद्ध है। 'जालक' का समूह अर्थ मानने पर 'मालती' का लक्ष्यार्थ मालती के फूल लेना पड़ेगा।

(४) **विद्युद्गर्भे**—वल्लभदेव के अनुसार यही पाठ समीचीन है। मल्लिनाथ ने "विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनाम्" पाठ माना है। अध्याहृतकर्तृपद 'त्वम्' के विशेषणमात्र को उपन्यस्त करना शुद्ध शब्दशिल्प की दृष्टि से साधु नहीं माना जा सकता। साथ ही 'त्वत्सनाथे गवाक्षे' होने से उस गवाक्ष का 'विद्युद्गर्भे' विशेषण भी प्रकृतिसिद्ध है। बरसनेवाले बादल बिजली से संवलित तो रहते ही हैं। अतः जलदयुक्त गवाक्ष का विद्युद्गर्भत्व सुतरां समीचीन है। गर्भ के कई अर्थ होते हैं— "गर्भोऽपवरकेऽन्तस्थे गर्भोऽग्नौ कुक्षिणोऽर्भके" (शब्दार्णव)। सारोद्धारिणीकार ने बहुत ही समीचीन बारीकियाँ उद्भावित की हैं। किसी एकाकी पुरुष का एकान्त में परस्त्री से सम्भाषण करना भी अनुचित है और ऐसे पुरुष से एक पतिव्रता को तो एकान्त में बिल्कुल ही बात नहीं करनी चाहिए और खास तौर से निशीथ में। अतः मेघ को सपत्नीक प्रस्तुत करने में कालिदास की कला की सूक्ष्मता है—"विद्युद्गर्भः स्त्रीसहायः। परनारीसम्भाषणमेकाकिनो नोचितम्।" जो गवाक्ष 'त्वत्सनाथ' है वही 'विद्युद्गर्भ' भी है। इससे दम्पती का ऐकाधिकरण्य भी आ जाता है। 'त्वत्सनाथे' में सनाथ का अर्थ यहाँ पर सहित है—"सनाथं प्रभुमित्याहुः सहिते चित्ततापिनि" (शब्दार्णव)। 'मेघ'-रूपी परपुरुष को यहाँ शब्दतः उपात्त न करके कवि ने यक्षाङ्गना के परोक्ष रहकर ही सम्भाषणनिरत दिखाया। आमना-सामना कराना अभीष्ट होता तो मेघ को साक्षाच्छब्दोपात्त करके प्रस्तुत करता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) **गवाक्षे**—'गवामक्षीव। "अक्ष्णोऽदर्शनात्" (५-४-७६)-इत्यच्। गावो जलानि किरणा वाक्षन्ति व्याप्नुवन्ति एनमनेन वा। "√अक्षु व्याप्तौ" (भ्वादि०) अकर्त्तर्य्यर्थे घञ्।'

(६) **मानिनीम्**—"मानिनीमुन्नतचित्तां मनस्विनीमित्यर्थः। "मानश्चित्त-समुन्नतिरित्यमरः।" अनेन विशेषणेन तस्याः पुरस्ताद् धीरमेव वक्तव्यं कातर-वचने तु सा मिथ्येति जानातीत्युक्तम्।"—(दक्षिणावर्तनाथ)। अन्य व्यङ्ग्यार्थ पूर्णसरस्वती ने बड़ी अच्छी तरह प्रस्तुत किये हैं—"मानिनीं स्वचारित्रपरिरक्ष-णाभिमानशालिनीम्। ततोऽपि तव तथा संलापे न दोष इति भावः। अथवा, एतावतो दिवसान् दुःखिताया ममाश्वासनाय वार्तामात्रमपि न कस्यचिद् मुखेन कठिनहृदयेन प्रेषितमिति मयि प्रणयकोपवतीमित्यर्थः"।—(विद्युल्लता)।

(७) **प्रक्रमेथाः**—'√क्रमधातु' स्वार्थ में परस्मैपद है। यहाँ "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्" (१-३-४२) सूत्र से प्रारम्भार्थ में आत्मनेपद प्रयुक्त हुई है। भट्टोजि दीक्षित ने लिखा है—"समर्थौ तुल्यार्थौ। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। प्रारम्भे-ऽनयोस्तुल्यार्थता।" तत्त्वबोधिनीकार ने इसी से लिखा है—"प्रोपाभ्याम् प्रारम्भे" इत्येव सुवचम्।

अलङ्कार—यहाँ सहोक्ति और परिकर की संसृष्टि है।

किं वक्ष्यामीत्याह—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे[1] विद्धि मामम्बुवाहं
[2]तत्सन्देशान्मनसि [3]निहितादागतं[4] त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां[5]
[6]मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥३३॥

पञ्चिका

हे अविधवे पतिवत्नि भावत्कस्य पत्युर्मित्रं प्रियमम्बुवाहं जीमूतं मां त्वं विद्धि जानीहि। तत्सन्देशान्मनसि निहितात्तदीयं सन्देशं चेतसि गृहीत्वा त्वन्निकटं प्राप्तम्।

---

१. "अभिदधे" इति पा०। २. "तत्सन्देशैः" इति पा०। ३. "मनसि निहितैः" इति, "हृदयनिहितैः" इति, "हृदयनिहितात्" इति च पाठान्तराणि। ४. "प्राप्तवांस्त्वसमीपम्" इति पा०। ५. प्रेक्षितानाम्" इति "अध्वगानाम्" इति च पाठान्तरे। ६. "सान्द्रस्निग्धैः" इति, "मन्द्रस्निग्धध्वनि०" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यश्चाम्बुवाहो मार्गे श्राम्यतां खेदं भजतां प्रोषितानां प्रवासिनां कदम्बकानि मन्द्रस्निग्धैर्मधुरारूक्षैर्गर्जितैस्त्वरयति प्रेरयति गृहाय। यतोऽबलानां कान्तानां वेणिमोक्षणे कबर्युन्मोचने उत्सुकान्युत्कानि। मेघालोके हि विरहो दुःसहः। यस्त्वरयति इत्यम्बुवाहापेक्षया पुंस्त्वं प्रथमपुरुषनिर्देशश्च। मित्रास्मदपेक्षया तु दुर्घटमेतत् स्यात्।

सुबोधा

प्रियामाश्वासयितुं मेघोक्तिमाह--भर्तु। हे अविधवे जीवत्पतिके अम्बुवाहं मेघं माम्, भर्तुः प्रकृतत्वात्तव स्वामिनः, प्रियं प्रेमपात्रम् मित्रं सुहृदं विद्धि जानीहि। अतएव मनसि हृदये, निहिताद् अर्पितात्, तत्सन्देशात् तस्य तव भर्तुः सन्देशाद् वाचिकात्, संवादात्, त्वत्समीपं तव सान्निध्यम् आगतं सम्प्राप्तम्। योऽम्बुवाहः, मन्द्रस्निग्धैः गम्भीरमधुरैः ध्वनिभिः गर्जितैः, पथि वर्त्मनि, श्राम्यतां खिद्यमानानां, प्रोषितानां प्रवासिनां विरहिणाम्, अबलायाः कान्तायाः, या वेणिः केशरचनाविशेषः तस्या मोक्षे मोचने, उत्सुकानि उत्कण्ठितानि, वृन्दानि समूहान्, त्वरयति त्वरां कारयति, गृहं गन्तुमत्यर्थं प्रेरयति। प्रियमिति कष्टमैत्रीनिवृत्त्यर्थम्, प्रियं प्रीतिकारिणं न तु कामोद्दीपकत्वादप्रियमित्यर्थः, अतस्तत्सन्देशादागमनम्। न मयि परपुरुषाऽऽशङ्का कार्या। अविधवे इत्यनेन तव भर्ता जीवति किन्तु त्वद्विरहेण दुःखाऽऽधिक्यमिति सूचितम्।

ननु अविर्गड्डरको धवोऽस्या इति ग्राम्यतादोषोऽत्र यथा, "या भरतप्रिया" इत्यत्र याभो मैथुनं तद्युक्तस्य प्रियेति ग्राम्यता, न च वाच्यम्, अविधवा-शब्दस्य लोकसम्मतत्वात्; यदुक्तम्—

"न तस्य ग्राम्यता यस्तु शब्दः स्याल्लोकसम्मतः।
भगिनी भगवतीत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते॥" इति।

विद्धि मामित्यत्र तमिति गम्यते यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। तत्सन्देशादिति हेतौ पञ्चमी, किंवा ल्यबर्थे तत्सन्देशं सङ्गृह्येत्यर्थः। मनसि निहितादित्यनेन तेन यद्यदुक्तं तन्मनसि यत्नेन धृतं तत्प्रियत्वात्, न तु विस्मृतमिति सूचितम्। यो वृन्दानीत्यादिना प्रोषित-भर्तृकाणामहमुपकारी, त्वामपि संवादेनोपकरिष्यामीति सूचितम्। केचित्तु, पथि श्राम्यतां विश्रामं कुर्वताम्, उपसर्गं विनापि श्रमेर्विश्रामार्थता इत्याहुः। मन्द्रस्निग्धैरित्यनेन कामोद्दीपकता सूचिता। कान्ते प्रोषिते स्त्रीभिर्वेणी बध्यते प्रवासादागत्य कान्तेनैव सा मोक्ष्यते इति अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि इत्युक्तम्। प्रेयोऽलङ्कारः, यदुक्तम्--"प्रेयः प्रियतराख्यानम्" इति॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्वय

हे अविधवे ! मां भर्तुः प्रियं मित्रं मनसि निहितात् तत्सन्देशात् त्वत्समीपम् आगतम् अम्बुवाहं विद्धि, यः मन्द्रस्निग्धैः ध्वनिभिः अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि पथि श्राम्यताम् प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति।

हिन्दीरूपान्तर

ऐ सौभाग्यवती ! मुझे तुम (अपने) पति का प्रिय मित्र मेघ जान लो जो कि तुम्हारे पास उसके मनोनिहित संदेशों के कारण आया हुआ है और जो रास्ते में थकते हुए परदेसियों के (अपनी) प्रेयसियों के जूड़े को खोलने के लिये उत्सुक झुंडों को ज़ोरदार और प्यारी गड़गड़ाहटों से शीघ्रगामी बना देता है।

टिप्पणियाँ

विशेष—आचार्य कुन्तक ने निम्नलिखित कारिका का व्याख्यान करते हुए इस रचना का चारुत्व स्पष्ट किया है—

"शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाऽह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥"

वक्रोक्तिजीवितकार का कहना है कि यहाँ पर जो पदार्थरूपी शक्तिपरिस्पन्द कवि के द्वारा उपन्यस्त किया गया है वही इस सम्पूर्ण प्रबन्ध की 'मेघदूतता' का वास्तविक प्राण है और इसी से वह सर्वाधिक सहृदयहृदयाह्लाददायी है। यहाँ मैं उस महान् काव्यचिन्तक के शब्दों को उद्धृत कर देने में ही सबसे बड़ी विवेचनसफलता मानता हूँ—

"अत्र प्रथममामन्त्रणपदार्थः तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः।' भर्तुर्मित्रं मां विद्धि'—इत्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति। तच्च न सामान्यम्। प्रियमिति विश्रम्भकथापात्रतामिति तामाश्वास्य उन्मुखीकृत्य च तत्सन्देशात् त्वत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति। 'हृदयनिहिताद्'—इति स्वहृदयनिहितं सावधानत्वं द्योत्यते। ननु चान्यः कश्चिदेवंविधव्यवहारविदग्धबुद्धिः कथन्न नियुक्त इत्याह—ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते। 'अम्बुवाहम्'—इति, आत्मनस्तत्कारिताऽभिधानं द्योतयति।'यः प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति' सञ्जातत्वराणि करोति। कीदृशानाम्? 'श्राम्यताम्', त्वरायामसमर्थानामपि। 'वृन्दानि'—इति बाहुल्यात् तत्कारिताऽभ्यासं कथयति। केन? 'मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिः' माधुर्यरमणीयैः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दैः, विदग्धदूतप्ररोचनावचनप्रायैरित्यर्थः। क्व? 'पथि', मार्गे। यदृच्छया यथाकथञ्चिदहमेतद् आचरामीति।.किम् पुनः प्रयत्नेन सुहृत्प्रेमनिमित्तं संरब्धबुद्धिन्न करोमीति? कीदृशानि वृन्दानि? 'अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि', अबलाशब्देनात्र तत्प्रेयसीविरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते। तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनुरक्तचित्त-वृत्तित्वम्। तदयमत्र वाक्यार्थः—विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्त-चित्तवृत्तेः यस्य कस्यचित् कामिजनस्य समागमसौख्यसम्पादनसौहार्दे सदैव गृहीत-व्रतोऽस्मीति। अत्र यः पदार्थपरिस्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य मेघदूतत्वे परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाऽह्लादकारी।" इनके अतिरिक्त जो काव्यसौन्दर्य टीकाकारों ने यत्र-तत्र ढूँढ़ निकाले हैं वे भी दिये जा रहे हैं:—

(१) भर्तुः—"न केवलं प्रियेति तस्य मदन एव, अपितु धर्मपत्नीति शोकोऽपि त्वद्-विरहे वर्तत इति द्योत्यते, 'पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च'—इति रामायणोक्तेः। अतश्च तव धर्मपत्न्याः समाश्वासनमवश्यकर्त्तव्यमेव तस्येति द्योत्यते।"—**विद्युल्लता।**

(२) **मित्रम् प्रियम्**—"सुहृदम। ईदृशेषु कार्येषु मित्राणामेवाधिकृत-त्वात्। तेषामपि अपण्डितत्वानात्मवित्त्वादिदोषवत्त्वाद् अप्रियत्वे बाह्यत्व-माशङ्क्याह—प्रियमिति। निर्दोषोऽयमिति मां हृदयनिर्विशेषं मन्यमानः परम-मन्त्रेष्वन्तरङ्गीकरोति-इत्यर्थः। 'नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम्। अपण्डितो वाऽपि सुहृत् पण्डितो वाऽप्यनात्मवान्।" इति महाभारतोक्तेः।"—**विद्युल्लता।**

(३) **अविधवे!**—इसमें जो अमङ्गलव्यञ्जकता या ग्राम्यता आदि के ले आने की बात है उसका निराकरण भरतसेन ने कुशलता से किया है। दक्षिणा-वर्तनाथ ने कविसमयविरोधिता का भी खण्डन किया है। 'रामायण' में यह पद आया है।—"ये मामाहुः पितुर्गेहे पुत्रिण्यविधवेति च।"

(४) **मनसि निहितात्**—"न तु लेखार्पितात्। अनेन मम निसृष्टार्थताम् आप्त-ताञ्चावगम्य मन्मुखे तेन दत्तो मया चावधानेन हृदये निक्षिप्त इति द्योत्यते।"—**विद्युल्लता।**

(५) **श्राम्यताम्**—"स्थपुटगिरिकटकसरिदवटतरुविटपादिसङ्कटे मार्गे सीदताम्। अनेन तादृशक्लेशशतनिरूपणेनैव तेषामविश्रमं प्रवृत्तिर्व्यज्यते।"—**विद्युल्लता।**

(६) **अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि**—"विरहव्यक्तदौर्बल्यानां प्रेयसीनामेत-च्छब्दश्रवणे जीवितसंशयोऽपि स्यादिति शङ्कया तत्परिहाराय झटित्यपगमेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तासामेकवेणीबन्धनोद्वेष्टनार्थम् उत्कण्ठितानीत्यर्थः। यस्त्वरयति तमम्बुवाहं मां त्वत्समीपमागतं विद्धीत्युक्तेः, अत्रापि मम शक्तिरस्त्येव, किन्तु विधिविहितस्याव-धेरलङ्घ्यत्वात्तदीयदूतत्वेनाऽगतोऽस्मि। किं करोमि मान्यशीले। नान्या गतिरस्ति इत्यनुकम्पा सन्तापश्च ध्वन्यते।"—विद्युल्लता।

अलङ्कार—यहाँ सामान्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

इत्याख्याते पवनतनयं[1] मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य[2] चैव।
श्रोष्यत्यस्मात् परमवहिता[3] सौम्य[4] सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः[5] सुहृदुपनतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः ॥३४॥

पञ्चिका

इत्थं त्वयोक्ते सति सा त्वाम् उद्वक्त्रा दृशा दृष्ट्वा धिया चोपपद्यते तद्दूतत्व-मस्येति सम्भाव्य विचार्यातः परमवहितैकाग्राऽकर्णयिष्यति। यस्मात् पुरन्ध्रीणां मित्रेणाऽनीतः कान्तोदन्तो वल्लभवृत्तान्तः सङ्गमात् किञ्चिदूनः। प्रियसमागमे समाश्वासोत्पादात् प्रियसङ्गमनिभ इत्यर्थः। कमिव का वीक्ष्येत्याह। पवनतनयं हनूमन्तं मैथिली सीता यथा पूर्वं दृष्टवती दूतञ्च सम्भावितवती। उत्कण्ठयोच्छ्व-सितं मुक्तोच्छ्वासं हृदयं यस्याः सा तथोक्ता॥९७॥

सुबोधा

असम्भावना-मिथ्याज्ञानेन सा किलानवधाना भविष्यतीत्याह—इत्या। हे सौम्य सच्चरित, इत्येवं भर्तुर्मित्रमित्यादिना प्रकारेण, आख्याते उक्तवति, प्रकृत-त्वात् त्वयि, उन्मुखी ऊर्ध्वमुखी त्वदभिमुखमुन्नमितवदना सती, उत्कण्ठोच्छ्वसित-हृदया उत्कण्ठया उत्कलिकया उद्वेगेन उच्छ्वसितमुल्लङ्घितं हृदयं चित्तं यस्या-स्तादृशी सा मत्कान्ता त्वां वीक्ष्य विशेषेणावलोक्य, सम्भाव्य स्वागतं भवत इत्या-दिना आलप्य च, अस्मात् प्रत्यक्षीभूताद् भवतः, परम् अत्यर्थम् अवहिता सहावधाना

---

१. "पवनतनये" इति पा०। २. "सम्भाष्य" इति पा०। ३. "परमव-हितम्" इति, "परमपि हितम्" इति च पाठान्तरे। ४. "सोय" इति पा०। ५. "कान्तोपान्तात्सुहृदुपगमः" इति "कान्तोपान्तात्सुहृदुपगतः" इति, "कान्तो-दन्तः सुहृदुपगतः" इति, "कान्तोदन्तः सुहृदुपहृतः" इति च पाठान्तराणि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सती, श्रोष्यति त्वदुच्यमानवार्तामित्यर्थात्। यथा पवनतनये हनूमति विषये, उन्मुखी उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया मैथिली सीता शुश्राव रामवार्ताम्। कथमेवमवश्यं भविष्यतीत्याह, सीमन्तिनीनां स्त्रीणां सुहृदा बन्धुना, उपगत आनीतः, कान्तोदन्तः प्रियवार्ता, सङ्गमात् सम्मिलनात् किञ्चिदूनः अल्पहीनः सङ्गमप्राय इत्यर्थः। आख्यात इत्यारम्भे कर्तरि क्तः, किंवा कर्मणि क्तः; इति पूर्वोक्ते आख्याते त्वया उक्ते सतीति योज्यम्। पवनतनयमिति पठित्वा हनूमन्तं वीक्ष्य सम्भाव्य च मैथिलीवेति व्याचक्षते केचित्। चैवं-शब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ। अस्मात् परं सम्भाषणादनन्तरमिति च व्याचक्षते। सौम्यसीमन्तिनीनामिति समस्तसुचरित- स्त्रीणामिति च व्याचक्षते। श्लेषोपमागर्भार्थान्तरन्याससङ्कीर्णमिदम्॥

अन्वय

इति आख्याते पवनतनयं मैथिलीव उन्मुखी सा उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया (सती) त्वां वीक्ष्य सम्भाव्य च अस्मात् परम् अवहिता (सती) श्रोष्यति एव; सौम्य! सीमन्तिनीनां सुहृदुपनतः कान्तोदन्तः सङ्गमात् किञ्चिद् ऊनः (भवति)।

हिन्दीरूपान्तर

इस तरह कहने पर हनुमान् जी की ओर सीता जी की तरह वह उन्मुख होकर और उत्कण्ठावश आनन्दितचित्ता होकर तुम्हारी ओर देखकर और तुम्हारा सत्कार करके इसके पश्चात् सावधान होकर अवश्य सुनेगी (क्योंकि) ऐ महाशयजी! सुहागिनों के लिये मित्र द्वारा लाया हुआ पति का समाचार (उनके) संयोग से तनिक ही कम होता है।

टिप्पणियाँ

(१) **पवनतनयम् मैथिलीव**—इस अप्रस्तुतयोजना के द्वारा मेघ की तुलना हनुमान् जी के साथ और यक्षपत्नी की सीता जी के साथ प्रस्तुत की गयी है। हनुमान् पद का भी उपादान किया जा सकता था परन्तु कवि ने 'पवनदेव का पुत्र' इसलिये कहलवाया है कि जिससे "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" के अनुसार पवनवेग से शीघ्रगामिता एवं दुर्लङ्घनीय गिरिकान्तारलङ्घनशक्ति ध्वनित हो जाय। साथ ही हनुमान् जी की उपमानता से मेघगत दुष्कर कार्य करने की सामर्थ्य, मित्र के कार्य के विषय में अवैरस्य, बन्धुजन से अनुराग, जितेन्द्रियता और विशुद्धशास्त्र के द्वारा प्रकाशित प्रतिभा का विकास व्यक्त होते हैं। मैथिली शब्द से केवल सीर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्वज जनक की ही नहीं अपितु मिथिला में उत्पन्न भूत एवं तदानीन्तन निमिवंश एवं जनकवंश के राजर्षियों के बीच अतिपवित्र आत्मचरित के कारण पावन अलङ्कार बन चुकी हुई सञ्ज्ञिनी की प्रतीति होती है। साथ ही सीता की उपमानता से यक्षाङ्गनागत चरित्र की पवित्रता, कुलीनता और स्त्रीरत्नता प्रकाशित होती है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में—"पवनतनयम् पैतृकबलावलेपतृणीकृतदुर्लङ्घलङ्कादुर्गं स्वसमीपमागतं हनूमन्तम्। मैथिलीत्यनेन न केवलं सीरध्वजस्यैव, किन्तु मिथिलाभवानामतीतानामागामिनाञ्च राजर्षिणामतिपवित्रेण निजचरित्रेण पावन्यलङ्कारभूता चेति ध्वन्यते। मैथिलीव वीक्ष्येत्यनेन, यथा देवी सीता वातात्मजं हर्षविस्मयस्नेहबहुमानविश्वासोत्कण्ठाशबलितहृदयमवलोकितवती तथा त्वां मद्गेहिनीति व्यज्यते। उपमानेन दुष्करकार्यशक्तत्वम्, मित्रकार्येष्वनिर्वेदः, बन्धुजनानुरागः, विशुद्धशास्त्रोद्भासितप्रतिभाप्रसरत्वम्, विजितेन्द्रियत्वं च मेघस्य; निजचरित्रनिष्कलङ्कत्वम्, महाभिजनत्वम्, स्त्रीरत्नत्वञ्च नायिकायाः प्रकाश्यते।" स्त्रीविषयक दूत का लक्षण है—

"ब्रह्मचारी बली धीरो मायावी मानवर्जितः।
धीमानुदारो निःशङ्को वक्ता दूतः स्त्रियाम् भवेत्।"

(२) **उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया**—'उत्कण्ठया उच्छ्वसितम्, उत्कण्ठोच्छ्वसितम्। उत्कण्ठोच्छ्वसितं हृदयं यस्याः सा तथोक्ता।' कामजन्यस्मृति को उत्कण्ठा कहते हैं—"उत्कण्ठोत्कलिके समे"—(अमरकोश)। उच्छ्वसित का आशय आश्वस्त से है—"उच्छ्वासः प्राणनाश्वासगद्यबन्धगुणान्तरे" (विश्वप्रकाश)। यक्षाङ्गना कामजन्यस्मृति के कारण आश्वस्तहृदया थी। अथवा विरहोद्वेग के कारण लम्बी-लम्बी आहों से भरे हुए हृदयवाली थी। दूसरा अर्थ भरतसेन ने लिया है और पहला अर्थ मल्लिनाथ ने। प्रसङ्गवश मल्लिनाथ के अर्थ की सार्थकता अप्रस्तुतपक्ष के द्वारा भी समर्थित है—"कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे। एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।।" साथ ही "भर्तुर्मित्रम्" इत्यादि सुनकर भी चित्त का दुःखित रहना तो सर्वथा असमीचीन प्रतीत होता है।

(३) **सम्भाव्य**—सम् + √भू + णिच् + ल्यप् = सम्भाव्य। अप्रस्तुतपक्ष की सम्भावना का स्वरूप वाल्मीकिरामायण (सुन्दर०३६।९-१०) के इन श्लोकों से स्पष्ट है। सीता जी का कथन है—

"न हि त्वाम् प्राकृतम्मन्ये वानरं वानरर्षभ। यस्य ते नास्ति सन्त्रासो रावणादपि सम्भ्रमः। अर्हसे च कपिश्रेष्ठ ! मया समभिभाषितुम्।।"

(४) **अवहिता**—'अव + √डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु.) + क्त=अवहितम्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(स्त्रियाम्) अवहिता। "दधातेर्हिः" (७-४-४२) इत्यतो हित्वम्।, यहाँ पर 'अवहिता' से 'एकाग्रचित्ता' का अर्थ लिया गया है। उन्मुखी के अर्थ का यहाँ दृढीभाव हो जाता है। मैथिली-पक्ष में—"ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम्। उन्नम्य वदनं भीरुः शिंशपामन्ववैक्षत।।" (रामायण—सुं० ३१.१६)

(५) **सीमन्तिनीनाम्**—"सीम्नोऽन्तः। 'शकन्ध्वादिः' (वा० ६-१-९४)। सीमन्तोऽस्त्यस्याः। इनिः (५-२-११५)। स्त्रियां ङीप्।" सीमन्त मांग या केश-विन्यास को कहते हैं। सुन्दर या प्रशस्त सीमन्तवाली को सीमन्तिनी कहते हैं। यह स्थिति केवल सुहागिनों की हुआ करती थी। विधवाएँ केशसंस्कार आदि नहीं कर सकती थीं अतः उनके सीमन्तिनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ कालिदास ने भी सुहागिन के ही अर्थ में इस पद का प्रयोग किया है। कान्त का समाचार उसी को उपलब्ध होगा जिसके पति होगा। वैसे सभी स्त्रियों को अमरसिंह 'सीमन्तिनी'—शब्दवाच्य मानते हैं।

(६) **कान्तोदन्तः**—"कान्तस्य उदन्तः कान्तोदन्तः।√'कमु कान्तौ' (भ्वादि०) धातोः क्तः। "यस्य विभाषा" (७-२-१५) इति नेट्। "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" (६-४-१५) इति दीर्घः। उद्गतोऽन्तो यस्य स उदन्तः।" "उदन्तः साधु-वार्तयोः।" यहाँ पर 'उदन्त' शब्द वार्ता के अर्थ में और 'कान्त' शब्द पति के अर्थ में आया है—"कान्ता नार्याम् प्रियङ्गौ स्त्री, शोभने त्रिषु, ना धवे। लोहे च चन्द्रसूर्यायः-पर्यायात् तु शिलासु च।।" (मेदिनी)। पूर्णसरस्वती ने 'कान्तोपान्तात् सुहृदुपगमः पाठ माना है। परन्तु जो निर्वृति कान्तोदन्त के सही-सही प्राप्त करने से होती है वह सुहृदुपगम से एक विरहिणी को कभी भी नहीं हो सकती। कालिदास ने शोकदशा में सुहृदुपगम को शोकसंवर्धक ठहराया है—"स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।"

(७) **सुहृदुपनतः**—'सुहृदा उपनतः सुहृदुपनतः। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" (५-४-१५०) इति सूत्रात् सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। उप + √नम् + क्तः = उपनतः।

अलङ्कार—यहाँ पर पूर्णोपमा और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है।

तामायुष्मान्[1] मम च वचनादात्मनो[2] चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं[3] तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।

---

१. "आयुष्मन्" इति पा०। २. आत्मनश्चोपकर्तुम्" इति, "आत्मनश्चोपकर्तुः" इति च पाठान्तरे। ३. "ब्रूया एवम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां[१] वियुक्तः[२]
पूर्वाऽशास्यं[३] सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव[४] ॥३५॥

पञ्चिका

आयुष्मान् भवान् मदीयेन वचसा स्वयं चोपकर्तुं तामित्थं ब्रूयाद् वदेत्। यथा तव सहचरः पतिश्चित्रकूटाऽसीनोऽव्यापन्नो जीवंस्त्वां कुशलं पृच्छतीति। किमित्युभयगतकुशलकथनमेवादावित्याह। यस्मात् सुप्रापविपत्तीनां शरीरिणामेतदेव पूर्वाऽशास्यं प्रथमाऽकाङ्क्षणीयं यत्स्वास्थ्यं नाम। आयुष्मानिति वचने कर्तृपदं न त्वामन्त्रणम्। ब्रूयादिति प्रथमपुरुषप्रयोगात्। आशास्य-शब्देऽनुपसर्गाधिकाराद् एतिस्तुशास्वृिति क्यबभावः ॥९८॥

सुबोधा

सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसीति यदुक्तं तदवसरप्राप्तौ कथयन्नाह—तामा। हे आयुष्मान् दीर्घजीविन् मम च आत्मनश्च, वचनाद् वाक्यात्, तां मत्कान्ताम्, उपकर्त्तुम्, एवमित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण तां त्वं ब्रूयाः कथयिष्यसि। किमेवं वक्ष्यामीत्याह, हे अबले योषित् तव सहचरः प्रियो रामगिर्याश्रमे स्थितोऽव्यापन्नः कुशली, वियुक्तां वियोगिनीं त्वां कुशलं पृच्छति। कुशलप्रश्ने हेतुमाह, हि यतः, भूतानां प्राणिनां क्षयिषु नश्वरेषु, करणेषु शरीरेषु, एतत् कुशलम्, आद्यं प्रथमम्, आश्वास्यमाश्वासनीयम् अवधारणीयम्, जीवने सति सङ्गमादिकं सर्वं भविष्यतीति भावः। आयुष्मन्निति वर्त्मविघ्ननिवृत्तये दीर्घायुष्ट्वाशंसनम्, कनिष्ठभ्रातृत्वसूचनेन वचनकरत्वसूचनार्थं वा। मम चात्मनश्च वचनादित्यनेन विकलतया यन्मया वक्तुं विस्मृतं तदपि त्वया दृष्टावस्थं वक्तव्यमिति ज्ञापितम्। च-द्वयम् उभयप्राधान्यार्थम्। सहचर इत्यनेन सदा तदासक्तता सूचिता। रामगिर्याश्रमस्थ इत्यनेन पुण्याश्रमेषु व्रतचर्यापर एवास्ते न त्वन्यासक्त इति ध्वनितम्। एवं रामगिरिस्मारणेन यथा रामविरहात् सीतया जीवनं धृतं तथा त्वयाऽपि धार्यमिति च। अव्यापन्न इत्यनेन अविनष्टः कष्टसृष्ट्या जीवतीति सूचितम्। अबले इति युक्तपदं, विरहवेदनया दौर्बल्यस्य ख्यापनात्। "युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु" इति, "करणं

---

१. "पृच्छति त्वा" इति पा०। २. "नियुक्तः" इति, "वियुक्ताम्" इति च पाठान्तरे। ३. "पूर्वमाप्यम्" इति पा०। ४. "भूतानां हि क्षयिषु करणेष्वाद्यमाश्वास्यमेतत्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधकतमक्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि" इति चामरः। तामेवं ब्रूया इति 'एतस्मान्मां कुशलिनमि, त्यादिश्लोकपर्यन्तं सम्बन्धनीयम् ॥

अन्वय

मम वचनाद्, आत्मना च उपकर्तुम्, एवं च, आयुष्मान् ताम् ब्रूयाद्—"हे अबले! वियुक्तः तव सहचरः रामगिर्याश्रमस्थः अव्यापन्नः (च) (सन्) त्वां कुशलं पृच्छति।" सुलभविपदां प्राणिनाम् एतद् एव पूर्वाऽऽशास्यम् (भवति)।

हिन्दीरूपान्तर

मेरे निवेदन के कारण और अपने-आप उपकार करने के निमित्त दीर्घायु (आप) को उससे इस तरह कहना चाहिये— "ऐ अबले! वियुक्त होकर रामगिरि के आश्रम में रहनेवाले तुम्हारे अदिवङ्गत जीवनसाथी ने तुमसे हाल-चाल पूछा है।" (क्योंकि) आसानी से विपत्ति में फँस जाने वाले लोगों के लिये यही प्रथम वाञ्छनीय वस्तु हुआ करती है।

टिप्पणियाँ

(१) **आयुष्मान्**—'आयुष्+मतुप्+सु=आयुष्मान्।' मल्लिनाथ का कथन है कि 'मतुप्' यहाँ प्रशंसार्थक है और परोपकार के कारण प्रशंसनीयता द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है—"प्रशंसायाम् मतुप्। परोपकारश्लाघ्यजीवितेत्यर्थः।" पूर्णसरस्वती ने केवल मतुप् पर ही दृष्टि रखकर व्यङ्ग्यार्थ का विस्फोरण नहीं किया है प्रत्युत प्रकृति और प्रत्यय दोनों का ध्यान रख कर उसका विवेचन किया है—"ईदृशदुःखसागरमग्नजनपरित्राणाद्-भवत एव सफलतया प्रशस्तमायुरिति द्योत्यते।" मल्लिनाथ का व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ रूप होने से अपार्थ है।

(२) **उपकर्त्तुम्**—इस पद के कारण 'आत्मनः' पाठ की असमीचीनता स्फुट हो उठती है। पूर्णसरस्वती ने 'उपकर्त्तुः' पाठ इसी दृष्टि से समीचीन ठहराया है। वास्तव में 'आत्मना चोपकर्त्तुम्' पाठ ही साधीयान् है क्योंकि यहाँ 'आत्मा' शब्द मेघपरामर्शक है। यदि 'आत्मनश्चोपकर्त्तुः' पाठ ठीक मानेंगे तो 'वचनाद्' का अध्याहार करना पड़ेगा और 'आत्मवचन' की बात पत्नी-दौत्य की दृष्टि से समञ्जस नहीं समझी जा सकती। क्योंकि वह पाठ रसविच्छेदकारी, आलम्बनोच्छेदविधायी एवं निसृष्टार्थ विघातक अर्थ प्रस्तुत करेगा। 'आत्मना चोपकर्त्तुम्' पाठ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से मेघ का 'साधुत्व' 'परोपकारकारित्व' आदि स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हो उठेगा और कथन के प्रयोजन को भलीभाँति सामने उपन्यस्त कर देगा। मल्लिनाथ ने षष्ठी का समर्थन किया है भारवि के "सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्" और श्रीहर्ष के "साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं द्रष्टुं विहायसा गन्तुम्" को प्रमाणरूप से प्रस्तुत करके साथ ही उन्होंने षष्ठी के साथ 'उप+√कृ' का कारकत्व प्रतिपादित करने का भी अपार्थ प्रयास किया है। ऐसे प्रयोग सर्वथा अपाणिनीय हैं और टीकाकारों ने उनकी सङ्गति भी अन्यथा लगाने की कोशिश की है। यहाँ मल्लिनाथ का कथन है—"उपकारक्रियाम्प्रति कर्म्मत्वेऽपि तस्योपकरोतीत्यादिवत् सम्बन्धमात्रविवक्षायामात्मन इति षष्ठी न विरुध्यते।" 'किरातार्जुनीय' (८.२८) पर व्याख्या करते हुए स्वयं उन्होंने लिखा है—"परेषामित्यत्र 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यादिवत् क्रियायोगे हि सम्बन्धसामान्ये षष्ठी।" स्वयं मल्लिनाथ उसे 'उपकारार्थ' तक सीमित नहीं मानते और स्ववचोव्याघात कर डालने में सङ्कोच नहीं करते। 'सम्बन्धमात्र' की बात आती है 'शेष' के द्वारा। पाणिनि का कथन है—"षष्ठी शेषे" (२. ३-५०)। इस पर काशिकाकार "कर्मादिभ्योऽन्यः प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्व-स्वामिसम्बन्धादिः शेषस्तत्र षष्ठी-विभक्तिर्भवति। राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। पितुः पुत्रः।" आगे २-३-५१ से लेकर २-३-७२ सूत्र तक कहीं भी ऐसे प्रयोग का सङ्केत तक पाणिनि नहीं करते जिससे 'शेष' की अनुवृत्ति लेकर 'उपकार' या 'अनुपकार' के अर्थ में षष्ठी मानी जा सके। केवल प्रतियत्न की गम्यमानता में '√डुकृञ्' से षष्ठी होती है (२-३-५३)।

(३) **रामगिर्याश्रमस्थः**—'रामाधिष्ठितः गिरिः, रामगिरिः। शाकपार्थिव-वत् समासः। रामगिरेराश्रमाः, रामगिर्याश्रमाः। तेषु तिष्ठतीति रामगिर्या-श्रमस्थः। "सुपि स्थः" (३-२-४) इति "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्" (३-१-९२) इति च "उपपदमतिङ्" इति च समासः।' इस 'रामगिरि' की भौगोलिक स्थिति के विषय में कई मत हैं। प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव ने 'रामगिरि' को 'चित्र-कूट' बताया है। पूर्वमेघ के पहले छन्द में 'रामगिर्याश्रमेषु' आता है और यहाँ पर 'रामगिर्याश्रमस्थः' मिलता है। 'रामगिरि' का उल्लेख इन्हीं दो जगहों पर मिलता है। वल्लभदेव ने प्रथम पद्य की टीका में भी लिखा है—"रामगिरिरत्र चित्रकूटः"। मल्लिनाथ ने भी लिखा है—"रामगिरेश्चित्रकूटस्य"। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"रामेण चिरमध्युषितत्वात् तेनैव नाम्ना प्रसिद्धो गिरिः चित्रकूट इति केचित्; अन्यः कश्चिदित्यन्ये।" भरतमल्लिक ने लिखा है—"रामगिरिश्चित्रकूटस्य नातिविप्रकृष्टो दक्षिणस्यां दिशि प्रत्यन्तपर्वतो रामगिरिरित्येव नाम्ना प्रसिद्धः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतएव रामगिर्याश्रमेष्विति श्रुतिकटुत्वेऽपि प्रयुक्तम्, न तु रामशैलेति सुसन्ध्यपि प्रयुक्तम्। उक्तञ्च—"प्रसिद्धज्ञापने यत्तु दुष्टवत् तदपीष्यते"—इति। रामगिरिर्माल्यवान्। यथा प्राक् प्राप्तप्रियाविरहो रामः सुग्रीवस्याश्वासेन प्राप्तजीवितालम्बनोऽभूत् तथाऽहमपि कस्यचिदाश्वासेन तथा स्याम् इत्यभिप्रायेण तस्याश्रमेषु वासः कृत इत्यन्ये। किन्तु तत्र माल्यवति ससीतस्य रामस्यानवस्थानाद् जनकतनयास्नानपुण्योदकेष्विति विशेषणं न घटते। अपरे तु चित्रकूटे ससीत एव रामस्तस्थौ चित्रकूटत्यागानन्तरमेव सीताहरणमतएव रामगिरिश्चित्रकूट एवेत्याहुः। किन्तु, अत्र—"स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्"—इत्युक्त्वा कियद् वर्णयित्वा—"अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमांश्चित्रकूट" इत्युक्तं न सङ्गच्छते।" भरतमल्लिक के तर्क वस्तुतः बहुत ही सबल हैं और उनकी बात तथ्य से दूर कम लगती है। स्थिरदेव ने भी लिखा है—"रामगिरिः दण्डकान्तः प्रसिद्धः।" और फिर यदि कालिदास को चित्रकूट ही अभीष्ट होता तो दोनों जगह वे आसानी से बिना छन्दोभङ्ग के 'चित्रकूटाश्रमेषु' और 'चित्रकूटाश्रमस्थः' लिख सकते थे। साथ ही यह भी नहीं कि कालिदास को राम के चित्रकूट का पता न हो क्योंकि उन्होंने 'रघुवंश' में लिखा है—"दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः" (१३. ४७)। म० मिराशी जी 'रामटेक' को 'रामगिरि' मानते हैं और श्री पराञ्जपे 'रामगढ़' को। वस्तुतः यह विषय अभी तक अध्ययन सापेक्ष बना हुआ है। अन्तिम रूप से कुछ कह सकने के लिये पर्याप्त सामग्री का सर्वथा अभाव है।

ततः किमित्याह—

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु[1] तनुना गाढतप्तेन तप्तं
[2]सास्रेणास्रद्रवमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं[3] [4]समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
सङ्कल्पैस्ते[5] विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥३६॥

१. "तनु च" इति, "सुतनु" इति च पाठान्तरे।
२. "अश्रुद्रवम्" इति, "अश्रुद्रुतम्" इति "अस्रद्रुतम्" इति च पाठान्तराणि।
३. "दीर्घोच्छ्वासम्" इति, "प्रेम्णोच्छ्वासम्" इति च पाठान्तरे।
४. "समधिकवरो"—इति पा०। ५. "सङ्कल्पैस्तैः" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

तव प्रेयान् दूरवर्ती सङ्कल्पैरुत्कण्ठावशाद् अङ्गेनाङ्गं विशति वपुषा त्वद्देहं प्रवेष्टुमिच्छति। त्वयैक्यं यियासतीत्यर्थः। भिन्नयोश्चैक्यं सारूप्याद् भवतीति तयोरङ्गयोस्तनु च तनुनेति पृथग् विशेषणैः सादृश्यकथनेन समानुरागतामाह। अस्रं द्रवतीत्यस्रद्रवम्। पचादित्वादच्। कस्मादात्मना नायातीत्याह। विधुरेण विधिना रुद्धवर्त्मा। वियोगस्य वर्षभोग्यत्वात्। तनु च तनुनेति चार्थाभावात् प्रतनु तनुनेति पठनीयम् ॥९९॥

सुबोधा

सम्प्रति सङ्कल्पालिङ्गनसन्देशमाह——अङ्गेनाङ्गम्। तव सहचरः सङ्कल्पैर्मानसकर्मभिर्भावनाभिः, अङ्गेन स्वकीयेन शरीरेण ते तव, अङ्गं शरीरम्, विशति प्रविशति आलिङ्गतीत्यर्थः, तामेवं ब्रूया इति सम्बन्धः। अङ्गेन कीदृशेन ? तनुना क्षीणेन, तथा गाढमत्यन्तं तप्तेन सन्तापयुक्तेन, तथा सास्रेण सनेत्रजलेन, तथा उत्कण्ठितेन उत्कण्ठायुक्तेन, तथा समधिकतरोच्छ्वासिना अतिशयितोर्ध्वश्वासयुक्तेन। कीदृशं तवाङ्गम् ? सुतनु अतिकृशम्, तथा तप्तं तापयुक्तम्, तथा अश्रुद्रुतं बाष्पप्लुतम्। तथा अविरतोत्कण्ठं सततोत्कण्ठायुक्तम्, तथा दीर्घोच्छ्वासं प्रबलोर्ध्वश्वासम्। द्वयोरङ्गसाम्येन तुल्यानुरागित्वं दर्शितम्, सङ्कल्पैः कथं विशति कथं नोपैतीति निराकर्तुमाह, स कीदृशः ? दूरवर्ती दूरस्थः। कथमुत्कण्ठितो नागच्छतीति निराकर्तुमाह—वैरिणा प्रतिकूलेन विधिना रुद्धमार्ग आवृतवर्त्मा। केचित्तु हे सुतनु सुगात्रि विरहेणातिक्षीणेवेति व्याचक्षते, तन्न हृद्यम् प्रक्रमभङ्गात्॥

अन्वय

वैरिणा विधिना रुद्धमार्गः दूरवर्ती तनुना, गाढतप्तेन, सास्रेण, उत्कण्ठितेन, समधिकतरोच्छ्वासिना अङ्गेन ते प्रतनु, तप्तम्, अस्रद्रवम्, अविरतोत्कण्ठम्, उष्णोच्छ्वासम् अङ्गं सङ्कल्पैर्विशति।

हिन्दीरूपान्तर

वैरी विधाता के द्वारा बन्द कर दिये गये रास्तेवाला (तुम्हारा) दूर पड़ा हुआ साथी (अपने) दुबले-पतले, ज़ोर से तपाये गये हुए, अश्रुपूर्ण, पैदा हुई उतावलीवाले, और बहुत अधिक उच्छ्वासों से परिपूर्ण (अपने) अङ्ग से, अतिक्षीण, तप उठे हुए, आँसू बहाते हुए, न समाप्त होनेवाली उतावलीवाले और गरम उसाँसोंवाले तुम्हारे अङ्ग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अङ्ग में सङ्कल्पों के सहारे डूबा जा रहा है (अर्थात् उसमें विलीन होकर एकाकार हुआ जा रहा है)।

टिप्पणियाँ

(१) **वैरिणा रुद्धमार्गः**—'रुद्धा मार्गा यस्य स रुद्धमार्गः।' कवि की कल्पना यह है कि सारे जगत्प्रपञ्च का विधान करनेवाला (विधत्ते-इति विधिः—"उपसर्गे घोः किः") ही जब वैरी हो उठे तो एक सामान्य यक्ष (कामपरवश इन्द्रियोंवाला) भला कौन-सा रास्ता बचने के लिये निकाल पा सकता है। उसके सारे रास्तों का बन्द हो जाना स्वाभाविक है। स्वयं विधाता का वैरी होना कवियों का प्रिय विषय रहा है। वीर के कर्म को वैर कहते हैं और वैरयुक्त को 'वैरिन्' (इनि)। पहले आर्यों के क़बीलों के वीर वैरनिर्यातन में ही वीरता या वीरकर्म की इतिश्री समझते थे। अतः वीरकर्म के अर्थ के 'वैर' शब्द का धीरे-धीरे अर्थसङ्कोच हुआ और वह शत्रुता तक सीमित रह गया। वैरी के द्वारा रुद्धमार्ग व्यक्ति किस तरह बचकर निकल सकता है और फिर वह भी अगर विधि ही वैरी हो तो वचना और भी कठिन हो उठता है।

(२) **दूरवर्ती**—'दूरे वर्तत इत्येवंशीलो दूरवर्ती।' णिनि-प्रत्यय लगने पर यह पद ताच्छील्य को द्योतित करता है। 'अलका' से 'रामगिरि' लगभग एक हज़ार किलोमीटर की दूरी पर होगा। कवि ने इसी प्रवास-विप्रलम्भ की तीव्र कसक को व्यक्त करने के लिये यह पद रखा है। अन्यत्र भी 'दूरसंस्थे' विशेषण के द्वारा उसी 'प्रणयिजन' को विशेषित किया है।

(३) **प्रतनु तनुना**—यहाँ पर कवि ने यक्षाङ्गना के अङ्ग को 'प्रतनु' और यक्ष के अङ्ग को 'तनु' कहा है। यक्षप्रिया स्वभावतः 'तनु' थी—"तन्वी श्यामा" आदि। विरहजागरण एवं वेदनार्त्ति के कारण वह और भी दुबली हो गयी 'प्रकृष्टञ्च तत् तनु च प्रतनु।' "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" (वार्त्तिक) से यहाँ समास होगा। यक्ष सुपुष्टाङ्ग था अतः समान कष्ट के बावजूद भी वह 'तनु' अङ्गोंवाला ही रहा। यहाँ तात्पर्यभेद के कारण लाटानुप्रास माना जायगा।

(४) **गाढतप्तेन तप्तम्**—'गाढं तप्तम् गाढतप्तम्। सुप् सुपेति समासः।' जहाँ तक विरहार्त्ति का प्रश्न है यक्ष और उसकी प्रेयसी दोनों ही उस ज्वर से समान-रूप से सन्तप्त हैं। पूर्णतः सन्तप्त दोनों ही हैं परन्तु आपेक्षिक घनत्व की दृष्टि से अधिक घनत्व का पदार्थ पूर्णसन्तप्तावस्था में कम घनत्व के पूर्णतप्त पदार्थ से ताप-मान अधिक रखता है। पुरुष कठोर है और नारी कोमल। अतः पूर्णसन्ताप का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तापमान पहले का दूसरे से सर्वथा अधिक होगा। बर्फ़ के पिघलने का तापमान लोहे से कम ही होगा। दूसरी बात यह भी है कि यक्ष स्वयं अपराधी है और उसके ही प्रमाद की वजह से यह कष्ट दोनों को भोगना पड़ रहा है अतः विरहताप के अतिरिक्त पश्चात्ताप भी है। कालिदास ने शाकुन्तल में भी दुष्यन्त को 'दग्ध' और शकुन्तला को 'तप्त' दिखाया है—"तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।" यहाँ भी लाटानुप्रास ही माना जायगा।

(५) **सास्रेण अस्रद्रवम्**—दूसरा पाठ है—"सास्रेणाश्रुद्रुतम्।" 'अस्रैः सह वर्तत इति सास्रम्, तेन। "तेन सहेति तुल्ययोगे"—इति "वोपसर्जनस्य"—इति च समासः।' "अस्रं द्रवतीति-अस्रद्रवम्"—(वल्लभदेव)। वल्लभदेव के इस विग्रह से अधिक अच्छा विग्रह है—'अस्रमेव द्रवो यत्र तदस्रद्रवम्।' नायिका के अङ्ग में आँसू ही द्रवरूप में दिखता है। 'अस्र' का कोश—"अस्रः कोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते।"—(मेदिनी)। 'द्रव' का कोश—"द्रवो विद्रवनर्मणोः। प्राद्रवे रसगत्योश्च" (अनेकार्थसङ्ग्रह)। कवि ने यक्ष को अश्रुपूर्णनयनमात्र दिखाया है—"अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे।" परन्तु यक्षप्रिया को "नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियायाः" और "तन्त्रीमार्द्रान्नयनसलिलैः" आदि के द्वारा अस्रद्रवाङ्गी अङ्कित किया है। '√द्रु गतौ' धातु से निष्पन्न 'द्रुत' के कारण 'अश्रुद्रुत' शब्द उतना मनोहर अर्थ प्रदान कर सकने में नितान्त असमर्थ है। लाटानुप्रास यहाँ भी प्राप्त होता है।

(६) **अविरतोत्कण्ठम् उत्कण्ठितेन**—'उत्कण्ठा सञ्जाताऽस्येति उत्कण्ठितम्। "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (५-२-३६)। न विरता अविरतेति नञ्तत्पुरुषः। अविरता उत्कण्ठा यस्य तदविरतोत्कण्ठम्।' यक्ष के तो उत्कण्ठा विरह के कारण उत्पन्न हो उठी है और उसका अङ्ग उत्कण्ठित है। परन्तु यक्षप्रिया की उत्कण्ठा तो कभी भी विरत होती ही नहीं। उसकी उत्कण्ठा में विराम किसी भी समय 'वर्षभोग्यशाप' में आनेवाला ही नहीं। यहाँ भी लाटानुप्रास है।

(७) **उष्णोच्छ्वासम् समधिकतरोच्छ्वासिना**—उष्णा उच्छ्वासा यत्र तद् उष्णोच्छ्वासम्। उच्छ्वासाः सन्ति-अस्येति, उच्छ्वासि (-इनिप्रत्ययः)। समधिकतरश्चासावुच्छ्वासि च समधिकतरोच्छ्वासि तेन। यद्वा, समधिकतराश्च ते उच्छ्वासाश्च समधिकतरोच्छ्वासाः। ते सन्त्यस्येति तथोक्तम्। तेन।' नायक का तो केवल सामान्य उच्छ्वासपूर्ण अङ्ग है—इसमें सन्देह नहीं कि उच्छ्वास बहुत ही अधिक मात्रा में हैं। परन्तु नायिका के उच्छ्वास असामान्य हैं वे उष्ण हैं। विरहज्वर का आतिशय्य इससे ध्वनित होता है। अथवा मल्लिनाथ के अनुसार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उष्ण का अर्थ तीव्र भी लिया जा सकता है—"तिग्मं तीव्रं खरं तीक्ष्णं चण्डमुष्णं समं स्मृतम् (हलायुधकोश)।" परन्तु इसकी व्यञ्जकता उतनी नहीं है। यहाँ भी लाटानुप्रास की ही प्रसक्ति मानी जायगी।

(८) विशति—इसका अर्थ मल्लिनाथ ने एकरूप होना माना है। दोनों की अवस्था एक हो उठती है—"विशति; एकीभवतीत्यर्थः।" वल्लभदेव ने सरूपता' का अर्थ लिया है। भिन्न वस्तुओं में एकता चूँकि सरूपता से आती है अतः 'सरूपता को प्राप्त होता है।' भरतसेन ने 'आलिङ्गन करता है'—यह अर्थ माना है—"विशति प्रविशति आलिङ्गतीत्यर्थः।" पूर्णसरस्वती ने यह अर्थ दिया है—"विशति तृष्णातिशयेनैक्यमभिलषन्ननु प्रविशति।" यही अर्थ ठीक है।

अलङ्कारादि—यहाँ पर लाटानुप्रास के अतिरिक्त यथासङ्ख्य एवं उन्मीलित अलङ्कारों का सङ्कर उपलब्ध होता है।

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां[1] पुरस्तात्
कर्णे लोलः [2]कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं [3]लोचनानामगम्य-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं[4] मन्मुखेनेदमाह[5]॥३७॥

पञ्चिका

स तव प्रियो मन्मुखेनेदं वक्ष्यमाणं त्वामाह ब्रवीति। स कः? यत्किल शब्दाख्येयं प्रकटवाच्यं तदपि सखीसन्निधाने व्याजं विधाय यस्तव कर्णे वक्तुं लोलः साकाङ्क्ष आसीत्। कुतो हेतोः? आननस्पर्शलोभात्। कर्णे कथनं हि तस्य त्वन्मुखस्पर्शसुखानुभवाय। कीदृशः सः? श्रवणविषयमतिक्रान्तोऽप्राप्तः। दूरस्थत्वात्। अत एव लोचनानामगम्यो नेत्रैर्द्रष्टुमशक्यः। उत्कण्ठया विरचितानि पदानि शब्दा यत्रेति कथनविशेषणम्॥१००॥

सुबोधा

एतावताऽपि सा यदि त्वयि न प्रत्येति तदा पूर्वानुभूतविलासचेष्टां तां स्मारयिष्यसीत्याह—शब्दा। तामेवं ब्रूया इति सम्बन्धनीयम्। यस्तव सहचरः

---

१. "तत्सखीनाम्" इति पा०। २. "कथयितुमगात्" इति पा०।
३. "लोचनाभ्यामदृश्यः" इति 'लोचनाभ्यामदृष्टः" इति च पाठान्तरे।
४. "उत्कण्ठातरलितपदम्" इति पा०। ५. "सम्मुखे वेदमाह" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दाख्येयं शब्देन ध्वनिना आख्येयं व्यक्तकथनार्हम्, न रहस्यभूतम्, यत्किञ्चिद् वस्तु, तदपि किल ते तव, आननस्पर्शस्य लोभात् हेतोः, सखीनां पुरस्ताद् अग्रतः, कर्णे कथयितुं वक्तुं लोलः सतृष्णोऽभूत्। सखीनां समक्षं साक्षात् सुखस्पर्शस्यानुचितत्वात् किमपि कथयामीति व्याजेन तव मुखस्पर्शं कृतवानित्यर्थः। स तव प्रिय इदानीं श्रवणविषयं कर्णगोचरम्, अतिक्रान्तोऽतीतः सन्, लोचनाभ्यामगम्योऽप्राप्यः सन्, नेत्राविषयः सन्, मन्मुखेन मद्रूपवदनेन मद्द्वारा, उत्कण्ठया विरचितं कृतं पदमास्पदं यत्र, किंवा उत्कण्ठया विसदृशानि रचितानि पदानि सुप्तिङन्तानि यत्र तादृशम्, इदं वक्ष्यमाणं वच आह उक्तवान्। उत्कण्ठाविरचितपदमिति उक्तिक्रियाविशेषणं वा। एतेन पौर्वापर्यदोषः परिहृतः। किल व्याजे। "लोलश्चलसतृष्णयोः" इति कोषः। ननु श्रवणविषयमतिक्रान्त इत्यनेनैव अदृश्यत्वसिद्धेर्लोचनाभ्याम् अगम्य इति व्यर्थं न च वाच्यमुक्तिपोषालङ्कारसूचकत्वात्, तथाहि,

"उक्तिपोषः क्वचिद्धेतोः फलभावेन कीर्तनम्।
क्वचिदाक्षेपसिद्धस्य साक्षाच्छब्देन कीर्तनम्।"इति।

किंवा लोचनाभ्यामगम्यस्य रवः श्रूयते, श्रुतिविषयमतिक्रान्तोऽपि दृश्यते—इति द्वयमुक्तम् अतिदूरस्थोऽयमिति भावः। लोचनाभ्यामदृश्य इति पाठे मनसा दर्शनमस्तीति भावः। लोकोक्तिरप्येतादृशी। आहेति वर्तमाने भूतेऽपि प्रयुज्यते इति वृद्धाः। हेतुगर्भोत्तमनायकस्वभावोक्तिरियम्॥

अन्वय

यः ते (प्रियः) सखीनाम् पुरस्ताद् आननस्पर्शलोभाद् यदपि शब्दाख्येयं कर्णे कथयितु लोलः अभूत् किल श्रवणविषयमतिक्रान्तः लोचनाभ्याम् अगम्यः स (ते प्रियः) त्वाम् उत्कण्ठाविरचितपदम् इदम् मन्मुखेन आह।

हिन्दीरूपान्तर

तुम्हारा जो (प्रियतम) सहेलियों के सामने मुखस्पर्श के लोभ से जो भी शब्दों के द्वारा कहने योग्य बात कानों में कहने का लोलुप बना रहता था, (आज) कानों की पहुँच के पार पड़ा हुआ और आँखों से ओझल हो गया हुआ वही (तुम्हारा प्रियतम) कामजन्य स्मृतिवश सुरचित पदोंवाला यह (सँदेसा) तुमसे कह रहा है।

टिप्पणियाँ

(१) **शब्दाख्येम्**—'आ + √ख्या प्रकथने (अदा०) + यत् = आख्येयम। अत्रापूर्वकचक्षिङ्ङादेशतोऽपि यत्प्रत्यये कृते रूपासिद्धिर्भवितुमर्हति। शब्दैराख्येयम्,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दाख्येयम्। यद्वा शब्द एव आख्येयो यस्मिन् तत् तथोक्तम्।' इसका अर्थ टीकाकारों ने दो प्रकार से किया है। मल्लिनाथ और उनके साथियों ने 'शब्दों के द्वारा कहने योग्य' अर्थ किया है—"शब्देन रवेणाख्येयम् उच्चैर्वाच्यम्।" दक्षिणावर्तनाथ ने इसका अर्थ 'निरर्थक' किया है—"शब्दा एवाख्येयमभिधेयं यस्य तच्छब्दाख्येयं निरर्थकमित्यर्थः।" पहले अर्थ का सौन्दर्य यह है कि जो वस्तु ज़ोर से कहने योग्य थी उसे भी कानों में कहने का वहाना वनाया गया। दूसरे अर्थ की विशेषता यह है कि निरर्थक बात के कहने के बहाने मुँह को कान के पास ले जाया गया। वस्तुतः उद्देश्य मुखचुम्बन लेना या आननस्पर्श करना था, न कि कानों में कुछ कहना। अतः दोनों ही अर्थ हो सकते हैं क्योंकि नायक की 'लोलता' दिखानी अभीष्ट है।

(२) **किल**—यहाँ पर किल बात कहने के अर्थ में ही है जिस प्रकार हिन्दी का "कि" अव्यय आता है। वैजयन्ती कोश में लिखा है—"वार्ता-सम्भाव्ययोः किल"। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—"किलेति वार्तायाम्। मयापि सख्युः संलापेष्वधिगतम् न त्वनुभूतमिति भावः।" परन्तु भरतसेन इसे व्याजार्थक मानते हैं।

(३) **पुरस्तात्**—"पूर्वस्मिन्। "दिक्-शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (५. ३-२७) इति "अस्ताति च" इति च सिध्यति।" 'पुरस्तात्' के चार अर्थ होते हैं—प्राची, प्राचीनकाल, पहले और सामने। अमरकोश का कथन है—"प्राच्यां पुरस्तात् प्रथमे पुराऽर्थेऽग्रत इत्यपि।" यहाँ पर यह पद 'सामने' के अर्थ में आया है।

(४) **लोलः**—कामतृष्णा के कारण चञ्चल होने का अर्थ द्योतित करने के लिए यह पद लाया गया है। इससे नायक की चपलता व्यक्त होती है। कवि का उद्देश्य यह है कि सखियों की बुद्धि में भी नायक का आननस्पर्शलोभ न आ सके इसीलिये कर्णविषयक लोलता है। 'लोल' शब्द का कोश है—"लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि च।"—(यादव)। 'उत्तररामचरित' में इस पद का प्रयोग—"अग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्द्धितोऽभूत्।" यहाँ नायक 'अनुकूल' ही है; उसे 'चतुर' कह सकते हैं। पर न वह 'शठ' है न 'धृष्ट'; दाक्षिण्य का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये "दूति त्वं तरुणी युवा स चपलः"—का 'चपल' भी नहीं है और न वह "अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु" का-सा लोलमना है।

(५) **आननस्पर्शलोभात्**—'आननस्य स्पर्श आननस्पर्शः। तस्य लोभः; तस्मात्।' मल्लिनाथ ने मुखस्पर्श का आशय 'चुम्बन' लिया है—"अधरपान-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोभादित्यर्थः।" वल्लभदेव ने 'मुखस्पर्शसुख का ही लोभ' अभीष्ट माना है। भरतमल्लिक ने 'आननस्पर्श' ही यथेष्ट माना है। दक्षिणावर्तनाथ को भी यही अर्थ अभीष्ट है; उनका कहना है कि जनाकीर्णता में, जो कि 'सखीनाम्पुरस्तात्' में प्राप्त बहुवचन से स्पष्ट है निर्व्याज आननस्पर्श ही दुर्लभ हुआ करता है अतः उसी को सव्याज उपलब्ध करना पड़ रहा है। यहाँ पर कवि को 'चुम्बन' अभीष्ट नहीं प्रतीत होता। सखिवृन्द के समक्ष वह सुतरां अनुचित एवं असम्भव भी है। अतः अन्य टीकाकारों के अनुसार आनन का सुखस्पर्श अर्थ लेना ही समीचीन प्रतीत होता है। भवभूति ने भी इसी आननस्पर्श के भाव को "अविरलितकपोलम्" के द्वारा प्रकट किया है।

(६) **सोऽतिकान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामगम्यः**—जो कानों की पहुँच के पार हो जाता है उसके लोचनगोचर होने की बात ही नहीं उठती। अतः 'लोचनाभ्यामगम्यः' अधिक एवं गतार्थ प्रतीत होता है। मल्लिनाथ ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया। वल्लभदेव की भी वही स्थिति है। दक्षिणावर्तनाथ की भी दृष्टि इधर नहीं गयी। इसका विचार भरतसेन ने किया है। उनका कहना है—'चूँकि श्रवण-विषय का अतिक्रमण करने से ही अदृश्यत्व सिद्ध हो जाता है अतः 'लोचनाभ्याम् अगम्यः' यह पदोच्चय व्यर्थ है ऐसा नहीं कहना चाहिए। यहाँ पर इसके कारण 'उक्तिपोष' अलङ्कार की प्राप्ति होती है। "कहीं पर फल की सत्ता के द्वारा हेतु का अभिधान कर देने को और कहीं पर आक्षेप के द्वारा सिद्ध अर्थ को अभिधावृत्ति के द्वारा प्रस्तुत कर देने को 'उक्तिपोष' कहा जाता है।" अथवा न दिखाई देनेवाले व्यक्ति की सिर्फ़ आवाज़ ही कभी-कभी सुनायी पड़ती है और कभी-कभी दिखायी देनेवाला व्यक्ति कानों की पहुँच के परे होता है। इन्हीं दोनों परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कवि ने अतिदूरस्थता सूचित करने के लिये दोनों विशेषण संयोजित किये हैं।' टेलेफ़ोन पर हम आदमी की बात तो सुन लेते हैं पर वह दिखायी नहीं देता और टेलेस्कोप से हम व्यक्तिविशेष को देख लेते हैं पर उसकी बात नहीं सुन पाते।

(७) **उत्कण्ठाविरचितपदम्**—'उत्कण्ठया विरचितं पदं यत्र तत्।' भरतसेन ने तीन अर्थ किये हैं—पहला है, उत्कण्ठा के द्वारा कृतास्पद अर्थात् उत्कण्ठापूर्ण; दूसरा है, उत्कण्ठा के कारण विरचित पदावलीवाला; और तीसरा है क्रियाविशेषणात्मक अर्थात् उत्कण्ठापूर्ण ढंग से।

अलङ्कारादि—यहाँ पर विरूपसंघटना के कारण विरोध अलङ्कार तथा उक्तिपोष की संसृष्टि है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इदं किमित्याह----

श्यामास्वङ्गं चकितहरिण[1]प्रेक्षणे[2] दृष्टिपातं[3]
[4]गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्[5]
[6]हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु[7] सादृश्यमस्ति ॥३८॥

पञ्चिका

हे भीरु कातरे तव सारूप्यमेकस्थं कष्टं क्वचिदपि न विद्यते। यदालोक्यात्मानं समाश्वासयेयम्। तथा हि श्यामालतासु तवाङ्गम् उत्प्रेक्षे। तद्वत्तनुत्वात्। चकितहरिणप्रेक्षणे च दृष्टिपातम्। त्रस्तसारङ्गवच्चटुलावलोकनात्। एवमुत्तरत्र यथायथं योज्यम्। कपोलकान्तिं मृगाङ्क उत्पश्यामि। मयूराणां कलापाटोपेषु कचभरम्। सूक्ष्मसरित्कल्लोलेषु भ्रूविलासान्। भीर्वित्यन्वर्थं नाम नारीणाम् सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति ह्रस्वगुणाभावः ॥१०१॥

सुबोधा

इदं किमिति दशभिः श्लोकैः कामावस्थां वर्णयन्नाह—श्यामा। हे चण्डि सुभगे, ते तव, अङ्गं शरीरम्, श्यामासु श्यामलतासु, उत्पश्यामि उत्प्रेक्षे, तदेवेदमङ्गम् ईदृक् सम्पन्नमिति मोहान्मन्ये। किंवा अङ्गशब्दोऽयं तात्स्थ्याद्वर्णे वर्तते, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। तेनाङ्गश्यामलत्वं श्यामासूत्पश्यामि, श्यामासु प्रियङ्गुष्वित्यन्ये। एवं चकितहरिणीप्रेक्षिते सभयविस्मितमृगीप्रेक्षणे, तव दृष्टिपातान् कटाक्षान् उत्पश्यामि, एवं शशिनि चन्द्रे, तव गण्डच्छायां कपोलस्थलशोभाम्, उत्पश्यामि, गण्डस्थलकान्तिश्चन्द्रवद्वर्ण्यते एव। तथाहि—"ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना" इति। एवं शिखिनां मयूराणाम्, बर्हभारेषु पिच्छकलापेषु, तव केशान्

---

१. "—हरिणी"—इति पा०। २.—" प्रेक्षिते" इति पा०। ३. "दृष्टिपातान्" इति पा०।
४. "वक्त्रच्छायाम्" इति "वक्त्रच्छायम्" इति च पाठान्तरे।
५. "भ्रूपताकाम्" इति, "भ्रूविकारान्" इति च पाठान्तरे।
६. "हन्तैकस्मिन्" इति पा०।
७. "न ते चण्डि" इति, "न ते सुभ्रु" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुन्तलान् उत्पश्यामि। यद्यपि बर्हशब्देनैव मयूरपिच्छमुच्यते तथापि शिखिनामिति तत्र स्थित्यर्थमुक्तम्। एवं प्रतनुषु अल्पासु, नदीवीचिषु सरित्तरङ्गेषु, तव भ्रूविलासान् भ्रूक्षेपान् उत्पश्यामि। हन्त खेदे। किन्तु एकस्थम् एकस्थानस्थितं तव सादृश्यं साम्यं क्वचिदपि नास्ति। "चण्डी स्यात् कोपना योषित् तथा सौभाग्यशालिनी" इति बलः। चण्डि मानिनीत्यादिसम्बोधनानि सौभाग्यप्रकाशकानि, यथा रघुकाव्ये। "करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या" इति। तथा "एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः" इति रक्षितादय आलङ्कारिकाः (?)। टीकान्तरे ननु स्वेच्छया यदि दर्शनं न ददाति तदा चण्डीति सम्बोधनं युक्तम्, न चात्र तथा, तत् कथं चण्डीत्युक्तम्? उच्यते, एकत्र क्वचिदपि त्वया सादृश्यं नारोपितमिति कुपिता सम्भाव्यसे इति चण्डीत्युक्तम्, पूर्वमपि त्वया कोपमात्रेणाकारगुप्तिः कृतेति भावः। उत्कण्ठाविरचितपदञ्चैतत्, व्याजाद् गुणकीर्तनं नाम कामावस्थेयम्, यदाह--

"अङ्गप्रत्यङ्गलीलाभिर्वाक्चेष्टाहसितेक्षितैः।
नास्त्यन्यः सदृशस्तेन भणितं गुणकीर्तनम्।" इति।

प्रेयोव्याजस्तुत्याक्षेपाणां सङ्करः। तथा च--

"प्रेयः प्रियतराख्यानम्" इति;
"यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ मता।
दोषाभासा गुणा एव वक्ष्यन्ते यत्र सन्निधिम्॥"
"प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा" इति॥

अन्वय

हे भीरु! श्यामासु अङ्गम्, चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्, शशिनि वक्त्रच्छायाम्, शिखिनां बर्हभारेषु केशान्, प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रविलासान् उत्पश्यामि। हन्त! क्वचिद् अपि एकस्थं ते सादृश्यं न अस्ति।

हिन्दीरूपान्तर

(विरह से) डरी हुई प्रियतमे! श्यामालताओं में (तुम्हारे) अङ्ग की, घबरायी हिरनी की चितवन में (तुम्हारे) कटाक्ष की, चन्द्रमा में (तुम्हारे) मुखकान्ति की, मयूरों के पिच्छभार में तुम्हारे केशों की और छोटी-छोटी सरिद्वीचियों में (तुम्हारे) भ्रूभङ्ग की सम्भावना कर लेता हूँ। खेद है कि कहीं भी तुम्हारी समता इकट्ठी नहीं मिल पाती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणियाँ

विशेष—आचार्यवर्य आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र की युगान्तरकारी कृति 'ध्वन्यालोक' में इस रचना को अलङ्कार की रसपोषकता के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया है। मूलकारिका है—"**निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूप-कादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।**" जिसकी वृत्ति में उन्होंने इसे यह कहकर उदाहृत किया है—"निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नाद् अङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा"—"श्यामास्वङ्ग-मित्यादौ"। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में इसके सौन्दर्य एवं निर्व्यूढ उत्प्रेक्षा की रसाङ्गता को इस प्रकार विस्फोरित किया है:—"श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगात्। शशिनीति पाण्डुरत्वात्। उत्पश्या-मीति यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। हन्तेति कष्टम्, एकस्थसादृश्या-भावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकस्थधृतिं लभ इति भावः। भीर्वि-ति। यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयति—इत्यर्थः। अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं तथा निर्वा-हितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम्।" [भट्टसोमेश्वर ने 'काव्यप्रकाशसङ्केत' में इसी का संक्षिप्त रूप दे दिया है।]

यहाँ पर आचार्यों ने उत्प्रेक्षा का परिपूर्ण निर्वाह होते हुए भी उसकी रसपरि-पोषकता की प्रशंसा की है। वस्तुतः कालिदास की रचनाओं में सर्वत्र रसपरिपोषक अलङ्कार ही दृग्गोचर होता है। कोई भी रचना उदाहरण बन सकती है। कहीं-कहीं पर अलङ्कार की विवक्षा रस के अङ्ग के रूप में ही मिलती है, जैसे "चलापाङ्गां दृष्टिम्" इत्यादि में। इस रसपरता के अतिरिक्त अलङ्कारों की अङ्गिता का अत्यन्ताभाव, कालग्रहण, कालत्याग और अतिनिर्वाह की कामना का अभाव भी उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है।

(१) **श्यामास्वङ्गम्**—अभिनवगुप्त ने इसमें पाण्डिमा, तनिमा और कण्ट-कितता की अभिव्यक्ति प्राप्त की है। जैसी विरह-पाण्डुता यक्षप्रिया में है वैसी ही कभी कभी जेठ की धूप से कुम्हलायी प्रियङ्गुलता में भी हल्की पीतिमा दिखायी दे जाती है। क्षीणता भी उभयत्र एक-सी कभी-कभी दिखती है। और यक्षाङ्गना यदि रोमाञ्चपूर्ण है तो प्रियङ्गुलता भी कण्टकाञ्चिता है। भरतसेन ने 'अङ्ग' का 'वर्ण' अर्थ लेकर इसका आशय यों स्पष्ट किया है कि श्यामा-लताओं में अथवा श्यामाओं में यक्ष अपनी प्रियतमा की श्यामलता देखता है। पूर्णसरस्वती ने सभी बातें देखी हैं—"अनेन देशकालदशाविशेषवशात् तासां वैविध्येन प्रयत्नतोऽन्विष्य कस्याञ्चिद् वर्णकान्तिम्, अन्यस्यां कोमलत्वम्, अपरस्यां तनुत्वमित्यादि द्योत्यते।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **चकितहरिणप्रेक्षणे**—'चकिता च सा हरिणी च चकितहरिणी, तस्याः प्रेक्षणम्; तस्मिन्।' डरी हुई या सहमी हुई हिरनी की चितवन में। 'प्रेक्षण' का अर्थ सुन्दर नेत्र भी हो सकता है—"ईक्षणं दर्शने दृशि" (अनेकार्थसंग्रह)। परन्तु वह अर्थ उतना रमणीय न होगा। विद्युल्लता में—"चकितहरिणीप्रेक्षणे त्रस्तानां मृगीणां नेत्र व्यापारेषु न तु मृगीजातिमात्रस्य। अनेन सिंहबृंहितादिसद्भावे चकितत्वस्योपपत्तेः। तस्य च कादाचित्कत्वात् कृच्छ्रलभ्यत्वं द्योत्यते।"

(३) **शशिनि**—कलङ्क की याद करा देने के लिये इस पद को कवि ने रखा है तभी तो व्यतिरेकध्वनि प्राप्त होगी। पूर्णसरस्वती का कथन है—"चन्द्रमसः पूर्णत्व एव मुखसादृश्यलाभादस्थिरत्वम्। तदानीञ्च स्फुटविकटकलङ्कपङ्काङ्कतया तत्सामग्र्यविरहो ध्वन्यते।"

(४) **शिखिनाम्**—"न पुनः शिखिनः। तेन तेषामपि प्रावृषि प्रभूतमदानाम् अरोगाणां बहूनाम्मध्ये केषाञ्चिदेव शबराद्यनुल्लुञ्चितेषु पिच्छकलापेषु केषुचिद् घनतरायतस्निग्धनीलमृदुलेष्वेव साम्यसिद्धेः तथात्वस्य दुःखोपलभ्यत्वं प्रकाश्यते।' 'पूर्णसरस्वती ने इस प्रकार 'इस पद' की उपयोगिता स्पष्ट करदी है; अन्यथा बर्ह-मात्र से पिच्छ अर्थ उपलब्ध हो जाने के कारण यह स्पष्ट ही 'अधिक-पद' माना जाता।

(५) **प्रतनुषु नदीवीचिषु**—"मृदुपवनशकुनिशफराद्यास्फालन एव तनुतराणां तरङ्गाणामुदयात् तेषाम् अपि असुलभत्वम्। अन्येषाञ्च तादृशसादृश्य-बाह्यत्वम् प्रतीयते। नदीवीचिषु सरित्तरङ्गेषु न तु सरोवीचिषु। प्रसन्नशीतलेषु अविच्छिन्नेषु जलप्रवाहेष्वेव त्वदीयं लावण्यम् अनुसन्दध इति द्योतयितुं नदीग्रहणम्। तन्मध्यगतानां वीचीनां लावण्यान्तर्वर्तिभ्रूलतानुस्मारकत्वनियमात्।"—विद्युल्लता।

अलङ्कार—यहाँ पर उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त स्मरणालङ्कारध्वनि भी प्राप्त होती है।

धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति।
घर्मान्तेऽस्मिन् विगणय कथं वासराणि व्रजेयु—
[1]दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्याऽतपानि ॥ ३९ ॥

---

१. "—प्रविरलघनव्यस्त" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

धाराभिरुदकधाराभिः सिक्तं यत् स्थलं भूस्तदिव सुरभिणः परिसल्लवतः त्वन्मुखस्य त्वदाननस्य दूरीभूतं दूरस्थम्। अत एव प्रतनुमतिकृशम्। तथाभूतमपि मां पञ्चबाणः, पञ्च बाणाः शरा अरविन्दादयो यस्य सः, मन्मथः क्षिणोति बाधते। क्षिणोतेर्लट्। घर्मान्ते वै ग्रीष्मान्ते तु, वर्षाकाले त्वित्यर्थः। दिक्षु सम्यक् सक्ताः संसक्ता अप्रविरला मेदुराश्च ये घना मेघास्तैरव्यक्तः सूर्यस्याऽतपो येषु तानि वासराणि कथं केन प्रकारेण व्रजेयुर्गच्छेयुः बत कष्टं वद ब्रूहि॥१०२॥

सुबोधा

कामपञ्चबाणहतस्य त्वद्रहितस्य ममैतद्वर्षावासराणि गच्छन्तु, एतन्निष्कृतौ त्वां प्राप्स्यामीति वैक्लव्यं सन्दिशन्नाह-धारा। हे बाले, पञ्चबाणः कामः धाराभिः सिक्तमुक्षितं यत् स्थलं तद्वत् सुरभिणः सुगन्धिनोऽस्य त्वन्मुखस्य, दूरीभूतं दूरस्थम् अतएव प्रतनुमपि अतिकृशमपि मां क्षिणोति हिनस्ति। घर्मान्ते ग्रीष्मावसाने वर्षाप्रारम्भे, दिक्षु संसक्तः संलग्नः, प्रतिरलः इतस्ततः स्थितो यो घनो मेघस्तेन व्यस्तः खण्डखण्डीकृतः सूर्यातपो येषु तादृशानि वासराणि दिवसानि। मे मम, कथं केन प्रकारेण, व्रजेयुर्यास्यन्ति, इति त्वं विगणय अवधारय भावय। ननु धारावृष्टौ सुरभित्वं नास्ति, बिन्द्वल्पवर्षे हि तद्भवति, कथं धारेत्युक्तम्? उच्यते, अल्प-वर्षणार्थं सिक्तग्रहणम्, अन्यथा धारापातेति कृतं स्यात्। धाराभिरसिक्तम् अल्प-सिक्तम्, अल्पार्थे नञ् इति व्याख्येयम्। नयनसलिलस्मरणाद्धि धाराग्रहणम्। अस्येति स्मृत्युपनतत्वेन प्रत्यक्षीकृतत्वादुक्तम्। बाले इति सम्बोधनाद् नित्योप-भुज्यमानतयातिशयानुरागध्वनिः। यदुक्तं नागरसर्वस्वे—

"सततं भुज्यमानापि बाला वर्धयते बलम्।
क्षयं नयति योग्या स्त्री प्रौढा तु कुरुते जराम्"॥ इति॥
"बालेति गीयते नारी यावत् षोडशवत्सरम्" इति च॥

पञ्चबाण इत्यनेन पञ्चभिरेव बाणैर्निहन्तीति सूचितम्। एवं प्रतनुमित्यनेन एकबाणासहेऽपि मयि पञ्चबाणानां क्षेप इति, तेन च गाढपीडेति।

ननु आषाढेऽनेन मेघो दृष्टः, स च घर्म एव न तु घर्मान्तः? उच्यते, घर्मदिनेभ्यो घर्मान्तदिनानि दुःसहानीति तदपेक्षया नोक्तं तदन्तापेक्षयवोक्तम्। कौमुदीकार-स्त्वाह, गङ्गाया दक्षिणे रामगिरिप्रदेशे अन्या ऋतुव्यवस्था, वैशाखज्येष्ठौ घर्मः, आषाढश्रावणौ वर्षाः; यदुक्तम्—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"शिशिरः सुरभिर्घर्मः प्रावट् शरद्धिमः क्रमात्।
ऋतवः पौषमारभ्य द्वौ द्वौ मासौ हि दक्षिणे॥" इति।

केचित्तु अन्तःस्वरूपे घर्मे इत्यर्थः, अत एव घनस्य प्रविरलता उक्ता इत्याहुः, तन्न हृद्यम्। विगणयेत्यत्र वाक्यार्थस्य कर्मता। ननु वर्षमेघो व्यापक एव भवति न तु विरलः; कथं प्रविरलेत्युक्तम् ? उच्यते, एवम्भूतस्य दिनस्य दुःसहत्वाद्, यदैवं भवति तदेति बोध्यम्। विरलं विरलतादिकं संसक्तं विरलं यस्येति कर्मप्रधानेन समासः। किंवा क्वचिद्दिक्षु सम्यग् व्यापकत्वेनाऽसक्तः क्वचित् प्रविरल इति। प्रविरलेत्यत्र प्रविततेति पाठे आदौ दिक्संसक्तः पश्चात् प्रवितत इतस्ततो गतः। स्वभावाऽख्यानमिदम्। दिक्संसक्तेत्यनेन दिशां नायिकात्वं घनानां नायकत्वं व्यज्यते। तद्विलासान् दृष्ट्वा कथं प्राणान् धारयिष्यामीति भावः। एवं मेघाः सूर्याऽतपमचेतनमपि व्यस्तीकुर्वन्ति सुतरां सचेतनं मां व्यस्तीकरिष्यन्ति इति भावः।

अन्वय

बाले! पञ्चबाणः धारासिक्तस्थलसुरभिणः अस्य त्वन्मुखस्य दूरीभूतम् प्रतनुमपि मां क्षिणोति। अस्मिन् घर्मान्ते दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि वासराणि कथं व्रजेयुः (इति) विगणय।

हिन्दीरूपान्तर

ऐ बाले! कामदेव बारिश से सिंची हुई धरती की सोंधी बासवाले तुम्हारे इस मुख से दूर हो गये हुए और दुबले हो उठे हुए मुझे तिल-तिल गलाये दे रहा है। इस ग्रीष्मान्त में दिशाओं से संसक्त होकर छायी हुई घटाओं से हटा दी गयी हुई धूपवाले (ये) दिन भला कैसे बीतें यह तो सोचो।

टिप्पणियाँ

विशेष—इस छन्द पर मल्लिनाथ की टीका नहीं मिलती और न दक्षिणावर्तनाथ की ही टीका है और नहीं पूर्णसरस्वती की। 'पञ्चिका' और 'सुबोधा' दोनों दी गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि यह दाक्षिणात्यपाठ द्वारा स्वीकृत नहीं है केवल औदीच्यपाठ में ही यह छन्द पठित है।

(१) **बाले**—'नागरसर्वस्व' के भरतमल्लिक द्वारा दिये गये उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह सम्बोधन भी कालिदास ने साकूत ही रखा है। उनका आशय अवस्थादि की प्रतीति कराके रमणीयता की सर्जना करने का ही रहा होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **पञ्चबाणः**—'पञ्च बाणा यस्य स पञ्चवाणः।' कामदेव पुष्पायुध या कुसुमशर है। उसके पाँच पुष्पवाण हैं—"अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" कमल, अशोक, आमकाबौर, वेला और नीलकमल—ये ही फल काम के बाण माने गये हैं। वसन्त के आरम्भ से अन्त तक ये सभी फूल खिल उठते हैं और इनका कामायुधत्व इनकी उद्दीपकता से ही सुस्पष्ट है। 'अमरकोश' में भी लिखा है—"कामः पञ्चशरः स्मरः।" इन पाँचों बाणों के नाम भी बताये गये हैं—"उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा। सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः॥"

(३) **धारासिक्तस्थलसुरभिणः**—'धाराभिः सिक्तं धारासिक्तम्। धारासिक्तञ्च तत् स्थलञ्च धारासिक्तस्थलम्। धारासिक्तस्थलमिव सुरभि धारासिक्तस्थलसुरभि। तस्य। "उपमानानि सामान्यवचनैः" (२.१-५५) इति समासः।' यहाँ भरतमल्लिक ने 'धारा' शब्द के औचित्य पर समीचीन प्रकाश डाला है। आँसुओं की ही याद करके 'धारा' शब्द का उपादान किया है।

(४) **घर्मान्ते**—यहाँ 'घर्म' शब्द निदाघवाची है। कोश के अनुसार—"घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मेऽप्युष्णस्वेदाम्बुनोरपि।" ज्येष्ठ और आषाढ को 'ग्रीष्म' कहा जाता है। अतः 'घर्मान्त' का अर्थ आषाढ मास का अन्तिम दिन हुआ। इसी से 'आषाढस्य प्रशमदिवसे" कालिदास ने आरम्भ में भी लिखा है। उपजीव्यग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण की भी साखी 'घर्मान्त' या 'प्रशमदिवस' के ही तत्त्व का समर्थन करती है।

(५) **दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्याऽतपानि**—'दिक्षु संसक्ताः दिक्संसक्ताः। प्रवितताश्च ते घनाश्च प्रविततघनाः। दिक्संसक्ताश्च ते प्रविततघनाश्च दिक्संसक्तप्रविततघनाः। तैः व्यस्तः सूर्यातपो येषु तानि दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्याऽतपानि।' व्यस्त का यहाँ पर आशय 'हटा दिये गये' से है—"अस्तः क्षिप्ते पश्चिमाद्रौ" (अनेकार्थसंग्रह)। आतप का भी अर्थ केवल 'प्रकाश' है—"प्रकाशो द्योत आतपः" (अमरकोश)। सूर्य के प्रकाश को 'सूर्यातप' और चन्द्र के प्रकाश को 'चन्द्रातप' कहते हैं। पूरा पद "वासराणि" का विशेषण है।

(६) **वासराणि**—अमरकोश का कथन है कि विकल्प से 'वासर' शब्द नपुंसक भी होता है। प्रायेण 'वासर' शब्द पुलिङ्ग ही होता है—"घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ।" परन्तु इससे भी 'अप्रयुक्त' दोष तो आ ही जायगा। कालिदास की रचनाओं में इस दोष का प्रायः अभाव मिलता है और साथ ही "दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्याऽतपानि"—जैसे आठ-नौ पदों के समास शायद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही और कहीं मिलें। अतः वैदर्भीभिन्नता, आदि के कारण इस रचना को कालिदास की मानने में बहुत सन्देह होता है।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
[1]अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते[2] मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥४०॥

पञ्चिका

भवतीं प्रणयकुपितां प्रीत्या रुषितां धातुरागैः सिन्दूरादिरागैर्दृषत्स्वालिख्य प्रार्थनयाऽत्मानं तव पादगतं कर्तुं यावदिच्छामि तावत्त्वदाकारस्य स्मरणाद् बाष्पैरसकृदुपचितैर्वृद्धैः चक्षुषी ममाऽच्छाद्येते। अतश्च तस्मिन्नपि त्वदाकारे तत्रापि चित्रे क्रूरो विषमो विधिः नौ आवयोः समागमं न क्षमते॥१०३॥

सुबोधा

चित्रसञ्जातसंसर्गमपि कर्तुं न पारयामि, अतो विगणय कथमेव वासराणि व्रजेयुरित्याह––त्वामा। धातुरागैः शिलायां पट्टे, प्रणयकुपितां प्रेमकपटकलहरुष्टां, त्वाम् आलिख्य सम्यक् चित्रयित्वा, यावद् आत्मानं चरणपतितं मानापनोदनाय पादगतं कर्तुम् इच्छामि, तावदेव मुहुरुपचितैः शश्वत्प्रवृद्धैरस्रैरश्रुभिर्मे मम, दृष्टिरालुप्यते आच्छाद्यते। अतः क्रूरः पापकर्मा दारुणः, कृतान्तो दैव विधाता वा, तस्मिन्नपि चित्रेऽपि, नौ आवयोः सङ्गमं पादप्रणामेन मिलनं, न सहते न क्षमते।

ननु आलिख्येत्यनुपपन्नम्, यतो लिखनकाल एव अस्य अस्रैर्दृष्टिरालुप्यते इत्यर्थः। अन्ये तु 'पूर्वार्द्धे कष्टसृष्ट्या लिखननिर्वाहो ज्ञापितः, किन्तु चरणपतनकाले दृष्टिलोप' इत्याहुः। प्रणयकुपितामिति कुपितप्रसन्ना प्रबलकामा भवतीत्युक्तम् यदुक्तम्––

"कुपितास्वनुनीतासु प्रथमोपगतासु च।
विरहाद् विधुरास्वेवं कामः पुष्पवतीषु च।" इति।

---

१. "आस्रैः" इति पा०।
२. "दृष्टिरालिप्यते" इति "दृष्टिरालिख्यते" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धातुरिह हिङ्गुल-हरिताल-मनःशिला-गैरिक-कठिन्यादिः, अत एव रागैरिति बहुवचनम्। युक्तञ्चैतत्, यतः कोपेन वपुः स्थानभेदान्नानाऽकारं जायते। यदुक्तम्––

"दृशि लोहितः कपोले विपाटलस्त्वधरेऽरुणरागश्च।
स्वेदोत्कम्पौ स्त्रीणां कोपवशादधिकरूपौ स्तः॥" इति।

"तावन्मानो हि मानिन्या यावन्नेष्टः पदे पतेत्" इत्युक्तं चरणपतितमिति। मुहुरुपचितैरित्यनेन कदाचिदश्रुमार्जनं कृत्वा त्वां लिखामि पश्यामि प्रसादयामीति मनसि क्रियते, तदपि न सम्पद्यते। अश्रुणोऽनुक्षणपतनात् प्रमार्ष्टुं न शक्यते इति सूचितम्। विधाता न सहते इति लोकोक्तिः। "कृतान्तो वेधसि प्रोक्तो यमेऽकुशलकर्मणी" ति बलः। "कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु"––इत्यमरः। कृतान्तपदेन यमोपस्थितेर्विधेर्यमतुल्यतया प्राणग्राहकत्वेनातिपीडा सूचितेति केचित्।

अन्वय

(प्रिये!) प्रणयकुपितां त्वां धातुरागैः शिलायाम् आलिख्य यावद् आत्मानं ते चरणपतितं कर्त्तुम् इच्छामि तावद् मुहुः उपचितैः अस्रैः मे दृष्टिः आलुप्यते। क्रूरः कृतान्तः तस्मिन् अपि नौ सङ्गमं न सहते।

हिन्दीरूपान्तर

(प्रिये!) प्रेम में रूठ गयी हुई तुमको धातुओं के रंगों से शिला के ऊपर अङ्कित करके जब तक मैं अपने-आप को तुम्हारे पैरों पर पड़ा हुआ चित्रित करना चाहता हूँ तब तक बार-बार उमड़े हुए आँसुओं से मेरी दृष्टि ही रुँध जाती है। निठुर भाग्य उसमें भी हमारे मिलन को नहीं बरदाश्त कर पाता।

विशेषटिप्पणी

—आचार्य मम्मट ने इस रचना को शापहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है। श्री वैद्यनाथ तत्सत् ने उदाहरणचन्द्रिका में इसकी रमणीयता का विवेचन किया है—"क्रूर इति अतस्तस्मिन्नपि आलेख्येऽपि नौ आवयोः सङ्गमं क्रूरः श्रेयोविघटने जागरूकः कृतान्तो दैवमेव न सहते। किमुत साक्षाद्-इत्यर्थः। अत्र कोपे रक्तिमोदयाद् धातुरागैरित्युक्तम्। भूमिशयनाच्च

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिलायामित्युक्तम्। अत्र कथञ्चिल्लिखितायामाकृतौ पादपतनारम्भे तत्कालीनतदीयविलासविशेषानुस्मरणसमुद्दीपितशोकावेशवशप्रवृत्तैरश्रुभिर्दर्शनविघातद्वारा विघ्नः क्रियत इति सर्वतन्त्रविदो वाचस्पतिमिश्राः। आधुनिकास्तु लिखनमपीच्छाविषय एव न तु निर्व्यूढमिति मन्यन्ते। यद्यप्यत्र प्रबन्धालोचनयोन्माद एव प्राधान्येन प्रतीयते तथापि तदनालोचनेनोन्मादाभास एवेत्यभिप्रेत्य रसध्वनित्वेनोदाहृतम्।" यहाँ पर जो नव्यमत दिया गया है कि 'आलिख्य' में लेखन केवल 'इच्छाविषय' है वास्तविक नहीं, वह प्रमाणसम्मत नहीं प्रतीत होता। 'आलिख्य' का ल्यप् ही तब निरर्थक प्रतीत होगा और साथ ही आलेखनगत 'सङ्गम' का 'असहन' भी असिद्ध हो जायगा। वाचस्पति मिश्र का जो मत श्री वैद्यनाथ तत्सत् ने प्रस्तुत किया है वह इस दृष्टि से सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'उन्मादाभास' की बात भी समीचीन नहीं है। क्योंकि 'आभास' का बीज 'अनौचित्य' हुआ करता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि —"प्रकृतिविरुद्धञ्च चिन्तादैन्यमोहादिकव्यभिचारिगणम् अश्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातम् अनौचित्यात् तदाभासरूपम्।" और इस आभासकारी अनौचित्य को आचार्य ने हास्यविभाव माना है—"अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्।" इसका गम्भीर विवेचन मेरे "The Element of Comic in Saṁskṛta Drama" नामक प्रबन्ध में सविस्तर प्राप्त हो सकेगा। आभासवादी शैवाद्वैत में 'आभास' और 'रस' दोनों ही सत् हैं 'आभास' भी 'रस' में ही परिणत होता है और 'रस' और 'आभास' दोनों ही विमर्शरूप हैं। इसी से अनौचित्यमूलक 'रसाभाव' या 'भावाभास' 'हास्यरस' को उपन्यस्त करते हैं। फलतः यह 'उन्मादाभास' तो हास्यरस को प्रस्तुत करके ही रहेगा। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है—"तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता। अतएव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते।" अब यह भी देखना चाहिए कि क्या वस्तुतः 'उन्मादाभास' का प्रसङ्ग यह बन सकेगा ? यहाँ हास्य की प्रतीति की उद्बोधकता तनिक भी नहीं है, और न 'इष्टजनवियोग' रूप स्वभाव का औचित्यभाव है। और साथ ही यहाँ पर आभासता भी और तरह से सिद्ध नहीं है। अतः यह सिद्धान्त ग़लत है। साथ ही यहाँ उन्माद भी नहीं है क्योंकि उसके अनुभाव भरतानुसार ये बताये गये हैं—"अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्क्रुष्टैः। अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत॥" यह विशुद्ध शृङ्गार का प्रसङ्ग है। यहाँ पर नायिका आलम्बन है, उसका प्रणयकोप उद्दीपन है, चरणनिपात की इच्छा आदि अनुभाव है, कृतान्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रति असूया व्यभिचारी है, रति स्थायिभाव है। आचार्य नागेश का कथन है—"कुपितस्य लोहितौचित्यात्, धातुरागैरिति सामान्यनिर्देशेऽपि विशेषपरताऽस्येति बोध्यम्। शिलायामिति तदा भूमिशयनात् कठिनचित्तत्वाच्च —इत्याहुः। अर्थान्तरं न्यस्यति क्रूर इति। तस्मिन्नपि प्रतिकृतावपि। प्रकृतौ न सहत एव प्रतिकृतावपि न सहत इत्यतिक्रूरत्वम्। क्रूरः परश्रेयोविघटने जागरूकः। नौ आवयोः। कृतान्तो दैवम्। श्लेषमूलकोऽयमभेदाध्यवसायः। अत्र यद्यपीच्छासमय एव स्मरणोद्रिक्त-विरहजनिताश्रुणा दृष्टिलोपाल्लिखनमेवासम्भावितं तथाऽपि लिखनमपि-इच्छा-विषयतयैव नेयं न तु निष्पन्नतयेति। यद्यपि अत्र पद्ये प्रबन्धाऽलेखनादुन्मादः प्रधान-तया प्रतीयते तथाऽप्यापाततो न तथा प्रतीतिरिति रसोदाहरणमिदमिति दीपिका-कृतः। नायिकाऽऽलम्बनम्। तत्प्रणयकोप उद्दीपनम्। चरणपातेच्छाद्यनुभावः। कृतान्तेऽसूया व्यभिचारिणी। यद्यप्यत्र शठेन विधिनेतिवत् क्रूरपदेनासूया प्राधा-न्येन गम्यते प्रतिकूलकर्तरि असूयाऽलम्बने तत्र शठत्वोक्तिवदिह प्रतिकूलकर्तृत्वे-नोक्तास्त्रिषु क्रूरत्वाद्यनुक्तेर्नाऽसूया प्राधान्येन व्यज्यते। दृष्टिरालुप्यते मे इत्यनेन विप्रलम्भावगमेऽनन्तरं प्रतीयमानाया असूयायास्तदङ्गत्वमेवोचितम्। शठेने-त्यत्र तु यावत्तावत्पदाभ्यामेकवाक्यताऽभ्युपगमेन विशेषादित्याहुः।" नागेश ने दीपिकाकार चण्डीदास की सारी बात बिना विचार किये ही अनूदित कर दी है उन्माद-सम्बन्धिनी सम्मति और साथ ही 'इच्छाविषयभूत लिखन' का सिद्धान्त ऊपर विवेचित तर्क के अनुसार ग़लत हैं; हाँ रससम्बन्धी विवेचन पूर्णतः ग्राह्य है।

मामाकाशप्रणिहितभुजं[1] निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि सति[2] स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां तु खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः[3] पतन्ति ॥४१॥

पञ्चिका

हे सति गुणवति तव स्वप्ने दैववशात् प्राप्ताया गाढाऽलिङ्गनाय आकाशे शून्य एव प्रसारितभुजं मां वीक्षमाणानां वनदेवतानां द्रुमपल्लवेषु मौक्तिकपृथवो

---

१. "माकाशे प्रणिहित—" इति पाठान्तरम्।
२. "मया" इति "निशि" इति च पाठान्तरे।
३. "—ष्वश्रुलेखाः" इति "—ष्वश्रुपाताः" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाष्पकणा असकृन्न खलु न पतन्ति। अपि तु भ्रश्यन्त्येव। तादृशीं मे दशामालोक्य ताः अपि कृपया रुदन्तितरामित्यर्थः ॥१०४॥

सुबोधा

मम दुःखदर्शनाद् वनदेवता अपि कारुणिकतया रुदन्ति इत्याह––मा। कथमपि दैवयोगात्, स्वप्नसन्दर्शनेषु लब्धायाः प्राप्तायास्ते तव निर्दयाऽश्लेषहेतोर्गाढाऽलिङ्गननिमित्तम्, आकाशप्रणिहितभुजं शून्यप्रसारितबाहुम्, मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानाम्, मुक्तास्थूला मौक्तिकवत् पृथवो अश्रुलेशा नेत्रजलबिन्दवः, तरुकिसलयेषु वृक्षपल्लवेषु, खलु, बहुशो वारं वारं, न न पतन्तीति, अपि तु पतन्त्येव। खलु सम्भावनायाम्। तासामश्रुपातः सम्भाव्यते इत्यर्थः। द्वौ निषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत इति वृद्धाः। सम्भाव्य प्रतिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधाविति वामनः॥

अन्वय

हे सति ! कथम् अपि स्वप्नसन्दर्शनेषु लब्धायाः ते निर्दयाऽश्लेषहेतोः आकाशप्रणिहितभुजं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः तरुकिसलयेषु बहुशः न खलु पतन्ति इति न।

हिन्दीभाषान्तर

ऐ साध्वी ! किसी-न-किसी तरह स्वप्न-दर्शनों में प्राप्त हुई तुम्हारे निर्दय आलिङ्गन के निमित्त आकाश की ओर उठायी गयी हुई भुजाओंवाले मुझे देखती हुई स्थलदेवियों के मोती-जैसे बड़े-बड़ अश्रुकण वृक्षों के नवपल्लवों पर वार-बार न झरे हों ऐसा नहीं है।

टिप्पणियाँ

(१) **आकाशप्रणिहितभुजम्**––'आकाशे प्रणिहितः, आकाशप्रणिहितः। सुप्सुपेति समासः। प्र + नि + √डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहोत्यादि०) + क्त (कर्मणि) प्रणिहितः। "दधातेर्हिः" (७.४–४२) इति हित्वम्। आकाशप्रणिहितौ भुजौ यस्य तम्।' स्वप्न में प्रियतमा के पाने पर चिरविरही यक्ष ने प्रेमावेशवश अपनी भुजाएँ आकाश की ओर उठा दीं। ऐसा प्रातिभासिकजगत् का कार्यकलाप अन्यत्र भी कालिदास ने अभिव्यक्त किया है। 'कुमारसम्भव' में––"क्व नीलकण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) **निर्दयाऽश्लेषहेतोः**––'निर्गता दया यस्मात् स निर्दयः। "प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इति वार्त्तिकात् समासः। निर्दयश्चासौ आश्लेषश्च निर्दयाश्लेषः। आ + √ श्लिष आलिङ्गने (दिवादि) + घञ् = आश्लेषः। निर्दयाऽश्लेष एव हेतुः, निर्दयाऽश्लेषहेतुः। तस्य। "षष्ठी हेतुप्रयोगे" (२. ३-२६). इति मल्लिनाथस्याभिमतम्।' कवि ने इस निर्दय आश्लेष की बात यक्ष और उसकी प्रियतमा दोनों के पक्ष में दिखाकर एक अभूतपूर्व सन्तुलन को प्रस्तुत किया है––"मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथञ्चित् सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम्।"

(३) **कथमपि**––'किसी भी तरह', 'जैसे-तैसे', 'किसी-न-किसी तरह" या 'बड़ी कठिनाई से'। बराबर आँसू बहते रहने के कारण आँखों के लगने का ही सुयोग नहीं मिलता। फिर यदि क्षणभर को आँख भी लगी तो स्वप्नदर्शन सुलभ नहीं है। और यदि कथञ्चन स्वप्न भी दिखा तो उसमें प्रियतमा का निर्दयाश्लेषहेतुक मिलन अत्यन्त दुर्लभ है। कालिदास ने इसी दृष्टि से 'कथमपि' का प्रयोग करके कादाचित्कता और आशुविनाशिता दोनों को व्यक्त किया है।

(४) **सति!**––यहाँ पर 'सति' सम्बोधन बहुत ही व्यञ्जक है। इसकी व्युत्पत्ति है––"अस्ति एकस्मिन् पत्यौ। √'अस भुवि' (अदादि०) धातोः शतृप्रत्यये "श्नसोरल्लोपः" (६. ४–१११)––इति "उगितश्च" (४. १–६) इति च ङीपि सतीति सिद्धम्।" 'अमरकोश' का कथन है––"सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता।" अथवा 'सती' भगवान् शिव की प्रथम पत्नी का शुभनाम था। उन्होंने पति के प्रति कहे गये अपशब्दों एवं तिरस्कारवाक्यों को न सह पाने के कारण प्राणत्याग कर दिया था। तादृशपातिव्रत्य धर्ममयत्व द्योतित करने के लिये अभेदोपचार से यहाँ यह सम्बोधन प्रस्तुत किया जा सकता है। मैथिली में कवि ने उसकी समता प्रस्तुत ही कर रखी थी। सती भी कहकर पाविव्यातिशय द्योतित कर दिया। वैसे सतीप्रथा का भी महाकवि कालिदास से बढ़कर कोई रमणीयतर गायक भारतीय वाङ्मय में मिलना सम्भव नहीं। उसने तो इसे अचेतन-प्रतिपन्न दिखाकर चेतनों में कैमुतिकसिद्ध माना है। प्रेम के अर्धनारीश्वर-शैवाद्वैत को बहुशः प्रस्तुत करने वाले महाकवि को छोड़कर और किससे सती-प्रथा के समर्थन की आशा भी की जा सकती है?

"शशिना सह याति शर्वरी सह मेघेन तडित् प्रलीयते।
प्रमदाः पतिमार्गगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।।"

(५) **स्वप्नसन्दर्शनेषु**––"स्वपो नन्" (३. ३–१८)। "स्वप्नः स्वापे प्रसु-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्तस्य विज्ञाने दर्शने पुमान्।" 'स्वप्ने सन्दर्शनम्, स्वप्नसन्दर्शनम्। तेषु।' मल्लिनाथ ने इसका अर्थ और तरह से किया है। उनके अनुसार स्वप्नसन्दर्शन का अर्थ 'स्वप्नज्ञान' है। जैसे हम वृक्षवाचक 'आम्र' के साथ भी 'वृक्ष' पद लगाकर 'आम्रवृक्षः' कह दिया करते हैं वैसे ही ज्ञानवाचक 'स्वप्न' के साथ भी यहाँ 'सन्दर्शन' पद लगाकर कवि ने 'स्वप्नसन्दर्शन' कह दिया है—"स्वप्नसन्दर्शनानि स्वप्नज्ञानानि। चूतवृक्षादिवत् सामान्यविशेषभावेन सहप्रयोगः।" वस्तुतः यहाँ पर 'स्वप्न' शब्द अवस्थाविशेष-मात्र का द्योतक है। 'दर्शन' शब्द में कवि ने 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग सम्यक्ता प्रतिपादित करने के लिये किया है। वैसे तो उसे प्रत्यक्ष-दर्शन हो नहीं पाता। अनेकानेक स्थलों पर अपूर्ण सादृश्य का ही उत्प्रेक्षित-दर्शन हो पाता है। सुषुप्त में 'दर्शन' का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल स्वप्न में ही समग्र-दर्शन होता है अतः उसे कवि सन्दर्शन कहता है। विषयान्तर-चिन्ता के अभाव में बार-बार मन उसी का, सातत्यवासित होने के नाते, रूप सामने ला रखता है पर प्रत्येक स्वप्नसन्दर्शन आशुविनाशी होता है इसी से कवि ने बहुवचन का प्रयोग किया है। पूर्णसरस्वती का कथन है—"स्वप्नसन्दर्शनेषु स्वप्नावस्थोपपादितेषु सम्यग्-दर्शनेषु। सम्यगिति सादृश्यस्यापूर्णत्वाद् आलेख्यदर्शनस्य विहतत्वाच्च स्वप्ने तु न तथा। दर्शनसुखमत्र तावत् समग्रमुपलभ्यते-इति व्यज्यते। बहुवचनेन विषयान्तरचिन्ताभावान्मनसः सातत्यवासितायाः स्वप्नोन्मेषप्रमोषयोस्तडितइव तस्याः क्षणे क्षणे दृष्टत्वं नष्टत्वं च, ततश्च स्वस्य वारं वारं व्याकुलत्वम्, तेन च द्रष्टृणामतिकरुणार्द्रताजनकत्वं च द्योत्यते।"

(६) **मुक्तास्थूला-अश्रुलेशाः**—'मुक्ता इव स्थूलाः। मुक्तास्थूलाः "उपमानानि सामान्यवचनैः" (२. १-५५) इति समासः।' "मुक्ता मौक्तिकपुंश्चल्योः"—अनेकार्थसंग्रह। 'मोती के दानों की तरह बड़े-बड़े अश्रुकण।' "लवलेशकणाणवः"—अमरकोश। मल्लिनाथ ने यहाँ पर अपशकुन का अभाव ढूँढा है—"महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि। देशभ्रंशो महद् दुःखं मरणञ्च भवेद् ध्रुवम्॥" परन्तु कविसंरम्भ इसमें नहीं है। करुणरस से आर्द्रहृदय होने के नाते बड़े-बड़े अश्रुविन्दु ढुलक रहे थे साथ ही वे बूँदें वर्तुल और धवल थीं इसको द्योतित करने के लिये मुक्तास्थूल पद का उपादान किया गया है। विद्युल्लता में लिखा है—"मुक्तास्थूलाः करुणरसविलीनहृदयतया झटित्यवशमेव विगलनात् स्थूलाः पृथवः। मुक्ताफलवत्स्थूला इत्यनेन साहचर्याद् धवलत्वं वृत्तत्वं च लभ्यते।××× कोमलारुणेषु पल्लवेषु स्थूलधवलवर्तुलानामश्रुविन्दूनामवश्यायशीकराणामिव परभागलाभाद् चटचटध्वनिप्रादुर्भावाच्च स्फुटदृश्यत्वम्।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) **न खलु-न**––भरतमल्लिक ने प्राचीन प्रयोग एवं वामन की 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के आधार पर निषेधद्वय के द्वारा सम्भाव्य-निषेध का भी निवर्तन सिद्ध कराया है। आशय यह कि प्रतिषेधार्थक दो शब्दों के प्रयोग के द्वारा विधि को और भी अधिक शक्ति प्रदान कर देते हैं। मल्लिनाथ का कथन है––"निश्चये नञ्द्वयप्रयोगः। तथा चाधिकारसूत्रम् 'स्मृतिनिश्चयसिद्धार्थेषु नञ्द्वयप्रयोगः सिद्धः' इति।"

अलङ्कारादि––यहाँ मिथ्यध्यवसिति-ध्वनि उपलब्ध होती है। दक्षिणावर्तनाथ ने इसकी रसावहता पर कटाक्ष किया है; परन्तु वस्तुतः 'स्थलीदेवता' का आश्रयरूप से वर्णन होने के नाते सुतराम् औचित्यसम्पोष मिलता है।

भित्त्वा[1] सद्यः किसलयपुटान्[2] देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो[3] दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वस्पृष्टं[4] यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥४२॥

पञ्चिका

हे गुणवति शीलान्विते सरलतरूणां तत्क्षणं पल्लवकवाटान् उपमृद्य तद्द्रुमसम्बन्धिक्षीरस्रुतिसुगन्धयो ये हिमालयानिला दक्षिणेन प्रवृत्ता अस्यां दिशि वातुं प्रस्तुतास्ते मया आश्लिष्यन्ते। किमर्थम्? यदि किल एभिर्मारुतैः सहवासात् कदाचित् त्वदीयं शरीरं स्पृष्टं भवेत्। अतश्च। वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृशेः। बह्वेतत् काम्यमानस्य शक्यमेतेन जीवितुम्॥ दक्षिणेन इत्येनबन्तः ॥१०५॥

सुबोधा

अत्यनुरागं प्रकटयन्नुत्तरतो दक्षिणदिग्गमनप्रवृत्तानामनिलानां संश्लेषमाह––भित्त्वा। हे गुणवति प्रशस्तगुणान्विते, ये तुषाराद्रिवाता हिमालयवायवः, सद्यस्तत्क्षणं देवदारुद्रुमाणां किसलयपुटान् पल्लवपुटान् भित्त्वा विदार्य, तेषां देवदारुद्रुमाणां या क्षीराणां निर्यासानां स्रुतिः क्षरणं तेन सुरभयः सुगन्धयः सन्तः, दक्षिणेन

१. "छित्त्वा" इति पा० २. "किसलयपुटम्" इति पा०।
३. "द्रुतिसुरभयो" इति पा०। ४. "पूर्वं स्पष्टम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणस्यां दिशि प्रवृत्ताः कृतगमनाऽरम्भास्ते तुषाराद्रिवाता इति हेतोर्मया आलिङ्ग्यन्ते आश्लिष्यन्ते संसेव्यन्ते स्पृश्यन्ते इति यावत्। किमित्याह, किल सम्भाव्यते, यदि कदाचित्, तवाङ्गम् अवयवः, एभिर्वातैः पूर्वं प्राक् स्पष्टं सम्पृक्तं भवेदिति। त्वदङ्गस्पर्शित्वेन एषामुपस्पर्शवासनया आलिङ्गनं न तु तापापगमार्थम्। एतेन विरहे वातसेवनानौचित्यं परिहृतम्। अत्र वातानां हिमाचलाऽगतत्वेन शैत्यम्, पल्लवपुटभेदेन मान्द्यम्, देवदारुक्षीरस्रुतिसम्पर्केण सौरभ्यं गुणत्रयं व्यक्तमेवोक्तम्। दक्षिणेनेति सप्तम्यामेनबादेशः। गुणवतीति सम्बोधनेन सदा तद्गुणस्मरणेन विरहपीडाऽधिक्यं सूचितम्।

अन्वय

देवदारुद्रुमाणां किसलयपुटान् सद्यः भित्त्वा तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः ये तुषाराद्रिवाताः दक्षिणेन प्रवृत्ताः, ते (हे) गुणवति! 'एभिः यदि तव अङ्गं पूर्वस्पृष्टं भवेत् किल' इति मया आलिङ्ग्यन्ते।

हिन्दीरूपान्तर

देवदारु के पेड़ों के पल्लवों के सम्पुट को तुरन्त खोलकर उसके द्रव के बह उठने के कारण सुगन्धित हो उठी हुई जो हिमालय की हवाएँ दक्खिन की ओर चल पड़ती हैं उनको मैं, ऐ गुणशालिनी! इसलिये आलिङ्गन कर लिया करता हूँ कि इनसे शायद तुम्हारा अङ्ग पहले छू गया हो।

टिप्पणियाँ

विशेष—मल्लिनाथ ने 'गुणपताका' का एक उद्धरण देकर कामव्यथितचित्त व्यक्तियों की चार प्रतिक्रियाओं का निदर्शन "श्यामास्वङ्गं" इत्यादि से लेकर इस पद्य तक दिखाया है।

"वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि।
तदङ्गस्पृष्टानामुपनतवतान्दर्शनमपि प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदितः॥"

और इसके पश्चात् उन्होंने "श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्" इत्यादि पद्य में 'सदृशवस्तुदर्शन', "त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्" इत्यादि छन्द में 'प्रतिकृतिदर्शन', "मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाऽश्लेषहेतोः" इत्यादि रचना में 'स्वप्न-दर्शन' और इस वृत्त में 'तदङ्गस्पृष्टवस्तुदर्शन' दिखाया है। कवि के द्वितीय और चतुर्थ उदाहरण लक्षणानुसारी नहीं माने जा सकते क्योंकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे में चित्र तो पूरा ही नहीं हुआ और दृष्टिलोप हो गया और चौथे में अङ्गस्पृष्टत्व भी सम्भावितमात्र है और उसका भी दर्शन नहीं हुआ अपितु स्पर्श दिखाया गया है।

(१) **देवदारुद्रुमाणाम्**—हिमालय पर्वत पर ५५०० फ़ीट की ऊँचाई के ऊपर देवदारु के वृक्ष करीब १०००० फ़ीट तक मिलते है। ये काफ़ी ऊँचे और सुगन्धियुक्त वृक्ष होते हैं। इनकी लकड़ी व पत्ते भी सुगन्धित होते हैं, और इनके क्षरण से निकला हुआ द्रव बहुत ही ख़ुशबूदार होता है। कालिदास का इन वृक्षों से पर्याप्त परिचय प्रतीत होता है।

(२) **किसलयपुटान्**—नये-नये किसलय अध-मुड़े-से होते हैं, पल्लव का पुट धीरे-धीरे खुलता है और पत्ता फैलकर बड़ा हो जाता है। तुषाराद्रि की बर्फ़ीली हवाएँ छोटे-छोटे पल्लवों के पुटों के दोनिया-नुमा मोड़ को झटका देकर छिन्न-भिन्न कर देती हैं। किसलयों के अवमर्द से उनमें से एक द्रवपदार्थ का क्षरण होने लगता है और वायु सुरभित हो उठती है। कालिदास ने कोरकाकार पल्लवपुटों का वायु के द्वारा भेदन प्रायः दिखाया है। मालविकाग्निमित्र (३-९) में "वोढा कुरबकर-जसां किसलयपुटभेदसीकरानुगतः। अनिमित्तामुत्कण्ठामपि जनयति मलयवातोऽ-यम्॥" मलयपवन के द्वारा कुरबक के किसलयपुट का भेदन दिखाया गया है। और 'रघुवंश' (९-६८) में "तस्य कर्कशविहारसम्भवस्वेदमाननविलग्नजालकम्। आचचाम स तुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः॥" में वनानिल के द्वारा पल्लवपुटों का भेदन दिखाया गया है। किसलयों की शिशुता के कारण उनमें पुटों की प्राप्ति होती है। इसके द्वारा हिमपवन की मन्दता द्योतित होती है। क्योंकि किसलयपुटों के भेदन में लगने से गति में तीव्रता अवशिष्ट ही नहीं रह सकती और साथ ही उनके क्षीरस्राव को वहन करने के कारण भी गति मन्द पड़ जाती है।

(३) **तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः**—'तेषां क्षीरम्, तत्क्षीरम्। तस्य स्रुतिः, तत्क्षीर-स्रुतिः। तया सुरभयः।' पवन उन देवदारुवृक्षों के किसलयपुटों के भेदन से उत्पन्न क्षीर के स्राव के कारण सुगन्धित हो उठे हैं। क्षीर का यहाँ पर दुग्ध अर्थ नहीं अभीष्ट है अपितु देवदारु के किसलय पुट भेदन से रिसनेवाले द्रवपदार्थ या चूनेवाले पानी को क्षीर कहा गया है। अमरकोश का कथन है—"क्षीरमप्सु च।" उस पानी के चूने के कारण पवन सुगन्धित हो उठे। सुरभि का यहाँ पर सुगन्धि अर्थ है—"सुरभिः शल्लकीमातृभित्सुरगोषु योषिति। चम्पके च वसन्ते च तथा जातीफले पुमान्॥ स्वर्णे गन्धोत्पले क्लीबं सुगन्धि-कान्तयोस्त्रिषु॥"—मेदिनीकोश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'कुमारसम्भव' में ऐसा ही भाव "यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभी-करोति" में प्राप्त होता है।

(४) **दक्षिणेन प्रवृत्ताः**--मल्लिनाथ का कहना है कि 'दक्खिन के रास्ते से चल पड़े हुए' में 'के रास्ते से' के अर्थ में यहाँ पर तृतीया विभक्ति हुई है। इस विभक्ति का नियम "प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" वार्त्तिक प्रस्तुत करता है। परन्तु महाभाष्यकार ने इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है और करणता की ऐसे स्थलों पर भी प्रतीयमानता प्रतिपादित करके "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) सूत्र से ही तृतीया विभक्ति उपपन्न मानी है। "दक्षिणेन दक्षिणमार्गेण। तृतीयाविधाने "प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात्" तृतीया समेन यातीतिवत्। तत्रापि करणत्वस्य प्रतीयमानत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'--इति भाष्यकारः।"

(५) **गुणवति** !--'गुण + वतुप् (स्त्रियाम्)=गुणवती, तत् सम्बुद्धौ।' सुशीलता, सुकुमारता आदि गुणों से युक्त स्त्री को गुणवती कहेंगे। "हे गुणवति, सौशील्यसौकुमार्यादिगुणसम्पन्ने !"--मल्लिनाथ। परन्तु पूर्णसरस्वती ने 'गुणवती' का यहाँ पर 'विशिष्टगुण' अर्थ किया है। कविसंरम्भ भी उसी में प्रतीत होता है--"विशिष्टस्पर्शादिगुणशालिनि ! अनेन येन केनाप्युपायेन तदीयस्पर्शसुखानुभवे चेतसि स्फीततृष्णता द्योत्यते।" दक्षिणावर्तनाथ भी यही कहते हैं--"गुणः शरीरस्य हृद्यस्पर्शगुणो विवक्षितः। गणवति, आलिङ्गनादिषु सुखस्पर्शवतीत्यर्थः।"

(६) **तुषाराद्रिवाताः**--'तुषारप्रधानः आद्रिः तुषाराद्रिः। शाकपार्थिवादित्वात् समासः। तुषाराद्रौ वाताः, तुषाराद्रिवाताः।' हिमालय में अधिष्ठान पानेवाली हवाओं को तुषाराद्रिवात कहा गया है। तुषारगिरि के अन्दर रहने के कारण वायु एकदम शीतल हो उठेगी देवदारुओं की क्षीरस्रुति के कारण वह वायु सुगन्धित हो उठी होंगी; और साथ ही किसलयपुटभेदन के कारण वह वायु मन्द होगी। इस प्रकार उस वायु के अन्दर सारे अभीष्ट गुण--शैत्य, मान्द्य और सौरभ्य प्राप्त होंगे। इस तरह महाकवि की लेखनी ने उसे सचमुच आलिङ्गन योग्य बना दिया है।

(७) **यदि किल**--पक्षान्तर की सम्भावनामात्र के अर्थ में ये दोनों अव्यय आये हैं। अमरकोश में कहा गया है--"पक्षान्तरे चेद्यदि च।" और "वार्तासम्भाव्ययोः किल।" इसी से कवि ने "वाताः" और "एभिः" पद रखे हैं। बहुवचन के द्वारा दिखाना यह है कि मैं हर उत्तर से आनेवाली हवा के झकोरे का आलिङ्गन करता हूँ क्योंकि जाने किसे तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श पहले मिल चुका रहा हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कारादि—यहाँ पर नायिकासन्निधि के कारण तुषाराद्रिवात के प्राक्-सिद्धगुण का उत्कर्ष दिखाये जाने के कारण अनुगुण अलङ्कार है। कालिदास ने यहाँ वाल्मीकि की निम्नलिखित रचना से प्रेरणा ग्रहण की है:—"वाहि वात! यतः कान्तां तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश। त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥"

सङ्क्षिप्येरन्[1] क्षण[2]इव कथं दीर्घयामास्त्रियामाः[3]
सर्वावस्थास्वहरपि कथं[4] मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
[5]गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः॥४३॥

पञ्चिका

हे चञ्चललोचने गाढोष्माभिस्तीव्रसन्तापाभिः त्वद्विरहचिन्ताभिर्मम मन इत्थं दुर्लभप्रार्थनं कृतम्। यद्यद्दुष्प्रापं तत्तद् अभिलषामीत्यर्थः। तथाहि दीर्घ-प्रहरास्त्रियामा निशा निमेष इव कथं नाम सङ्क्षिप्येरन् गच्छेयुः। तथा ग्रीष्म-मध्याह्नादिष्वपि सकलासु दशासु दिनमतिमृदुरविप्रभं कथं स्यादिति। एतच्च दुर्लभम्। न हि निखिला क्षणदा क्षणवत् क्षीयते। न च दिनं सर्वदा मन्दातपं भवति। गाढोष्माभिरिति डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्। सङ्क्षिप्येरन्निति कर्म-कर्तरि॥१०६॥

सुबोधा

दुर्लभप्रार्थनत्वमुपदर्शयन् गाढविरहपीडामाह—सङ्क्षि। हे चटुलनयने विलोलविलोचने दीर्घाश्चिरावलम्बिनो यामाः प्रहरा यस्यास्तादृशी त्रियामा रात्रिः, कथं केन प्रकारेण क्षणमिव सङ्क्षिप्येत अल्पा क्रियेत्, एवम् अहरपि दिनमपि, सर्वावस्थासु पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णेषु मन्दमन्दोऽपटुतर आतप उद्योतो यस्य, तादृशं कथं स्याद् भवेत्। इत्थम् अनेन प्रकारेण, दुर्लभा दुष्प्रापा प्रार्थना अभिलषितार्थो यत्र तादृशं मे मम चेतश्चित्तं गाढोष्माभिस्तीव्रसन्तापाभिः, त्वद्वियोग-व्यथाभिस्तव विरहपीडाभिः, अशरणं रक्षकरहितं कृतम्। दीर्घयामेति विरहा-

---

१. "सङ्क्षिप्येत" इति, "सङ्क्षिप्यन्ते" इति, "सङ्क्षिप्यैवम्" इति च पाठान्तराणि। २. "क्षणमिव" इति पा०। ३. "यामा त्रियामा" इति पा०। ४. "अहरपि च मे" इति पा०। ५. "गाढोष्णाभिः" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्थायां दीर्घत्वप्रतिपादनात्, त्रियामेति युक्तपदम्, तदानीं रात्रेर्लाघवात्। अत्रायं भावः, रात्रेः सङ्क्षेपाय दिनस्य मृद्वातपत्वाय स्पृहयामि, एषा दुर्लभा प्रार्थना कथमुपपद्यते। रात्रिन्दिवं विरहवेदना वर्धते-इति। चटुलनयने इत्यनेन कदाचित् प्रिय आगच्छेदिति पथि प्रेरितनयनत्वं सूचितम्। स्वाभावाऽख्यानेन मनोहरता च। व्यथाभिरिति बहुवचनेनापि विरहपीडाऽधिक्यं सूचितम्॥

अन्वय

दीर्घयामाः त्रियामाः कथं क्षणइव सङ्क्षिप्येरन्। सर्वावस्थासु अहः अपि कथम् मन्दमन्दातपं स्यात्। चटुलनयने! इत्थं दुर्लभप्रार्थनं मे चेतः गाढोष्माभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः अशरणं कृतम्।

हिन्दीरूपान्तर

लम्बे-लम्बे पहरोंवाली रातें भला किस तरह पल-छिन-सी छोटी बना दी जायँ? हर दशा में दिन भी भला कैसे कम-से-कम सन्तापवाला हो सकेगा? ऐ चञ्चल लोचनोंवाली! इस तरह दुर्लभ साधोंवाला मेरा हृदय तुम्हारे वियोग की तेज़ जलनवाली वेदनाओं के द्वारा वेसहारा बना दिया गया है।

टिप्पणियाँ

(१) **दीर्घयामा त्रियामा**—'दीर्घा यामा यस्याः सा दीर्घयामा।' सम्पूर्ण रात्रि को एवं दिन को कुल आठ पहरों में बाँटा गया है। आषाढी रातें लगभग साढ़े दस घंटों की हुआ करती हैं। नियमानुसार उसके चार हिस्से करने चाहिए। परन्तु पहले याम या प्रहर का अर्धांश और अन्तिम याम का अर्धांश दिन में ही परिगणित हुआ करते हैं। लोग ब्राह्ममुहूर्त में ही उठ जाते हैं और नित्यकृत्यसंलग्न हो जाते हैं उसी तरह रात्रि के प्रथम प्रहर के भी अर्धांश का प्रदोषकृत्यों एवं सायंसन्ध्या, सायंहवन एवं सायंसवन में उपयोग करते रहते हैं अतः रात्रि केवल तीन ही यामों की बचती है। क्षीरस्वामी का कथन है—"आद्यन्तयोरर्धयामयोर्दिनव्यवहारात् त्रियामा।" भानुजि दीक्षित ने एक और हेतु प्रस्तुत किया है। उनका कहना है रात्रि पुरुषार्थचतुष्टय में से तीन को यापित कर देती है और केवल काममात्र को अवशिष्ट छोड़ती है। इसी से उसे त्रियामा कहते हैं—"त्रीन् धर्मादीन् यापयति निरवकाशीकरोति कामप्रधानत्वात्। अन्तर्भावितण्यर्थाद्यातेः 'अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-धृ-क्षि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन्' इति मन्।" ऐसी त्रियामा के प्रहर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लम्बे-लम्बे लगने लगे हैं। 'त्रियामा' शब्द को रात्रि के अर्थ में योगरूढ ही माना जायगा यौगिक नहीं। क्योंकि इसकी व्युत्पत्तियाँ भिन्न-भिन्न और अनेक हैं, तथा वास्तविकता से उसका कोई भी सम्बन्ध साक्षात् नहीं है; खींच-खांच कर लगाया जाता है। यह शब्द के अर्थविकास का एक वैज्ञानिक इतिहास भले ही इंगित करे पर वैसे इसका और कोई विशेष अर्थ यौगिक बनाने में समर्थ नहीं हो सकता। 'त्रियामा' शब्द उस जाति का व्यवहारमाध्यम हो सकता है जो उष्णकटिबन्ध में रहे और जिसकी रातें दिन की अपेक्षा अक्सर छोटी लगती रहें। वह जाति क्या कभी छमाही रातों के क्षेत्र की या लम्बी रातों के क्षेत्र की आदिवासिनी हो भी सकती है? 'त्रियामा' पर भरतसेन का कथन है कि आषाढ में रात के छोटी होने के कारण उसे इस संज्ञा से अभिहित किया गया है।'दीर्घयामा' पर मल्लिनाथ का कथन है कि विरहवेदना के कारण वह वैसी लगती है—"विरहवेदनया तथा प्रतीयमानेत्यर्थः।" परन्तु इसकी व्यञ्जनाओं को अधिक सुन्दर ढंग से पूर्णसरस्वती ने प्रस्तुत किया है—"दीघयामा निर्विनोदतया निद्राविच्छेदाच्च दीर्घीभूता इवानपगच्छन्तो यामा यस्याः। दीर्घयामा, न तु दीर्घेत्यनेन अवयविन्या यामिन्या एव न केवलम्, अपितु तदवयवानां यामानामपि न विरतिरिति द्योत्यते। त्रियामेति सोत्प्रासं वचनम्, परःशतयामामिमां यामिनीं त्रियामेति कथं कथयन्तीति भावः।"

(२) **सर्वावस्थासु**—'सर्वाश्च ता अवस्थाश्च सर्वावस्थाः, तासु।' मल्लिनाथ इसका अर्थ 'सर्वकाल' करते हैं। आशय यह कि ग्रीष्म, पावस आदि सभी ऋतुओं में दिन में उष्णता अत्यन्त मन्द ही रहे। इससे कवि का अभिप्राय यह कि विरहोष्मा को समृद्ध करने की शक्ति उसमें हर ऋतु में—विशेषतः वसन्त व ग्रीष्म में—क्षीणातिक्षीण होती जाय। भरतसेन ने इसका अर्थ प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल किया है। उनका आशय यह कि दोपहरी में आतप अतिसमृद्ध हो उठता है वह हर समय अतिमन्दातप रहे तभी विरही को सहन करने में सुगमता होगी। पूर्णसरस्वती ने दोनों को उपयोग में लाने का सत्प्रयास किया है—"सर्वावस्थासु, ग्रीष्मे शरदि मध्याह्ने च।" यही उचित भी है।

(३) **मन्दमन्दातपम्**—मल्लिनाथ का विग्रह है—"मन्दमन्दो मन्दप्रकारः। "प्रकारे गुणवचनस्य" (८. १-१२) इति द्विरुक्तिः। "कर्मधारयवद् उत्तरेषु" (८.१-११) इति कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक्, मन्दमन्दातपम् अत्यल्पसन्तापम्।" 'मन्दमन्द आतपो यस्मिन्, तत्।' पूर्णसरस्वती ने इसकी एक और विच्छित्ति की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि अगर दिन एकदम ऊष्मा से रहित हो गया तो वह आलिङ्गनानुस्मारक होकर विरही यक्ष को और भी दुःख देगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चूँकि रातें स्वतः विरहियों को सन्तापदायिनी होती हैं अतः उसके संक्षेप की प्रार्थना की गयी है। दिन नाना प्रकार के व्यापारों की व्यस्तता के कारण विनोदशाली होता है अतः उसकी समृद्धोष्मा की मन्दता ही अभीष्ट है—"मन्दमन्दातपं निरूष्मतया भृशापटुभूतरविकरोद्योतम्, अन्यथा शीतलतरत्वाद् आलिङ्गन-सुखानुस्मारणेन यातनावहत्वात्। × × अत्र त्रियामायाः स्वत एव विरहिजनसन्तापकरत्वात् सङ्क्षेपस्यैव प्रार्थना। अह्नस्तु विविधव्यापारविनोदशालितया तीव्राऽतपत्व एव बाधकत्वाद् मन्दमन्दाऽतपत्वाशंसनमेवेति मन्तव्यम्।"

(४) **चटुलनयने**! 'चटुले नयने यस्याः सा चटुलनयना, तत्सम्बुद्धौ।' पूर्णसरस्वती ने इसकी सुन्दरता इस प्रकार स्पष्ट की है। मेरे विरह के कारण प्रियतमा का सारा धैर्य विनष्ट हो गया होगा। अतः उसकी आँखें निरन्तर इधर-उधर मुझे ही खोज रही होंगी। निठुर मदन ने भी धैर्यघातक प्रहार करके नयनों को और भी तरल बना दिया होगा।—"चटुलनयन इति, मद्विरहवेदनाविहतधृतिम् अयुगशरशरपतनकदनतरलतरनयनयुगलां पुरोवर्तिनीमिव भवतीम् पश्यतस्तस्य मे कथं वा व्यथा मा भूदिति द्योत्यते।"

(५) **अशरणम्**—'अविद्यमानं शरणं यस्य तद् अशरणम्। "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः।" इति वार्त्तिकाद् वैकल्पिक उत्तरपदलोपः।' "शरणं गृहरक्षित्रोः" (हैम०)।

(६) **गाढोष्माभिः**—'गाढ ऊष्मा यासु ताभिः। "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (४.१-१३) इति वैकल्पिको डाबत्र।'

अलङ्कारादि—यहाँ पर विरोधालङ्कार की व्यञ्जना करायी गयी है।

नन्वात्मानं[1] बहु विगणयन्नात्मना[2] नावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि सुतरां[3] मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं[4] सुखमुपनतं[5] दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि[6] च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४४॥

---

१. "न त्वात्मानम्" इति, "इत्यात्मानम्" इति च पाठान्तरे।
२. "विगणयन्नात्मनैवावलम्बे" इति पा०। ३. "नितराम्" इति पा०।
४. "कस्यैकान्तम्" इति पा०। ५. "उपगतम्" इति पा०।
६. "गच्छन्त्युपरि च दशाः" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

आत्मावस्थां प्रतिपाद्य सम्प्रति कर्तव्यतामाह। हे कल्याणि भद्रे, तत्रापि-नन्वात्मानं बहुविधं विगणयञ्जानन् स्वयमेव नावलम्बे न, अपि त्ववलम्ब एव पामीत्यर्थः। तत् त्वमपि प्रिये कातरत्वमधैर्यम्, सुतरामत्यर्थं मा गमो मा यासीः। यस्मात् कस्य संसारिणो नित्यं सुखमुपनतं घटितम् एकान्तो नियमेन दुःखं वा। यत एताः सुखासुखरूपा दशा अवस्थाश्चक्रनेमिवत् कदाचित् नीचैर्गच्छन्ति अधो-यान्ति कदाचिच्चोपरि पृष्ठे। रथाङ्गधारा हि भ्रमन्ती क्रमेणाध उपरि च याति। तदुक्तम्। 'सुखं च दुःखञ्च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितञ्च। पर्यायशः सर्वमिह स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न प्रहृष्येन्न शोचेत्।' नन्वभिमुखीकरणे। मा गम इति लृदित्वादङ. (?) ॥१०७॥

सुबोधा

धैर्यावलम्बनार्थमुपदिशन्नाह--नन्वा। ननु कल्याणि अयि मङ्गललक्षणो-पेते, बहु विगणयन् विचारयन्नहम् आत्मनैव न पुनरन्येन आत्मानम् अवलम्बे स्तम्नामि। शापोऽवश्यं भोक्तव्यः किमति दुःखभावनयेति धैर्यमाश्रयामीत्यर्थः। तत् तस्मात्, त्वमपि, सुतरामत्यर्थं कातरत्वमधैर्यम्, मा गमः मा गमिष्यसि, यथाऽहं तथा त्वमपि आत्मनैवात्मानमवलम्बस्वेत्यर्थः। धैर्यावलम्बने कारणं दर्शयति, कस्य जनस्य, अत्यन्तमैकान्तिकं, सुखमुपनतम्, एकान्ततो दुःखं वा उपनतम्, सुखदुःखे कस्यापि न चिरस्थायिनी, सर्वस्यैव कदाचित् × × × उपरि ऊर्ध्वञ्च गच्छति। अयं भावः, अवश्यं विरहदुःखमपगमिष्यति सुखसम्भोगः सम्पत्स्यते इति। नन्विति सानुनयसम्बोधने। विगणयन्नात्मनैव इत्यत्र अचि नस्य द्वित्वम्। नत्वात्मानमिति पाठे तु पुनरर्थे, अहं पुनर्बहु विगणयन् आत्मनैवात्मानं न न अवलम्बे अपि तु अवलम्बे एव इत्यर्थः। इत्यात्मानमिति पाठे कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःख-मेकान्ततो वेति हेतोरात्मनैव आत्मानमवलम्बे। कल्याणीति सम्बोधनेन तवैव शुभलक्षणेनावयोः शुभं भविष्यतीति सूचितम्। "अधीरे कातर" इत्यमरः॥

अन्वय

वहु विगणयन् आत्मानम् आत्मना न अवलम्बे (इति) न। तत् कल्याणि ! त्वम् अपि नितरां कातरत्वं मा गमः। कस्य नु अत्यन्तं सुखम् उपनतम्, दुःखं वा एकान्ततः (उपनतम्) ? दशा चक्रनेमिक्रमेण नीचैः उपरि च गच्छति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दीरूपान्तर

बहुत कुछ सोच-समझ करके मैंने अपने आप को स्वयं ही न सँभाल रखा हो ऐसी वात नहीं है। इसी से ऐ मङ्गलमयि ! तुम भी एकदम से अधीर मत हो। अरे किसको भला नियत रूप से सुख ही मिला है अथवा केवल दुःख ही दुःख (मिला है) ? दशा तो पहिये की नेमि की तरह नीचे और ऊपर आती-जाती रहती है।

टिप्पणियाँ

(१) **बहु विगणयन्**—बहुत सी बातों के बारे में सोच-समझ कर। मल्लिनाथ ने सञ्जीवनी में इसका अर्थ यह बताया है कि 'शापकाल की समाप्ति के बाद मैं ऐसा करूँगा यह करूँगा आदि-आदि' इसी पर बार-बार विचार करते हुए—"बहु विगणयन् शापान्ते सति एवं करिष्यामीत्यावर्तयन्।" चरित्रवर्धन ने इसका अच्छा अर्थ किया है। उनका कहना है—'बहुत ही शुभ होगा ऐसा जानते हुए'। यही ठीक अर्थ है—"बहु मङ्गलं भविष्यतीति विगणयन् जानन्।" दाक्षिणावर्तनाथ ने भी चरित्रवर्धन का ही अर्थ दे रखा है —"बहु विगणयन् बहु भद्रकं भविष्यतीति विजानन्नित्यर्थः।" पूर्णसरस्वती ने एक मल्लिनाथ का सा ही आशावादी अर्थ दे रखा है, परन्तु वह साहित्यिक अधिक है—"बहु विगणयन् त्वया सहोपरि परिभोक्ष्यमाणम् अनेकम् अभिलाषविषयं विचिन्तयन्-इति हेतुः।" पूर्णसरस्वती के द्वारा उसकी व्यञ्जना पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। परन्तु सामान्य अर्थ भरतसेन ने सबसे अच्छा दिया है—"बहुत सोच-विचार कर।" इस दृष्टि से मल्लिनाथ का प्रयास सबसे अधिक चिन्त्य है।

(२) **नात्मानमात्मना नावलम्बे**—दो निषेधपरक शब्द विधि को और भी शक्तिशाली बनाकर प्रस्तुत करते हैं। इसका विशेष विवेचन ऊपर किया जा चुका है। वामन का कथन है—"साम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ।" अपने आप को स्वयं सँभालने की बात महाकवि ने वाल्मीकि से ही ग्रहण की है। उसकी अन्यच्छायायोनिता—""दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः। चारयत्यात्मनो देहन्न शोकेनावसीदति।" दक्षिणावर्तनाथ ने—"आत्मानं स्वदेहम् आत्मना स्वयमेव अवलम्बे धारयामि।" यही अर्थ भरतसेन ने भी लिया है। मल्लिनाथ ने 'आत्मना' की तृतीया को "प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" (वार्तिक) के अनुसार मानकर इसका आशय इस प्रकार स्पष्ट किया है—"यथाकथञ्चिज्जीवामि-इत्यर्थः।" वैसे 'आत्मन्' शब्द के कई अर्थ होते हैं— "आत्मा जीवे धृतौ देहे—" (वैजयन्ती)। इसीलिये इस अंश के अन्य अर्थ भी 'विद्युल्लता' में दिये गये हैं—"आत्मानं जीवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देहं वा। × × आत्मना धृत्या। अथवा धैर्यावलम्बिना स्वेनैव समाश्वासयित्र-न्तराभावात्।" वैसे 'ननु' को एक पद मान कर 'न' पद को काकुवश विधि-परक माना जा सकता है। "प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु" (अमरकोश) के अनुसार 'ननु' को आमन्त्रणार्थक—'अरे !' के अर्थ में—माना जायगा। या दूसरे 'न' पद का अभाव मल्लिनाथ के पाठानुसार माना जा सकता है।

(३) **कल्याणि**—'कल्याण' शब्द से ङीष्-प्रत्यय लगाने पर 'कल्याणी' पद निष्पन्न होता है।" "बह्वादिभ्यश्च" (४.१-४५) के अनुसार 'ङीष्' होगा। मल्लिनाथ ने इसकी ध्वनि स्पष्ट करते हुए कहा है कि तुम्हारे सौभाग्य से जी रहा हूँ। इस अर्थ को द्योतित करने के लिये यह सम्बोधन रखा गया है—"त्वत्सौभाग्येनैव जीवामीति भावः।" परन्तु "विद्युल्लता" में इसकी व्यञ्जनाशक्ति सुन्दर ढंग से प्रकाशित की गयी है—"कल्याणि ! पुण्यलक्षणे ! इत्यामन्त्रणेन प्रशस्तलक्षण-प्रकाशितभविष्यदनवद्यसमृद्धिसम्भारा भवती नातिचिरं दुःखस्य भाजनं भविष्य-तीति द्योत्यते।"

(४) **मागमः**—"गमेर्माङि लुङ्। 'न माङ्योगे'—इत्यडागमाभावः।"—मल्लिनाथ। यहाँ विध्यर्थ में '√गम्' धातु से 'लुङ्' 'माङ्' के योग में हुआ है। पाणिनि का कथन है कि 'माङ्' के योग में लुङ्-लकार ही होता है—"माङि लुङ्" (३.३-१७५)। 'लुङ्' के योग में अडागम का प्रतिषेध "न माङ्योगे" (६.४-७४) से हो गया। 'मा' 'अगमः' न होकर "मा गमः" रूप निष्पन्न हुआ।

(५) **कातरत्वम्**—'कातराया भावः कातरत्वम्।' यहाँ पर 'कातरा + त्व' न बनकर 'कातरत्व' बनने का कारण पुंवद्भाव है जिसका मूल "त्वतलोर्गुण-वचनस्य" यह वार्त्तिक है। कातर का अर्थ यहाँ अधीर है—"अधीरे कातरः" (अमरकोश)।

(६) **चक्रनेमिक्रमेण**—"चक्रस्य नेमिः, चक्रनेमिः। तस्याः क्रमः, चक्र-नेमिक्रमः। तेन।' 'नेमि' पहिये के उस हिस्से को कहते हैं जो सड़क से लगा रहता है, जैसे 'टायर'। अमरकोश का कथन है—"चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात् प्रधिः पुमान्।" यह पहिये का टायर बराबर, एक सिलसिले से, ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। लकड़ी की नेमि चापाकार कटी कई लकड़ियों के जोड़ने से बनती है। उनमें से हर लकड़ी क्रमशः ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है। "क्रमः शक्तौ परीपाट्याम्" (विश्व)। क्रम यहाँ परिपाटी के अर्थ में आया है। यह कल्पना कालिदास ने मनुस्मृति से ग्रहण की—"चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी यह भाव आया है—"चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः।"

अलङ्कारादि—यहाँ पर 'अर्थान्तरन्यास' एवं 'उक्तिपोष' की संसृष्टि है। यहाँ पर निर्वेद या तत्त्वज्ञान के आधार पर आनेवाला शान्तरस ढूँढ़ना व्यर्थ है क्योंकि विप्रलम्भश्रृङ्गार के प्राण है असुधारण-सम्बन्धी आशावाद और जीवितत्वज्ञान-दशा और उन्हीं का पोषण यहाँ कवि ने कराया है।

सुखागमे कस्तव निश्चय ? इत्याह—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
[1]शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां [2]विरहगुणितं तं [3]तमात्माभिलाषं
[4]निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥४५॥

पञ्चिका

कार्तिकशुक्लद्वादश्यां भुजगशयनात् शेषतल्पादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ हरौ मम शापान्तो भविष्यति। तदैव वर्षस्य परिपूर्णत्वात्। अतश्चाद्यारभ्य मासचतुष्टयं लोचने मीलयित्वा यथाकथञ्चिद् गमय अतिवाहय। ततः पश्चात् संयोगे सति चिरकालगुणितं तीक्ष्णं तं तं नानाविधाऽत्मनोऽभिलाषं कामं परिपक्वशारदज्योत्स्नासु निशासु आवां निर्वेक्ष्याव उपभुञ्जावहे। लोचननिमीलनेनात्र यथातथात्वं लक्ष्यते ॥१०८॥

सुबोधा

कस्यात्यन्तमित्यादि यदुक्तं तदेव प्रतिपादयन् शापावसानसमयस्मारणेन समाश्वासयन्नाह—शापान्तो। शार्ङ्गपाणौ विष्णौ, भुजगशयनात् सर्पशय्याया उत्थिते कृतोत्थाने सति प्रबुद्धे सति, अर्थादुत्थानैकादश्याम्, तदानीमेव वर्षस्य पूर्णत्वान्ने मम शापस्यान्तः परिसमाप्तिर्भविष्यति, अतएव एतान्-चतुरो मासान् लोचने चक्षुषी मीलयित्वा निमील्य पिधाय त्वं गमय पश्चाद् इतोऽनन्तरं संयोगे सति आवां त्वमहञ्च परिणता प्रवृद्धा शरच्चन्द्रिका शरत्कालीनज्योत्स्ना यासु

---

१. "मासानेतान्" इति, "मासानन्यान्" इति च पाठान्तरे। २. "विरहगणितम्" इति, "विरहजनितम्" इति च पाठान्तरे। ३. "तमेवाभिलाषम्" इति पा०। ४. "निर्विश्याव:" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तादृशीषु क्षपासु रात्रिषु विरहे विच्छेदे गुणितम् एवं कृत्वा कर्तव्यमिति बहुशश्चिन्तितम्, द्विगुणीकृतं वा तं तमनिर्वचनीयम् आत्माभिलाषं स्वकीयवाञ्छितं निर्वेक्ष्यावः उपभोक्ष्यावहे। भुजगशयनेत्यादिना प्रियायां प्रबोधः सूचितः तथा हि यद् भवितव्यं तद् भवत्येव, यदुक्तम्--

"अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥" इति।

विष्णोर्भुजगशय्या वर्षासु प्रतिवर्षमेवेति प्रसिद्धमिति भुजगशयनादित्युक्तम्, तथा च--"नमो जलदनीलाय शेषपङ्कजशायिने" इति केचित्। ननु विष्णोर्भुजगशय्या प्रलय एव न तु प्रत्यक्षम्? उच्यते, भुजगे हरिशयनं सुखालम्बनहेतुत्वात्; इत्याह। मासानेतानित्यनेन अल्पविरहदिवसा भोग्याः सन्ति इत्यासन्नभङ्गत्वेन तदाश्वासनं कृतम्। लोचने मीलयित्वेति तु लोकोक्तिरेषा। एतेन शापावसानदिवसं यत् कान्ता न जानाति अत एवानेन अभिज्ञानेन तत्प्रतीतिर्भविष्यतीति मेघो ज्ञापितः॥

अन्वय

शार्ङ्गपाणौ भुजगशयनाद् उत्थिते (सति) मे शापान्तः (भविष्यति)। शेषान् चतुरो मासान् लोचने मीलयित्वा गमय। पश्चात् परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु आवां विरहगुणितं तं तम् आत्माभिलाषं निर्वेक्ष्यावः।

हिन्दीरूपान्तर

मेरा शापान्त शार्ङ्गधनुष् धारण करनेवाले विष्णु भगवान् के शेषशय्या से उठने पर होगा। बाक़ी चार महीनों को आँख मूँदकर जैसे-तैसे बिता दो। बाद में हम दोनों विरह के कारण कई गुनी बढ़ गयी हुई अपनी उन-उन इच्छाओं को पूर्णतः परिपक्व हो उठी हुयी शरद् की चाँदनीवाली रातों में पूरी करेंगे।

टिप्पणियाँ

(१) **शापान्तः**--'शापस्य अन्तः, शापान्तः' यहाँ 'शाप' शब्द अपराध या प्रमाद के कारण उत्पन्न आक्रोश से दिये गये दण्ड के अर्थ में आया है और 'अन्त' शब्द अवसान के अर्थ में। "शाप" का अर्थ चरित्रवर्धन ने 'कोपवचः' लिखा है। यह एक सामान्य अर्थ हुआ 'कोपवचन' साधिकार-निरधिकार, भले-बुरे, बड़े-छोटे सभी बोल सकते हैं। यहाँ पर कैसे कोपवचन से आशय है यह चरित्रवर्धन के अनुसार कुछ स्पष्ट नहीं होता। अन्य सभी टीकाकारों ने निग्रहवचन यानी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दण्डादेश (sentence) के अर्थ में इसे बताया है। भरतमल्लिक ने लिखा है—"शापेन निग्रह-विधिना"। दक्षिणावर्तनाथ ने "निग्रहवचनं शापः", और पूर्णसरस्वती ने "शापो निग्रहवचनम्" लिखा है। इन अर्थों से भी यह बात पुष्ट हो जाती है कि जब कोई साधिकार व्यक्ति—जैसे, राजा, महाराज, स्वामी, ऋषि, महर्षि या देवता अथवा गुरु—किसी अपराधी को दण्ड सुनाते थे तो उस 'निग्रहवचन' (punishment) को 'शाप' कहा जाता था। यह शब्द ही √'शप आक्रोशे' धातु से घञ्-प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। 'मेदिनीकोश' का कथन है—"शाप आक्रोशदिव्ययोः।" 'मेघदूत' में नायक को, जो कि राजराज कुबेर का अनुचर था, उसके 'प्रमाद' (culpable negligence) के कारण एक वर्ष के रामगिरिप्रवास का 'शाप' दिया गया था। यह 'शाप' स्वयं धनाधिप यक्षेन्द्र ने दिया था। यह एक प्रकार का साल भर का देशनिकाला या 'कालापानी' (transportation for one year) था। सारा दण्ड भुगत लेने पर ही उस शाप का अवसान हो सकता था। यक्ष ने यहाँ उसी की ओर इङ्गित किया है। 'अन्त' के भी कई अर्थ हैं—"अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः।" अतः यहाँ पर 'शापान्त' का अर्थ 'दण्डभोगावसान' है।

(२) **भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ**—कवि ने 'शार्ङ्गपाणि' शब्द का बड़ा ही सप्रयोजन उपयोग किया है। 'शार्ङ्ग' नामक धनुष् को हाथ में धारण करनेवाले विष्णु भगवान् की ओर इङ्गित दण्डधारता की दृष्टि से किया गया है। राजराज कुबेर से भी दण्डशक्ति की दृष्टि से अधिक शक्तिमान् व्यक्ति को द्योतित करने के लिये कवि ने 'शार्ङ्गपाणि' शब्द का प्रयोग किया है। इसका एक दार्शनिक पहलू भी है। 'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि 'ईश्वर' दो प्रकार के 'अहङ्कार' को धारण करता है—पहला है भूतादि जिसे शङ्ख के रूप में धारण करते हैं और दूसरा है इन्द्रियादि जिसे शार्ङ्ग के रूप में धारण करते हैं—"भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाऽहङ्कारमीश्वरः। बिभर्त्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम्॥" पूर्णसरस्वती ने इस दार्शनिक पहलू की व्यञ्जनाएँ इस प्रकार स्पष्ट की हैं—"तत्त्वदृष्ट्या निखिलेन्द्रियकारणभूततैजसाहङ्काररूपशार्ङ्गधारणात् सकलेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनापरिलुप्तदृक्स्वरूपस्य, लोकदृष्ट्या दुष्टनिष्टापनप्रकृष्टदिव्यायुधवहनाल्लोककण्टकखण्डनव्यापृतस्य कुतो निद्राप्रसङ्गः, कुतस्तरां च प्रबोधशङ्केति व्यज्यते। अतश्चातीतशरत्कालप्रारम्भे शापस्योपलम्भ इति गम्यते। तदानीञ्च तत्प्राप्तिः वर्षयन्त्रितानां प्रवर्तकत्वाच्छरदस्तदारम्भेऽप्यस्य दयिताऽदिसङ्गेन निधिपालनादौ स्वाधिकारे प्रमादादित्यवसेयम्।" अहिशय्या से उठने का आशय है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रबोधिनी एकादशी से जिसे 'देवोत्थानी' भी कहते हैं। 'कूर्मपुराण' का कथन है—"क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के आषाढ्यां संविशेद् हरिः। निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः सम्पूजयेद्धरिम्॥" स्वात्मानुसन्धानरूपिणी योगनिद्रा के कारण निमीलित-विलोचन भगवान् विष्णु का पारमार्थिक रूप से शयन या उत्थान दोनों ही नहीं सम्भव है यह तो केवल भक्तजन के पूजनादि के निमित्त शुद्धकाल का सम्पादन करने के लिये शेषशयनप्राप्ति और शेषशयनपरित्याग की प्रसिद्धि है। यहाँ पर 'ल्यब्लोप' के अर्थ में पञ्चमी है (भुजगशयनं परित्यज्य उत्थितः)।

(३) **मासान् गमय चतुरः**—चार महीने बिता दो। इस पर टीकाकारों ने बड़ी शङ्का उठायी है। दक्षिणावर्तनाथ ने इसका परिहार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"ननु आषाढमासस्य प्रथमदिवस इत्युक्तम्। आषाढश्रावणौ प्रावृट् ततः परं शरदिति प्रसिद्धम्। तस्मात् कथमाषाढात् प्रभृति मासचतुष्टयात् परः शरत्काल इत्युक्तम्? उच्यते—ऋतूनां कल्पना द्विधा। केचिद् षड् ऋतव इति वदन्ति अपरे त्रय इति। अत्र तावद् ऋतुत्रयपक्षाश्रयेणोक्तम्। तथा श्रीरामायणे—'चत्वारो वार्षिकाः प्रोक्ता गता वर्षशतोपमाः' इति।" वस्तुतः, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद व आश्विन ये चार महीने तो बीच में हैं ही और साथ ही कार्तिक के कुछ दिन एकादशी तक बढ़ेंगे और उधर आषाढ के भी कुछ दिन संदेसा यक्षाङ्गना के पास पहुँचते-पहुँचते तो बीते रहेंगे ही। अतः लगभग चार महीने का समय कालिदास ने ठीक ही आकलित किया है। शङ्काएँ निरर्थक हैं।

(४) **परिणतशरच्चन्द्रिकासु**—'शरदश्चन्द्रिका शरच्चन्द्रिका। परिणता शरच्चन्द्रिका यासु तासु परिणतशरच्चन्द्रिकासु।' मेघादिरूप आवरण के दूर हो जाने पर कार्तिक की चन्द्रिका में शरत् अपनी जवानी पर होगी। शरत् का सौन्दर्य अपने चरम पर होगा। "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।—" श्रीमद्भागवत।

अलङ्कार—यहाँ पर लोकोक्ति, अनुज्ञा और प्रहर्षण का सङ्कर है।

इदानीं सुस्पष्टमभिज्ञानमाह—

[1]भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती [2]सस्वरं [3]विप्रबुद्धा।

---

१. "भूयश्चापि—" इति, "भूयश्चासि त्वमपि" इति "भूयश्चाह त्वमयि" इति च पाठान्तराणि। २. "सत्वरम्" इति, "सस्वरम्" इति च पाठान्तरे। ३. "च प्रबुद्धा" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सान्तर्हासं कथितमसकृत् [1]पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति[2] ॥४६॥

पञ्चिका

स त्वत्प्रिय एतदुक्त्वा पुनरपि त्वामिदमाह। यथा पूर्वं भवती तल्पे मामालिङ्गय सुप्ता केनापि निमित्तेन सशब्दं रुदती विप्रबुद्धा विनिद्रा जाता। ततो रोदनहेतुमसकृत् पृच्छतो मम त्वया उक्तम्। हे कितव धूर्त कामपि वनितां रमयन् भवान् स्वप्ने मया अवलोकितः। अत ईर्ष्याकोपेनाहमरुदमिति ॥

सुबोधा

कदाचित् तथैवं भाव्यते क्व मेघो मित्रं क्व मम प्रियतमः क्व सन्देशः शापान्तलक्षणमद्विज्ञानमन्यस्यापि विदितमिति मम भर्तृवाक्यमिदं भवति न वेति शङ्कानिरासार्थं रहस्यभूतमभिज्ञानान्तरमुपदिशन्नाह––भूयश्चापि त्वमित्यादि। अपि एवं सम्भाव्यते। भूयश्च पुनश्च, शयने शय्यायां ममकण्ठलग्ना सती निद्रां गत्वा निद्राणा भूत्वैव किमपि अनिर्वचनीयम् अनभिव्यक्ताक्षरं यथा स्यात्तथा, रुदती क्रन्दन्ती, सत्वरं शीघ्रं विप्रबुद्धा उन्निद्रतां गता जागरिता च अनन्तरम् असकृद् वारं वारं पृच्छतोऽर्थाद्रोदनकारणं जिज्ञासमानस्य मम, सान्तर्हास्यं सगूढहासं यथा स्यात्तथा, त्वया इति एवम्, कथितम् उक्तम्। इति किमित्याह, हे कितव धूर्त, स्वप्ने निद्रादशायां मया कामपि स्त्रियं, रमयन् कीडयन् त्वं दृष्ट ईक्षितः, तेनाहमीर्ष्यावशात् रोदिमीत्याक्षेपाद् गम्यते। भूय इत्यव्ययं पुनरर्थे, भूयो भूयिष्ठमत्यर्थमिति यावद् इत्यन्ये। च-शब्दः पूर्वसंयोगकालापेक्षया समुच्चये, अपि-शब्दः सम्भावनायाम्। अन्ये तु भूयश्च पुनश्च शृणु, स तव भर्ता एवमाहेति सम्बन्धनीयम्, पुरा पूर्वसमये, मम त्वं कण्ठलग्ना स्थिता अहमपि भवत्याः कण्ठलग्नः स्थित इत्यपिशब्दार्थ इत्याहुः। ननु तं तमात्माभिलाषं निर्वेक्ष्याव इत्युक्तत्वात् कण्ठलग्ना पुनरपि भविष्यसीति पौनरुक्त्यं स्यात्? आश्वासने पुनः उक्तिदोषो नास्त्येव, तथा च––"आश्वासने च हर्षे च पुनरुक्तं न दुष्यति" इति। निद्रां गत्वेत्यत्र कण्ठलग्नेत्यनुषज्यते। किमपीति निद्रादशायां वाक्यास्फुटत्वबोधकम्। सत्वरमित्यत्र सस्वरमिति पठित्वा सध्वनीति व्याचक्षते केचित्। सान्तर्हासमिति स्वप्नकार्य-

---

१. "पृच्छतोऽसि" इति "पृच्छते च" इति च पाठान्तरे। २. "रमयन् कामिनीं कामपि त्वम्" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्यायथार्थत्वात् । पृच्छतश्चेत्यत्र च-शब्दोऽथशब्दार्थे, "चानन्तर्ये समुच्चये" इति बलः। कितवेति युक्तसम्बोधनम्, अन्यस्त्रीरमणेन वञ्चकतया धूर्तत्वस्य विद्यमानत्वात्। स्वभावोक्तिरियम्।

अन्वय

भूयः च आह—'पुरा शयने मे कण्ठलग्ना अपि त्वं निद्रां गत्वा किमपि सस्वनं रुदती विप्रबुद्धा। आसकृत् पृच्छतः मे "कितव, त्वं कामपि रममन् मया स्वप्ने दृष्टः"—इति त्वया सान्तर्हासं कथितम्।"

हिन्दीरूपान्तर

(यक्ष ने) आगे फिर कहा—'वहुत पहले (एक बार) शय्या पर मेरे गलबाँही डाले हुए सोते-सोते तुम कुछ बड़बड़ाती-रोती जाग पड़ी थीं, (और) बार-बार पूछते हुए मुझसे तुमने अन्दर ही अन्दर हँसते हुए यह बताया था कि "सपने में मैंने तुम्हें, ऐ छलिया, किसी दूसरी से ठिठोली करते देखा था।"

टिप्पणियाँ

(१) त्वमपि—इसके स्थान पर श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'त्वमयि' पाठ की उद्भावना की है। उनका कहना है कि 'अपि' की यहाँ पर कोई सार्थकता नहीं है और 'अयि' होने पर यक्षाङ्गना का सम्बोधन आ जायगा। श्री काळे का कथन है कि चूँकि यहाँ पर यक्ष ने अपनी पत्नी को साक्षात् नहीं सम्बोधित किया प्रत्युत मेघ की ज़बानी कहलाया है अतः 'अयि' सम्बोधन अनुचित प्रतीत होता है। साथ ही चूँकि 'अयि' दूसरी पङ्क्ति में भी है अतः उसकी पुनरावृत्ति भी ठीक नहीं लगती, अतः 'त्वमसि' पाठ होना चाहिए। श्री संसारचन्द्र ने श्री काळे का खण्डन किया है—"वास्तव में प्रो० काळे भ्रम में हैं क्योंकि मेघ द्वारा संदेश भेजने पर भी यक्ष का पत्नी के प्रति सम्बोधन हो ही सकता है। पीछे के तथा आगे के श्लोकों में भी तो यक्ष ने 'सुभगे ! गुणवति' 'असितनयने' आदि सम्बोधन पद दे ही रखे हैं। मल्लिनाथ 'अपि' वाला पाठ मानकर उसका अन्वय 'कण्ठलग्ना' के साथ करते हैं परन्तु कवि के इस प्रकार शब्दयोजन में क्रमभङ्ग दोष आता है। प्रो० काळे 'त्वमसि' पाठ अच्छा समझते हैं क्योंकि दूसरे पाद में "अपि" आया हुआ ही है इसलिये पहले पाद में भी 'अपि' के आ जाने से पुनरुक्तिदोष आता है। वास्तव में यहाँ भी काळे भ्रम में हैं क्योंकि दूसरे पाद का 'किमपि' तो एक नित्यसमस्तपद है। वहाँ 'किमपि' का अर्थ 'कुछ या कारणविशेष से' होने से पहिले पाद के 'अपि' में पुनरुक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कैसे हुई—यह बात हमारी समझ में नहीं आती, अतः हमें प्रस्तुत पाठ 'त्वमपि' ही युक्त प्रतीत होता है—यद्यपि क्रमभङ्ग इसमें अवश्य आता है।" इसमें तो संशय नहीं कि श्री विद्यासागर का मत नितान्त ग़लत है क्योंकि 'अयि' पाठ किसी भी प्राचीन टीकाकार ने नहीं दिया है। प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव, जिसके पाठ के अनुसार 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' और 'वक्रोक्ति-जीवित' आदि के उद्धरण अन्यत्र सर्वत्र मिलते हैं, 'त्वमपि' पाठ ही देते हैं। मल्लिनाथ ने भी 'त्वमपि' पाठ ही दिया है। दक्षिणावर्तनाथ, पूर्णसरस्वती, भरतसेन, चरित्रवर्धन आदि किसी ने भी 'अयि' पाठ नहीं दिया है। पाठ का वैज्ञानिक अध्ययन सदैव वस्तुनिष्ठ (objective) होना चाहिए; अपनी रुचि के अनुरूप पाठ बदलने की भावना नितान्त अवाञ्छनीय एवं सर्वथा अवैज्ञानिक है। हमें आगमनात्मक (inductive) ढंग से कालिदास का पाठ जानने का प्रयास करना चाहिए और उनकी कृति को समझने का प्रयास करना चाहिए—चाहे वह एक बार सदोष ही क्यों न हो—न कि अपनी ओर से एक 'चाहिए' का निष्कर्ष उनके ऊपर थोपकर उनके पाठ के साथ मनमानी करने का प्रयास करना चाहिए। 'त्वमसि' पाठ बहुसम्मत अवश्य है अतः उसे स्वीकार करने की बात सोची जा सकती है। परन्तु एक भारी दोष उसमें आ जाता है और वह है 'अधिकपद', क्योंकि 'असि' में ही 'त्वम्' पूर्णतः निहित रहता है। 'अपि' को मल्लिनाथ की तरह 'कण्ठलग्ना' के बाद भी अन्वित किया जा सकता है और उसे 'त्वम्' के साथ अव्यवहित रूप से भी रखा जा सकता है। 'त्वमपि' में 'अपि' 'अहम्' का अध्याहार करा देता है—मैं बिस्तर पर था ही तुम भी उसी बिस्तर पर थीं, मैं तुम्हारे गलबाँही डाले था ही तुम भी मेरे गलबाँही डाले थीं, मुझे नींद आ गयी थी और तुम्हें भी नींद आ गयी थी। इन्हीं की व्यञ्जना 'अपि' शब्द से होती है क्योंकि तभी 'खण्डिता' के स्वप्न में 'सान्तर्हासम्' आदि का चमत्कारकारित्व है। संसारचन्द्र जी को 'क्रमभङ्ग' दोष का किसी भी शास्त्रकार के अनुसार सही-सही अध्ययन कर लेना चाहिए। विश्वसाहित्य की इस महामहिम रचना की आलोचना इस तरह के अधकचरे ज्ञान से सम्भव नहीं है।

(२) **शयने**—"न तूद्यानविहारादौ। अनेन विजने वासमन्दिरे मद्द्वितीया हंसतूलिकातल्पगतेति सखीभिरपि अविदितस्य द्वाभ्यामेव ज्ञातत्वं द्योत्यते।"—'विद्युल्लता'।

(३) **कण्ठलग्ना**—"दृढतरभुजलताबन्धनेन मालतीमालिकेव कण्ठे सुश्लिष्टा। अनेन सुरतावसानसादनिःसहैरङ्गैः सन्दष्टत्वं सूच्यते।"—'विद्युल्लता'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) **सान्तर्हासम्**——'अन्तः हासः, अन्तर्हासः। सह तेन कथितं यथा स्यात् तथा। सान्तर्हासम्।' "प्रबोधानन्तरमेव प्रेमकाष्ठाप्रतिष्ठितनिजहृदयातिशङ्काऽनुगुणोन्मेषेण स्वप्नदर्शनेन स्वस्याः प्रतारितत्वमवगम्य समुल्लासितमन्दस्मितमिति कथनक्रियाविशेषणम्।"——'विद्युल्लता'।

विशेष——महाकवि ने यहाँ पर एक अभूतपूर्व अभिज्ञानदान की कल्पना की है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्त की नामाङ्कित अँगूठी, 'विक्रमोर्वशीयम्' में सङ्गममणि एवं 'मालविकाग्निमित्रम्' में सर्पाङ्कित मुद्रिका के अभिज्ञान की कल्पना कवि ने प्रस्तुत की। यहाँ पर सन्देहवाहक के अनुरूप अभिज्ञान की अपेक्षा थी। पति-पत्नी के बीच का यह एक ऐसा रहस्य है जिसका पता किसी भी अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता था। ऐसी कल्पना विश्ववाङ्मय में अपनी प्रतिमा नहीं जानती। यहाँ पर हेत्वलङ्कार और असम्भवालङ्कार का सङ्कर है।

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा
मा कौलीनादसित[1]नयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि [2]विरहे ह्रासिनस्ते ह्यभोगा-[3]
[4]दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥४७॥

पञ्चिका

हे कुवलयाक्षि, एतस्मादभिज्ञानदानान्मां स्वस्थमवेत्य कौलीनाल्लोकापवादमात्रात्, मयि त्वमविश्वासिनी निष्प्रत्यया मा भूः। तदेव कौलीनमाह। किमपि कुतोऽपि हेतोः स्नेहान् विरहे ह्रासिनो वियोगे तनूभवतो जना आहुः। यथा प्रीतिः प्रवासाश्रयादिति। एतच्चायुक्तम्। यस्मात् ते स्नेहा अभोगाद्धेतोः इष्टे वस्तुनि ईप्सितेऽर्थे उपचितरसाः सन्तः प्रेम्णो राशीभवन्ति प्रीतिमयाः सम्पद्यन्ते। हृदयवल्लभविषये वियोगवशात् सहस्रगुणः स्नेहः सम्पद्यत इत्यर्थः। त्वयि च मम या प्रीतिस्तां त्वमेव जानासि। कौलीनं लोकापवादः।

सुबोधा

अनन्यगम्याभिज्ञानान्मां कुशलिनमवधार्य जनापवादेन मयि अविश्वासं मा

---

१. "चकितनयने" इति पा०। २. "विरहव्यापदः" इति, "विरहध्वंसिनः" इति, "विरहह्रासिनः" इति, "विरहे भ्रंसिनः" इति, "विरहे भ्रंशिनः" इति, "विरहे ध्वंसिनः" इति च पाठान्तराणि। ३. "तेऽप्यभोगात्" इति, "ते त्वभोगात्" इति, "ते ह्यभोग्या" इति, "ते त्वभोग्या" इति च पाठान्तराणि। ४. "दृष्टे" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार्षीः इत्युपदिशन्नाह—एतस्मा। हे असितलोचने कृष्णलोचने, एतस्मादनन्तरोक्ताद् अभिज्ञानस्य प्रत्ययहेतोर्दानात् कथनाद्, मां कुशलिनं कल्याणवन्तं जीवन्तं विदित्वा ज्ञात्वा, त्वं कौलीनाज्जनापवादात्, मयि मद्विषये अविश्वासिनी अन्यासक्तबुद्ध्या मम प्रियो मद्विरहे जीवति न वा इति बुद्ध्या वा विश्वासरहिता, मा भूर्न भविष्यसि। विश्वासकारणं द्रढयन्नाह—स्नेहान् प्रेमाणि किमपि अनिर्वचनीयस्वरूपान् आहुर्वदन्ति लोका इत्यर्थात्, नान्यान् अनिर्वचनीयान् वदन्ति। कुत इत्याह—कीदृशान् स्नेहान्? विरहे विच्छेदेऽपि विगता आपद् विपत्तिर्येषां तादृशान्, सततं स्नेहपात्रस्य स्नेहानुस्मरणात्। हि यस्मात् तेस्नेहा अभोग्या विरहे क्रियया अभुज्यमाना, अतएव उपचितरसा उपबृंहितरसाः सन्तः, वस्तुनि पदार्थे स्नेहपात्रे, दृष्टे सति, प्रेमराशीभवन्ति स्नेहपुञ्जीभवन्ति, प्रेमपात्रस्य दर्शनेन तत्राधिक्यं व्रजन्तीत्यर्थः। अयं भावः, स्नेहः संयोगे कदाचित् स्फुटतां कदाचिद् अस्फुटतां प्राप्नोति। विरहे तु स्नेहः सततं मनस्यासक्तत्वाद् वर्तते, किन्तु स्नेहकार्यं न भवति। अतएव स्नेहपात्रस्य दर्शनेन महान् स्नेहः सम्पद्यते इति। स्नेहप्रेम्णोः पर्यायत्वेन राशीभवन्तीति सिद्धे प्रेमग्रहणं साक्षाच्छब्देन कीर्तनादुक्तिपोषालङ्कारसूचनार्थम्। स्नेहः प्रियत्वमात्रम्, अतिशयितः स्नेहः प्रेमेति च वदन्ति। कौलीन-शब्दो जनापवादे। "स्यात् कौलीनं लोकवादे" इत्यमरः। केचित्तु कौलीनात् कुलीनत्वात्, मयि अविश्वासिनी मा भूः, अहं कुलभवः सत्यवादी न पृथग्जनवत् मिथ्यावादो, ततो मयि विश्वासः करणीयः। "कुलीनत्वे च कौलीनं लोकाकीर्तौ च दृश्यते" इति कोष इत्याहुः। तारायाः कृष्णत्वाद् असितं नयनं यस्याः सा तथा, तत्सम्बोधनम्। असितं विस्तीर्णत्वाद् अबद्धं नयनं यस्या इति व्याचक्षते। तत्र षिञ् बन्धने-इत्यस्य क्ते सितम्। केचित्तु विरह एव व्यापद् विपत्तिर्येषां ते स्नेहा अभोग्याः सन्तः प्रेमराशीभवन्तीत्याहुः। ते त्वभोगादिष्टे इति पाठे अभोगाद् भोगाभावाद् असेवया, इष्टे समीहिते वस्तुनि। केचित्तु विरह एव व्यापद् यस्य तस्य जनस्य, ते स्नेहा इति व्याचक्षते। केचित्तु विरह एव व्यापद् विपत्तिर्येषां जनानां ते जना विरहिणः, स्नेहान् किमपि आहुर्वर्णयन्ति, ते च विरहिणः स्नेहाभिज्ञानात् प्रेमराशीभवन्ति मूर्ताः स्नेहपुञ्जा भवन्तीति व्याचक्षते। अत्र व्याख्यान्तरमहृद्यमित्युपेक्षितम्। एतत्पर्यन्तं तामेवं ब्रूया इत्यस्य सम्बन्धः। हेतुगर्भा स्वभावोक्तिरियम्॥

अन्वय

असितनयने! एतस्माद् अभिज्ञानदानाद् मां कुशलिनं विदित्वा कौलीनाद् मयि अविश्वासिनी मा भूः। (केऽपि) स्नेहान् विरहे किमपि ह्रासिनः आहुः, ते हि अभोगाद् इष्टे वस्तुनि उपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दीरूपान्तर

ऐ काली-काली आँखोंवाली! इस सहिदानी के दे देने से मुझे सकुशल समझ कर लोकापवादवश मेरे प्रति (तुम) अविश्वासिनी मत हो उठना। (कुछ-लोग) स्नेह को वियोगावस्था में थोड़ा-बहुत घट जानेवाला बताया करते हैं, लेकिन वह तो भोग के अभाव में प्रिय वस्तु के विषय में समृद्धरस होकर प्रेम की राशि बन जाता है।

टिप्पणियाँ

(१) **अभिज्ञानदानाद्**—'अभि + √ज्ञा अवबोधने (क्र्यादि०) + करणे ल्युट् =अभिज्ञानम्। तस्य दानम्; तस्मात्।' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि 'कालिदास ने शकुन्तला और विक्रमोर्वशीय में विशेषरूप से अभिज्ञान या पहचान चिह्न का उल्लेख किया है। यहाँ भी यक्ष अपनी प्रियतमा के पास मेघ द्वारा अभिज्ञान भेजता है। इन गूढ़ सङ्केतों के आधार पर विद्वानों ने कालिदास के दार्शनिक विचारों का सम्बन्ध कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन से निर्धारित किया है। परन्तु यह प्रमाण 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञादर्शन' से सम्बद्ध होने का क़तई नहीं माना जा सकता। विश्ववाङमय में सर्वत्र ऐसा साहित्य मिलता है जिसमें कि किसी न किसी अभिज्ञान का उपयोग किया गया है। परन्तु इसके आधार पर उन कृतियों के कर्त्ताओं का क्या कोई भी सम्बन्ध कश्मीर के शैवाद्वैत से जोड़ा जा सकता है? स्वयं शेक्सपियर ने भी अभिज्ञान-प्रयोग किये हैं। 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' अभिज्ञान पर नहीं बल्कि 'अपने स्वरूप को पहचानने' पर निर्भर है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में "प्रत्यभिज्ञा" का यह स्वरूप बताया गया है—"किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्याऽविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥" ऐसी प्रत्यभिज्ञा का जिसमें 'त्रिक' का अद्वैत प्रतिपादित किया जाता है उक्त अभिज्ञा से क्या सम्बन्ध खींचतान करके भी डा० अग्रवाल निकालते हैं पता नहीं।

(२) **कौलीनाद्**—इसकी व्युत्पत्ति मल्लिनाथ ने इस प्रकार दी है—"कुले जनसमूहे भवात् कौलीनाल्लोकप्रवादात्।" परन्तु भानुजी दीक्षित ने इसे इस तरह व्युत्पादित किया है—"कुलीनस्य कर्म भावो वा। युवाद्यण्।" वस्तुतः "कुलात् खः" (४।१।१३९) से पहले 'कुलीनः' बन जायगा। तब "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" (५।१।१३०) से 'कौलीनम्' निष्पन्न होगा। इनसे अण् पाणिनि के अनुसार प्राणभृज्जाति या वयोवचन के अर्थ में होगा। इस तरह कौलीन का अर्थ 'कुलीनता' है। अपवादार्थक की व्युत्पत्ति होगी—"कौ पृथिव्यां लीनं यस्मादिति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलुक्समासः। कुलीनस्य भावः कर्म वा।" कौलीन के कई अर्थ होते हैं—"कौलीनं गुह्य-जन्ययोः। कुकर्मणि कुलीनत्वे युद्धे पश्वहिपक्षिणाम्" (मेदिनी)।

(३) **असितनयने**—'असिते नयने यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ।' इससे भी 'श्यामा' के अर्थ की सिद्धि होती है। गौरी की 'नीली आँखें' या 'भूरी आँखें' नहीं अपितु भारतीय श्यामा की 'काली आँखें' ही महाकवि के यक्ष की कल्पना की प्राण हैं।

(४) **विरहे ह्रासिनः**—यहाँ पर कवि भर्तृहरि के 'नीतिशतक' की इस रचना की ओर इङ्गित कर रहा है:—

"दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाऽश्रयान्
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागात् प्रमादाद्धनम्॥"

एक अर्वाचीनतररचना का भी भाव तुलनार्थ देखिये:—

"सुताङ्गनाबन्धुषु सोदरेषु नृपेषु भृत्येषु च जातमोहः।
प्रवासमात्रेण हि नश्यतेऽखिलं चिरप्रवासेन हरत्यशेषम्॥"

विशेष—'प्रेम' स्नेह की परिपुष्टावस्था है। मल्लिनाथ ने 'रसाकर' उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि 'अभिलाष' से अधिक पुष्ट अवस्था 'राग' है और उससे भी विकसित है 'स्नेह' और उसका परिपोष है 'प्रेम':—

"प्रेक्षा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ता त्वभिलाषकः।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात् स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया॥
तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्।
शृङ्गारस्तसमं क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात्॥"

इत्थं सन्देशमुक्त्वा प्रार्थनामभ्युपगमयितुमाह—

कच्चित् सौम्य[1] व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्याख्यातुं[2] न खलु भवतो धीरतां[3] तर्कयामि[4]।

---

१. "सोम्य" इति पा०। २. "प्रत्यादेशाद्" इति, "प्रत्यादेष्टुम्" इति, "प्रत्याख्यानाद्" इति, "अप्रत्यादेशाद्" इति च पाठान्तराणि। ३. "अधीरताम्" इति पा०। ४. "कल्पयामि" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निःशब्दोऽपि[1] प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः[2]
प्रत्युक्तं हि[3] प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥४९॥

पञ्चिका

हे सौम्य प्रियदर्शन, एतन्मित्रकार्यं कच्चिद् भवता व्यवसितमङ्गीकृतं मम। अवश्यमत्र त्वया व्यवसायवता भाव्यम्। प्रत्याख्यातुमत्र तव धैर्यं न लक्षयामि। तथा हि त्वमर्थितः सन् अब्रुवन्नपि चातकेभ्यस्तोयं वितरसि। यस्मान्महतामर्थिष्वभिमतार्थसम्पादनमेव प्रतीपवचनम्। महान्तो हि कर्म्मणा ब्रुवन्ति न वचसा ॥१११॥

सुबोधा

मेघस्य प्रत्युत्तराभावेऽपि कार्यस्वीकारमुपदर्शयन्नाह कच्चित्। "कच्चित् कामप्रवेदने", हे सौम्य साधो, त्वया इदं मे मम, बन्धुकृत्यं मित्रकार्यम्, व्यवसितं कर्तव्यतयाऽङ्गीकृतमित्यर्थः। मया किञ्चिन्नोक्तं कथं व्यवसितमिति ज्ञातमित्याह। प्रत्यादेशाद् निःशब्दोऽपीति वक्ष्यमाणत्वेन प्रत्युत्तरस्य निराकरणाद् अकथनाद् भवतो धीरतां धैर्यम् अतारल्यं न खलु तर्कयामि उत्प्रेक्षे, अपि तु तर्कयाम्येव खलु निषेधे। द्वौ निषेधौ प्रकृतमर्थमवगमयत इति वृद्धाः। कथमप्रतिवचनेन ममानुमतिं तर्कयसीत्याशङ्क्य तवार्थिनि कृपां जानामीति प्रतिपादयन्नाह, निःशब्दोऽपि शब्दरहितोऽपि किञ्चिदवदन्नेव त्वं याचितः प्रार्थितः सन् चातकेभ्यः पक्षिभ्यो जलं प्रदिशसि ददासि। भवत एवं स्वभावः यदनुक्त्वापि परोपकारमाचरसि। अत्र चातके जलदानं दृष्टान्तः। अत्रार्थान्तरन्यासेन हेतुमाह—हि यस्मात्, प्रणयिषु प्रियेषु, ईप्सितार्थक्रियैव अभीष्टसम्पादनमेव, सतां साधूनां प्रत्युक्तं न खलु नैव तर्कयामि, उभयत्र नञ्प्रश्लेषः। ननु यथा प्रत्यादेशाभावाद् अङ्गीकारोऽनुमीयते तथा किम् अनुमत्यभावात् अनङ्गीकारोऽपीत्याह, निःशब्दोऽपीत्यादीत्याहुः। अप्रत्यादेशाद् धीरम् शिथिलताम् अधीरताम् अपाण्डित्यं वा न खलु तर्कयामीति च केचित्। प्रत्यादेशादित्यत्र प्रत्याख्यानादिति क्वचित् पाठः, अर्थः स एव।

अन्वय

सौम्य ! इदं मे बन्धुकृत्यं त्वया व्यवसितं कच्चित्? खलु प्रत्याख्यातुं भवतः

---

१. "निःशब्दो हि" इति पा०। २. "याचितम्" इति "यद्भवान्" इति च पाठान्तरे ३. "प्रत्युक्तं तु" इति पा०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धीरतां न तर्कयामि। याचितः निःशब्दोऽपि चातकेभ्यः जलं प्रदिशसि। सतां हि प्रणयिषु ईप्सितार्थक्रिया एव प्रत्युक्तम् (भवति)।

हिन्दीरूपान्तर

प्रियदर्शन ! तुमने मेंरी बन्धुसेवा करने की ठान ली क्या ? निश्चय ही जवाब दे देने के लिये तुम्हारी हिम्मत को मैं सोच भी नहीं पाता। प्रार्थना किये जाने पर बिना कुछ कहे ही चातकों को जल प्रदान कर दिया करते हो क्योंकि (अपने) प्रार्थियों के प्रति सज्जनों का उत्तर अभीष्ट कार्य को कर डालना ही हुआ करता है।

टिप्पणियाँ

(१) **व्यवसितम्**—वि+अव+√षो अन्तकर्मणि (दिवादि०)+क्त=व्यवसितम्। 'व्यवसाय' शब्द निश्चयार्थक है ; और व्यवसित का यहाँ पर अर्थ 'निश्चित' है। पूर्णसरस्वती ने इसका यह प्रसङ्गापेक्षी अर्थ किया है—"व्यवसितम् अवश्य-कर्त्तव्यत्वेन अङ्गीकृतम्।"

(२) **कच्चित्**—मल्लिनाथ का कहना है कि अभिप्रायज्ञापन के अर्थ में इस पद का प्रयोग किया गया है:—'कच्चित् कामप्रवेदने'-इत्यमरः। "अभिप्राय-ज्ञापनं कामप्रवेदनम्।।" परन्तु यहाँ पर कामप्रवेदन या इष्टप्रश्न के अर्थ में 'कच्चित्' नहीं आया है। क्योंकि कोई अभिप्राय तो ज्ञापित किया नहीं गया। पूर्णसरस्वती ने किसी कोश का उद्धरण दिया है—

"कच्चित् प्रश्ने सानुनये" और लिखा है—"अथैवं सन्देशप्रकारं परिसमाप्य तच्छ्रवणकृतावधानस्य दौत्यावलम्बिनोऽम्बुवाहस्य तूष्णीम्भवतोऽपि स्वकार्य-करणेऽनुमतिं परिकल्प्य सानुनयप्रश्नरूपेण तं व्यवसाययन् लोकोत्तरस्वभावप्रकाश-नेन तमुपश्लोकयति।"

(३) **बन्धुकृत्यम्**—'बन्धोः कृत्यम्, बन्धुकृत्यम्।' 'बध्नाति। '√बन्ध बन्धने' (क्र्यादि०) इति धातोः "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनि-भ्यश्च" इत्युः।' रिश्ते में बाँधनेवाले को बन्धु कहते हैं। 'अनेकार्थसङ्ग्रह' के अनुसार भाई और मित्र दोनों को 'बन्धु' कहते हैं—"बन्धुर्भ्रातृबान्धवयोः।" यहाँ पर कवि ने यक्ष और मेघ को भ्रातृसम्बन्ध में पहले से ही बाँध रखा है। 'पूर्व-मेघ' में—"अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्" और 'उत्तरमेघ' में ही—"प्रत्यक्षन्ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्।" व्याकरण की दृष्टि से "मे बन्धु-कृत्यम्" एक समस्या प्रस्तुत करता है। इस समस्या का समाधान मल्लिनाथ ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार दिया है—"देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत् प्रयोगः।" पूर्णसरस्वती ने विपत्ति में शरण बनने वाले को बन्धु मान कर मल्लिनाथ की सारी झंझट दूर कर दी है। उनका स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है—"बन्धुकृत्यं सुहृद्भिरनुष्ठातुं योग्यम् आपदि शरणत्वेन तिष्ठत एव बन्धुत्वात्।" बन्धु के द्वारा करने योग्य कार्य कोई बन्धु ही कर सकेगा। अतः विपत्ति में सहारा बनने का बन्धुकृत्य करने की तुमने ठान ली न? इस तरह यह एक साधुप्रयोग भी है और असमर्थसमास की बात भी नहीं उठती।

(४) **प्रत्याख्यातुम्**—प्रत्याख्यान, प्रत्यादेश आदि समानार्थक हैं—"प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः"—अमरकोश। पाठान्तर है—"प्रत्यादेशात्"। परन्तु तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'जवाब दे देना' 'इनकार कर देना' आदि के अर्थ में ये प्रयोग में आते हैं। यहाँ पर 'प्रति + आ' उपसर्गपूर्वक '√ख्या' ('√चक्षिङ्' की जगह आदेश रूप से आनेवाली) धातु का तुमुन्नन्त रूप है। "जवाब दे देने के लिये" तुम्हारी 'धीरता' अर्थात् धैर्यशीलता की सम्भावना मैं नहीं कर सकता। आशय यह कि मेरी इस विपत्ति को सुनकर तुम इतने निष्ठुर कदापि न हो पाओगे कि सीधा जवाब दे निकलो। इतनी हिम्मत तुम्हारी न हो सकेगी। पूर्णसरस्वती ने इसी से लिखा है—"धीरतां निर्दयताम्।" वल्लभदेव ने लिखा है—"प्रत्याख्यातुमत्र तव धैर्यं न लक्षयामि।"

(४) **निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलम्**—संस्कृत में एक लोकोक्ति है—"वर्षति-वर्षासु निःस्वनो मेघः।" 'गरजनेवाले बादल नहीं बरसते और बरसनेवाले गरजते नहीं'—यह हिन्दी की भी लोकोक्ति है। मल्लिनाथ ने एक उक्ति समर्थनार्थ प्रस्तुत की है:—

"गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव॥"

यहाँ भी कालिदास ने सम्भवतः भर्तृहरि के ही भाव की ओर इङ्गित किया है:—

"पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः॥"

उक्त लोकोक्ति एवं भर्तृहरि के 'नीतिशतक' के उक्त श्लोक की ओर कवि ने सुस्पष्ट इङ्गित ही नहीं किया है अपितु उसका भावग्रहण भी किया है। क्रियापद है 'प्रदिशसि'; प्रशस्त दान करने का भाव है। कालिदास ने भर्तृहरि के तृतीय-चतुर्थ चरणों से प्रेरणा लेकर उसे असीम रमणीयता से ओतप्रोत कर दिया। "सन्तः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वयं परहिते विहिताभियोगाः" के सादे ढाँचे को "प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव" में उपचारवक्रताओं ने प्राणपरिस्पन्द प्रदान करके उक्तिमात्र से निसर्गसुन्दर कविता की मधुमती भूमिका पर ले जाकर प्रतिष्ठित करा दिया है। यहाँ उतनी बड़ी याचना यक्ष स्वयं करता चला आया इसलिये 'चातक' और 'याचित' जैसे पदों को सन्निवेशित कर के प्रकरणौचित्य भी प्रदान कर दिया गया है। 'निःशब्दोऽपि' में 'निःशब्दः' का समासविग्रह "निरस्तः शब्दः येन स निःशब्दः (प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः)" इसे और भी रमणीय बना देता है।

(५) **चातकेभ्यः**--"चतति। '√चते याचने' (भ्वादि०) धातोर्ण्वुल्"। माँगने वाले को ही चातक कहते हैं। 'पीकहाँ' 'पीकहाँ' कह-कह कर स्वाती के जलबिन्दु माँगनेवाले पंछी को कवि ने किस सुन्दर ढंग से ला रखा है। यक्ष भी तो अपनी ही टेर लगाये है। यक्ष और चातक दोनों को अपने अभीष्ट से भिन्न तत्सजातीय पदार्थान्तर बिल्कुल नहीं चाहिए; अपनी ही चीज़ के पीछे दोनों पागल हो उठे हैं।

(६) **प्रणयिषु**--"प्रणयोऽस्ति-अस्येति प्रणयी (इनियोगात्)। प्राशस्त्ये वा स्यादिनिः।" और प्रणय का यहाँ पर अर्थ 'याञ्चा' लिया गया है--"प्रणयास्त्वमी विश्रम्भयाञ्चाप्रेमाणः" (अमरकोश)। 'प्रशस्त याचना करने वाले' के अर्थ में ही कवि ने इस पद का भी प्रयोग किया है।

अलङ्कार—यहाँ पर विशेष को सामान्य से समर्थित करके अर्थान्तरन्यास की विच्छित्ति प्रस्तुत की गयी है।

स एवमुक्त्वाऽशिषमाह—

एतत् कृत्वा प्रियमनुचित[1] प्रार्थनावर्त्मनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान् देशान् विचर जलद[2] प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्मा भूदेवं[3] क्षणमपि च[4] ते विद्युता विप्रयोगः ॥४९॥

---

१. "प्रियमनुचितं प्रार्थनादात्मनो" इति, "प्रियसमुचितं प्रार्थनं चेतसो" इति "प्रियसमुचितं प्रार्थनाचेतसो" इति "प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो" इति च पाठान्तराणि। २. "जलद विचर" इति पा०। ३. "मा भूदेव" इति पा०। ४. "क्षणमपि सखे" इति, "क्वचिदपि न ते" इति च पाठान्तरे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चिका

हे जलधर अनुचितप्रार्थनावर्त्मनोऽनुनयरूपयाच्ञामार्गस्य ममैतत् सन्देश-हरणलक्षणं प्रियं विधाय ततस्त्वं वर्षाकालेऽर्जितदेहोन्नतिरभिमतं स्थानं विचर भ्रम। कुतो विधाय? स्नेहेन प्रीत्या। स्नेहाभावश्चेत् तद्विधुरो दुःखितोऽयमिति मयि कृपाधिया वा। किं बहुना। एवमनेन प्रकारेण मद्वत् तवापि निमेषमपि तडित्प्रियया विरहो मा भूदिति भद्रम्॥११२॥

इति राजानकानन्ददेवात्मजपरमात्मचिह्ना-
परनामवल्लभदेवविरचिता
मेघदूतविवृतिः
समाप्ता॥

—०—

सुबोधा

कार्यसम्पादनमाशिषा काव्योपसंहारञ्चाह—एतत्। हे जलद, प्रार्थनायां याच्ञायां चेतो मनो यस्य तादृशस्य, मे मम सौहार्दात् स्नेहाद् वा, विधुरो व्याकुलो-ऽयमिति मयि अनुक्रोशबुद्ध्या वा अनुग्रहबुद्ध्या वा। एतन्मया प्रार्थितं प्रियसमुचितं प्रणयियोग्यं कृत्वा त्वं प्रावृषा वर्षाकालेन सम्भृतश्रीः प्रवृद्धलक्ष्मीकः सन् इष्टान् अभीप्सितान्, देशान् विचर यथेष्टं चरिष्यसि। वनिताविरहव्यतिकरमनुभवन् मेघस्यापि वनिताविरहमाशंसन्नाह, विद्युता तडिता सह ते तव क्षणमपि च विप्रयोगो विच्छेदो मा भूदेव नैव भविष्यति। मा भूदेवम् इति पाठे एवं मद्विरहवदित्यर्थः। एवमुक्तप्रकारेण एतन्मम प्रियसमुचितमिति योजयन्त्यन्ये। विधुरे इति सप्तम्यन्तं मयीत्यस्य विशेषणम्। इत्युक्तप्रकारम् एतत् प्रियसमुचितमिति योजयन्त्यन्ये। विद्युतो मेघवनितात्वेन वर्णनं कविसम्प्रदायसिद्धम्। ग्रन्थसमाप्तौ महाकविभि-र्मङ्गलार्थं श्रीशब्दो दीयते इति श्रीशब्दोपन्यासः।

इति हरिहरखानख्यातवंशारविन्दद्युमणिविमलकीर्तिव्रातगौराङ्गजातः।
प्रियगुणिगणभूरिश्रेष्ठभूपालशिष्टैरकृत भरतसेनो मेघदूतस्य टीकाम्॥

इति वैद्य-मालञ्चीय-विनायकसेनसन्तानसम्भूत-
हरिहरखानप्रपौत्रगौराङ्गमल्लिकात्मज—
श्रीभरतसेनकृता सुबोधा नाम
मेघदूतटीका समाप्ता॥

—०—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्वय

जलद ! सौहार्दाद् वा विधुरः इति वा मयि अनुक्रोशबुद्धया (वा) अनुचित-प्रार्थना वर्त्मनः मे एतत् प्रियं कृत्वा प्रावृषा सम्भृतश्रीः (सन्) इष्टान् देशान् विचर। क्षणम् अपि च ते विद्युता एवं विप्रयोगः मा भूत्।

हिन्दीरूपान्तर

ऐ वारिद् ! सौहार्दवश या विरही समझकर मेरे ऊपर अनुग्रह करने के विचार से सही, (इस) बेहूदी याचना के मार्ग पर अड़े हुए मेरा यह अभीष्ट सम्पादन करके वर्षा से समृद्ध शोभावाले तुम मनचाहे देशों में विचरण करो और बिजुली (रूपी प्रियतमा) से तुम्हारा क्षण भर को भी (कभी) ऐसा वियोग न हो।

टिप्पणियाँ

(१) **अनुचितप्रार्थनावर्त्मनः**—यह पाठ प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव और दूसरे प्राचीन टीकाकार चरित्रवर्धन के द्वारा दिया गया है। दक्षिणावर्तनाथ और पूर्णसरस्वती ने भी यही पाठ दिया है। मल्लिनाथ ने 'अनुचितप्रार्थनावर्तिनः' और भरतसेन ने 'अनुचितप्रार्थनाचेतसः' पाठ दिये हैं; ये दोनों ही पाठ उपेक्षणीय हैं। इसका समास-विग्रह—'अनुचिता च सा प्रार्थना च, अनुचितप्रार्थना। अविद्यमानम् उचितं यत्र, सा अनुचिता। "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः"—इति वार्त्तिकात् समासः। प्रकृष्टा च सा अर्थना च, प्रार्थना।' "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया"—इति समासः। अनुचितप्रार्थनैव वर्त्म यस्य, तस्य अनुचितप्रार्थना-वर्त्मनः।' अनुचित प्रार्थना का ही रास्ता जिसके लिये रह गया हो उस लाचार आदमी के लिये 'अनुचितप्रार्थनावर्त्मा' पद कवि ने रखा है। प्रार्थनागत अनौचित्य कवि ने किस दृष्टि से देखा है इसे टीकाकारों ने तरह-तरह से स्पष्ट किया है। मल्लिनाथ ने तो 'अननुरूपा' कह कर छुट्टी ले ली है। पूर्णसरस्वती ने इसका भाव इस प्रकार विशद किया है—शास्त्रीय नियम है कि प्रकृष्ट लोगों को दूत नहीं बनाया जाता अपितु मध्यमकोटि के व्यक्ति प्रेष्य होते हैं। सुरपति का धनुष् धारण करने-वाले मेघ इन्द्र के सचिव होने के योग्य हुआ करते हैं। उनके लिये यह अनुगुण कार्य नहीं माना जा सकता। तो यह दोष भी नियोक्ता का ही माना जायगा न कि नियोज्य का। इसीलिये अनुचित प्रार्थना का मार्ग ग्रहण करनेवाला यक्ष को बताया गया है न कि मेघ को। उसके लिये तो बन्धुकृत्य में लगना भूषण ही है। उद्धरण है—"अनुचितप्रार्थनावर्त्मनः—'न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः' इति न्या-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यात् सुरपतिसाचिव्यभव्यस्य भवतो लघीयसि दूतकर्मणि यो नियोगः तद्रूपे अनुचिते वस्तुनि याच्ञाप्रकारो यस्य। ममैव नियोक्तुस्तदनुचितम्, नियोज्यस्य भवतः प्रत्युत भूषणमेव तत्।"

(२) **सौहार्दाद्**—'सुहृदो भावः सौहार्दम्, तस्मात्।' "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" (५-४-१५०) सूत्र से निपातित 'सुहृद्' शब्द से 'अण्'-प्रत्यय लगने पर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" (७-३-१९) सूत्र से उभय-पद-वृद्धि होने पर 'सौहार्द' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार सौहार्द का अर्थ यहाँ पर 'मित्रता' है। हेतु में पञ्चमी होने के नाते 'सौहार्दात्' का अर्थ हुआ 'मित्रता के नाते'। 'बन्धुकृत्य' इसे पहले ही कहा जा चुका है। बन्धुकृत्य सर्वदा मित्रतावश ही किया जायगा। अतः मित्रकार्य में उचितानुचित-चिन्ता तो की ही नहीं जाती। भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर का दौत्य, अर्जुन का सारथ्य, द्रौपदी का सख्य आदि क्या-क्या नहीं निभाया। कवि कहता है—

"सारथ्यपारिषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामैः।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतस्य विष्णोर्भक्तिं चकार नृपतिश्चरणारविन्दे॥"

(३) **मय्यनुक्रोशबुद्ध्या**—'विधुर होने के नाते मेरे ऊपर कृपा करने के विचार से।' 'विधुर इति' में 'इति' हेतु को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त है—"इति स्वरूपे सान्निध्ये विवक्षानियमेऽपि च। हेतौ प्रकारप्रत्यक्षप्रकाशेष्ववधारणे॥"—अनेकार्थसंग्रह। 'विधुर' का यहाँ पर 'विकल' अर्थ अधिक चमत्कारकारी है वैसे 'विश्लिष्ट' अर्थ प्रायः लिया गया है। हैमकोश का कथन है—"विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे विकले।" वैसे कुछ टीकाकारों ने 'विधुर' को 'मयि' का विशेषण बनाकर सप्तम्यन्त माना है। पर उस अवस्था में 'इति' पद निरर्थक हो जाता है। 'अनुक्रोश' शब्द का कोश है—"कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः" (अमर)। अतः यहाँ पर पूरे पद का अर्थ हुआ अनुकम्पा के विचार से। तृतीया 'हेतु' के अर्थ में हुई है। अतः यह 'सौहार्द' के अतिरिक्त दूसरा हेतु है। इसकी ध्वनि का विचार पूर्णसरस्वती ने अच्छा किया है—"ईदृशदशाविशिष्टत्वेन पुरोवर्तिनि मयि कारुण्यबुद्ध्या वा। सौहार्दमन्तरेणापि तत्कालदृष्टेऽपि क्लिष्टे जने सतां जीमूतवाहनादीनामिव दयामयत्वेन परित्राणप्रवृत्त्यौचित्यादिति भावः। सौहार्दाद् वा अनुक्रोशबुद्ध्या वेति विकल्पेन द्वयोरेकस्यापि प्रवर्तकत्वम्। किं पुनरेकत्र समुदितयोर्द्वयोरपीति ध्वन्यते।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) **विचर**—विविध ढंग से भ्रमण करने के अर्थ में इसे रखा गया है। इसके कर्म के रूप में 'इष्टान् देशान्' रखे गये हैं। मल्लिनाथ का कथन है कि देश-काल कर्मसञ्ज्ञक माने जाते हैं—"देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणाम्।"

(५) **सम्भृतश्रीः**—'सम्भृता श्रीर्यत्र स सम्भृतश्रीः।' कवि ने इसमें 'श्री' पद को लाकर अन्त्य मंगल कर दिया है। भरतसेन ने इसकी ओर इङ्गित किया है। ग्रन्थ के आदि में महाकवि ने "जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' में भगवती सीता और आगे "पुण्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु" मे भगवान् राम का नाम लेकर मङ्गलसम्पादन किया है। मध्य में "स्रस्तगङ्गादुकूलाम्" में गङ्गा और आगे "सेन्द्रचापम्" में इन्द्र का नाम लेकर मङ्गलाचरण किया है। यहाँ पर आशीः भी कवि ने प्रस्तुत कर दी है—"मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।" मल्लिनाथ उद्धृत करते हैं—"अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात् कुर्यादाशिषमुत्तमाम्।" सर्वत्र व्याप्यते विद्वान् नायकेच्छानुरूपिणीम्॥"

अलङ्कार—यहाँ पर शृङ्गारारंभ के अङ्ग के रूप में मित्रविषयकरतिभावध्वनि आने से प्रेयोऽलङ्कार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट १

[मल्लिनाथ के द्वारा व्याख्यात पद्यान्तर]

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥१॥

सञ्जीवनी

यत्रेति। यत्रालकायां पादपा वृक्षाः। नित्यानि पुष्पाणि येषां ते तथा। न त्वृतुनियमादिति भावः। अत एवोन्मत्तैर्भ्रमरैर्मुखराः शब्दायमानाः। नलिन्यः पद्मिन्यो नित्यानि पद्मानि यासां तास्तथा न तु हेमवन्तर्वजितमित्यर्थः। अत एव हंसश्रेणीभी रचितरशनाः। नित्यं हंसपरिवेष्टिता इत्यर्थः। भवनशिखिनः क्रीडामयूरा नित्यं भास्वन्तः कलापा बर्हाणि येषां ते तथोक्ताः। न तु वर्षास्वेव। अत एव केकाभिरुत्कण्ठा उद्ग्रीवाः। प्रदोषा रात्रयो नित्या ज्योत्स्ना येषां ते। न तु शुक्लपक्ष एव अतएव प्रतिहता तमसां वृत्तिर्व्याप्तिर्येषां ते च ते रम्याश्चेति तथोक्ताः।

अन्वय

यत्र (अलकायाम्) पादपाः नित्यपुष्पाः (अतः) उन्मत्तभ्रमरमुखराः, नलिन्यः नित्यपद्माः (अतः) हंसश्रेणीरचितरशनाः, भवनशिखिनः नित्यभास्वत्कलापाः (अतः) केकोत्कण्ठाः, प्रदोषाः नित्यज्योत्स्नाः (अतः) प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः (च)।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में (सारे) वृक्ष सदा फूलों वाले होने के नाते मतवाले भँवरों से शब्दायमान रहते हैं; कमलिनियाँ सदा कमलोंवाली होने के नाते हंसों की पाँतों से बनी हुई करधनी से युक्त रहती हैं; घरेलू मोर सदा चमकते हुए पंखोवाले होने के नाते बोलते समय ऊपर को गर्दन उठाये रहते हैं; और रातें सदा चाँदनीवाली होने के नाते अँधेरे की सत्ता के विनष्ट हो जाने से सुहावनी हुआ करती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणी

इस रचना में हेतु और हेतुमान् की साथ प्रतीति होने से हेत्वलङ्कारध्वनि है। साथ ही अनेक प्रस्तुतों का नित्यत्व रूप एक धर्म से अभिसम्बन्ध होने के नाते तुल्ययोगितालङ्कार है।

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानाञ्च न खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥२॥

सञ्जीवनी

आनन्देति। यत्रालकायां वित्तेशानां यक्षाणाम्। 'वित्ताधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः' इति शब्दार्णवे। आनन्दोत्थमानन्दजन्यमेव नयनसलिलम्। अन्यैर्निमित्तैः शोकादिभिर्न। इष्टसंयोगेन प्रियजनसमागमेन साध्यान्निवर्त्तनीयात्। न त्वप्रतीकार्य्यादित्यर्थः। कुसुमशरजान्मदनशरजादन्यस्तापो नास्ति। प्रणयकलहादन्यस्मात् कारणाद् विप्रयोगोपपत्तिर्विरहप्राप्तिरपि नास्ति। किञ्च यौवनादन्यद्वयो वार्धकं नास्ति।

अन्वय

यत्र (अलकायां) वित्तेशानाम् आनन्दोत्थम् (एव) नयनसलिलम् अन्यैः निमित्तैः न; इष्टसंयोगसाध्यात् कुसुमशरजाद् अन्यः तापः न; प्रणयकलहाद् अन्यस्माद् विप्रयोगोपपत्तिः अपि न; यौवनाद् च अन्यद् वयः न अस्ति।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में धनाधिप (यक्षों) की आँखों का पानी आनन्दवश ही उमड़ा करता है और किसी कारण से नहीं; प्रिय-मिलन से निवर्तित होने योग्य कामजन्य (सन्ताप) के अलावा दूसरा सन्ताप नहीं है; प्रेम-कलह के अलावा दूसरे कारण से विरह की प्राप्ति भी नहीं होती; और यौवन के अतिरिक्त और अवस्था भी नहीं है।

टिप्पणी

यहाँ परिसंख्या अलङ्कार है। इसकी तुलना 'कुमारसम्भव' (६.४४) से की जा सकती है:—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात्।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा सञ्ज्ञाविपर्ययः॥"

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भिः
मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
सङ्क्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥३॥

सञ्जीवनी

मन्दाकिन्या इति। यत्रालकायाममरैः प्रार्थिताः। सुन्दर्य इत्यर्थः। कन्या यक्षकुमार्यः। 'कन्या कुमारिकानार्य्योः' इति विश्वः। मन्दाकिन्याः गङ्गायाः सलिलेन शिशिरैः शीतलैर्मरुद्भिः सेव्यमानाः सत्यः। तथाऽनुतटं तटेषु रोहन्तीत्यनुतटरुहः। क्विप्। तेषां मन्दाराणां छाययाऽनातपेन वारितोष्णाः शमिताऽतपाः सत्यः कनकस्य सिकतासु मुष्टिभिर्निक्षेपेण गूढैः संवृत्तैरत एवान्वेष्टव्यैः मृग्यैः मणिभिः रत्नैः सङ्क्रीडन्ते। गुप्तमणिसञ्ज्ञया दैशिकक्रीडया सम्यक् क्रीडन्तीत्यर्थः 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' इत्यात्मनेपदम्। "रत्नादिभिर्वालुकादौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः। कुमारीभिः कृता क्रीडा नाम्ना गुप्तमणिः स्मृता। रासक्रीडा गूढमणिर्गुप्तकेलिस्तुलायनम्। पिच्छकन्दुकदण्डाद्यैः स्मृता दैशिककेलयः।" इति शब्दार्णवे।

अन्वय

यत्र (अलकायाम्) अमरप्रार्थिताः कन्याः मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः मरुद्भिः सेव्यमानाः अनुतटरुहां मन्दाराणां छायया वारितोष्णाः (सत्यः) कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः (अतः) अन्वेष्टव्यैः मणिभिः सङ्क्रीडन्ते।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में मन्दाकिनी के जल से ठंडी हवाओं के द्वारा सेवित देवयाचिता कन्याएँ तट पर उगनेवाले मन्दारों की छाँह से हटायी गयी धूपवाली होकर सुनहली बालू की मुट्ठी में रख कर छुपा दी गयी हुयी (और इसी से) खोजी जाने योग्य मणियों से खेला करती हैं।

टिप्पणी

यहाँ अद्भुत और अतथ्य कन्याजाति एवं सौन्दर्य का वर्णन होने के कारण 'अत्युक्ति' अलङ्कार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्द्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धाऽऽलापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥४॥

सञ्जीवनी

अक्षय्येति। यत्रालकायाम्। क्षेतुं शक्याः क्षय्याः। 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः। ततो नञ्समासः। भवनानामन्तरन्तर्भवनम्। 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽव्ययीभावः। अक्षय्या अन्तर्भवने निधयो येषां ते तथोक्ताः। यथेच्छाभोगसम्भावनार्थमिदं विशेषणम्। विबुधवनिता अप्सरसस्ता एव वारमुख्या वेश्यास्ता एव सहाया येषां ते तथोक्ताः। 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपजीवऽथ सा जनैः। सत्कृता वारमुख्या स्याद्' इत्यमरः। बद्धलापाः सम्भावितसंलापाः कामिनः कामुकाः। प्रत्यहमहन्यहनि। 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना समासः। रक्तो मधुरः कण्ठः कण्ठध्वनिर्येषां ते तैः सुन्दरकण्ठध्वनिभिर्धनपतियशः कुबेरकीर्तिम् उद्गायद्भिरुच्चैर्गायनशीलैः। देवगानस्य गान्धारग्रामत्वात्तारतरं गायद्भिरित्यर्थः। किन्नरैः सार्द्धं सह। विभ्राजस्येदं वैभ्राजम्। वैभ्राजमित्याख्या यस्य तद्वैभ्राजाख्यम्। 'विभ्राजेन गणेन्द्रेण त्रातं वैभ्राजमाख्यया' इति शम्भुरहस्ये। चैत्ररथस्य नामान्तरमेतत्। बहिरुपवनं बाह्योद्यानं निर्विशन्त्यनुभवन्ति।

अन्वय

यत्र (अलकायाम्) अक्षय्यान्तर्भवननिधयः विबुधवनितावारमुख्यासहायाः बद्धालापाः कामिनः प्रत्यहं रक्तकण्ठैः धनपतियशः उद्गायद्भिः किन्नरैः सार्धं वैभ्राजाऽख्यं बहिरुपवनं निर्विशन्ति।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में घर के अन्दर कभी भी समाप्त न हो सकनेवाली निधियों को रखनेवाले, अप्सरा-रूपी वेश्याओं को साथिन बनानेवाले और (तरह-तरह की) बातें करनेवाले कामीजन कुबेर की कीर्ति का ज़ोर से गान करनेवाले मधुर-कण्ठवाले किन्नरों के साथ 'वैभ्राज' नामवाले बाहरी उपवन का सुख लूटते हैं।

टिप्पणी

यहाँ 'उदात्त' अलङ्कार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमाऽदेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यञ्च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥५॥

सञ्जीवनी

वास इति। यस्यामलकायां चित्रं नानावर्णं वासो वसनम्। परिधेयमण्डनमेतत्। नयनयोर्विभ्रमाणामादेश उपदेशे दक्षम्। अनेन विभ्रमद्वारा मधुनो मण्डनत्वमनुसन्धेयम्। तच्च मण्डनादिवद्देहधार्येऽन्तर्भाव्यम्। मधु मद्यम्। किसलयैः पल्लवैः सह पुष्पोद्भेदम्। उभयञ्चेत्यर्थः। इदन्तु कचधार्यम्। भूषणानां विकल्पान् विशेषान्। देहधार्यमेतत्। तथा चरणकमलयोर्न्यासस्य समर्पणस्य योग्यम्। रज्यतेऽनेनेति रागो रञ्जकद्रव्यम्। लाक्षैव रागस्तं लाक्षारागञ्च। चकारोऽङ्गरागादिविलेपनमण्डनोपलक्षणार्थः। सकलं सर्व्वम्। चतुर्विधमपीत्यर्थः। अबलामण्डनं योषित्प्रसाधनजातमेकः कल्पवृक्ष एव सूते जनयति। न तु नानासाधनसम्पादनप्रयास इत्यर्थः।

अन्वय

यस्याम् (अलकायाम्) एकः कल्पवृक्षः चित्रं वासः, नयनयोः विभ्रमादेशदक्षं मधु, किसलयैः सह पुष्पोद्भेदम्, भूषणानां विकल्पान्, चरणकमलन्यासयोग्यं लाक्षारागं च सकलम् अबलामण्डनं सूते।

हिन्दीरूपान्तर

जिस (अलका) में अकेला कल्पवृक्ष ही रंगबिरंगे कपड़े, आँखों को विभ्रम सिखाने में निपुण मदिरा, पल्लवों के साथ फूलों का विकास, गहनों के भेद और चरणकमलों में लगाने के योग्य लाक्षा का आलता—सारे-के-सारे स्त्रियों के सिंगार के साधन—पैदा किया करता है।

टिप्पणी

यहाँ बिना यत्न के ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का वर्णन किये जाने के कारण 'प्रहर्षण' अलङ्कार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥६॥

सञ्जीवनी

आश्वास्येति। प्रथमविरहेणोदग्रशोकां तीव्रदुःखां ते सखीमेवं पूर्वोक्तरीत्या आश्वास्योपजीव्य त्रिनयनस्य त्र्यम्बकस्य वृषेण वृषभेण उत्खाता अवदारिताः कूटाः शिखराणि यस्य तस्मात्। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। शैलात् कैलाशादाशु निवृत्तः सन् प्रत्यावृत्तः सन् साभिज्ञानं सलक्षणं यथा तथा प्रहितं प्रेषितं कुशलं येषु तैस्तस्यास्त्वत्सख्या वचोभिर्ममापि प्रातः कुन्दप्रसवमिव शिथिलं दुर्बलं जीवितं धारयेथाः स्थापय। प्रार्थनायां लिङ्।

अन्वय

प्रथमविरहोदग्रशोकां ते सखीम् एवम् आश्वास्य त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् शैलाद् आशु निवृत्तः (सन्) साभिज्ञानप्रहितकुशलैः तद्वचोभिः प्रातःकुन्दप्रसव-शिथिलं मम अपि जीवितं धारयेथाः।

हिन्दीरूपान्तर

पहले वियोग से अत्यधिक कष्टापित अपनी सखी को इस तरह दिलासा देकर नन्दी के द्वारा खोद दिये गये हुए शिखरवाले कैलाशपर्वत से शीघ्र लौटकर सहिदानी के साथ भेजेहुए कुशल समाचारवाली उसकी बातों से मेरी भी सवेरे के कुन्द के फूल की तरह (मुरझाकर) झड़ जानेवाली ज़िन्दगी को संभाल देना।

टिप्पणी

यहाँ पर वृषजाति को प्रस्तुत करने के कारण 'स्वभावोक्ति' तथा कुन्द के फूल के तुल्य जीवन को प्रस्तुत करने के कारण 'उपमा' —इन दो अलङ्कारों की तिल-तण्डुलन्याय से 'संसृष्टि' है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट २

[ग्रन्थ के अन्त में ये पाँच मन्दाक्रान्तायें और भी प्रक्षिप्त प्राप्त होती हैं। इन पर किसी भी टीकाकार की न तो व्याख्या मिलती है, न इन्हें कालिदासकृत किसी ने भी कभी भी मानने का प्रयास ही किया है।]

इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु
स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप।
मत्वाऽगारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तै—
—स्तस्योत्सङ्गे क्षितितलगतां ताञ्च दीनां ददर्श॥१॥

यस्मादद्रेर्निगदितमथो (पयः) शीघ्रमेत्यालकायां
यक्षाऽगारं विगलितनिभं दृष्टचिन्हैर्विदित्वा।
यत्सन्दिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात्
तद्गेहिन्याः सकलमवदत् कामरूपी पयोदः॥२॥

तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽऽचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः साऽपि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु॥३॥

श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत्॥४॥

इत्थम्भूतं सुरचितपदं मेघदूताभिधानं
क्लामक्रीडाविरहितजने विप्रयोगे विनोदः।
मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणताबुद्धिभावः कवीनां
नत्वाऽऽर्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार॥५॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
विभाग
पुस्तक क्रम संख्या
State Museum Library Lucknow

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

State Museum, Library, Lko.
36577

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh